

विक्रेता—

श्रीअखिलबन्धु भट्टाचार्य

संस्कृत पुस्तकालय

५८ नं कर्णबीयालिस् स्ट्रीट, कलिकाता ।

## कविजीवनौ

( प्रबन्धकल्पलतिकाद्वितीयभागः )

अज्ञातकवीनामनतिविस्तृतजीवनौ संग्रहः,  
तत्कवीनां सुभाषितान्यपि च क्षिप्रं लोक-  
लोचनसमक्षमेथ्यन्ति । तद्दर्शनभूतिः सार्द्ध-  
राजती मुद्रा सुनिर्दिष्टा ।

PRINTED BY 'A. C. MANDAL AT THE  
SIDDHESWAR PRESS

29, Sukea Street, Calcutta.

## निवेद्यम्—

हन्त ! इयन्तं यावदागृहीतसंस्कृतपरीक्षासु रचनाविषयक-  
प्रश्नस्य व्यवस्थासद्भावतया परं मठकादिषु तद्विषये शिक्षणौ-  
पुस्तकाभावनिवन्धनपरत्वादेव प्रायशो विद्यार्थिनां पक्षे रचना-  
विरचनं नाम सातिशयदुर्ललितकरमिति वितर्क्य तदर्थं छात्र-  
संसदि कतिदिनादूर्ध्वमस्माभिः काव्यनाटकादीनां ससालोचना-  
त्मिका तथा प्रबन्धादिवहुतरविषयाजिता प्रबन्धकल्पलतिका  
नाम, काचित् पुस्तिका प्रचारिता । सैव हि प्रबन्धकल्पलतिका  
विद्यार्थिभिर्विशेषाग्रहेण गृहीततया खल्वेनैव दिनेन किञ्चिद्दून-  
वत्सरं यावत् निःशेषितसंस्कारणा जाता । तदारभ्य नून-  
मेतावन्तमव्याहृतोत्पन्नविघ्नगत्या अन्योन्येनाप्यपर्याप्तकारण  
सङ्गेन प्रधानतो वसोरभावतया च तच्चैव लोकलोचनसमर्चं  
कर्तुं न शक्यते ।

दिष्ट्या । संप्रति महामहिमवतो भगवतोऽनुकम्पया  
निर्विघ्नितैरप्यस्माभिर्नानाविषयं विभाव्य बन्धुजनानामुपदेशेन  
सामाजिकानां लेख्यानुलेख्येन छात्राणामाग्रहेण च केवलं रचना-  
नामेव बहुनियमपद्धतियुता प्रचुरतरादर्शपूर्वा पूर्वपुस्तकसंरचित-  
प्रबन्धचयचर्चितविग्रहा, परमपि तदन्यद्दोषदिनादारभ्य गृहीत-  
संस्कृतपरीक्षासु प्रत्यर्पितप्रबन्धविषयमवलम्ब्य संरचित-  
प्रभूतनिबन्धनेयं प्रथमांशाभिधेया प्रबन्धकल्पलतिका शिक्षार्थिनां

मानवकानां केवलं रचनाशिक्षार्थमेव स्वातन्त्र्येण प्रकाशोऽनायि ।  
एतद्वितीयांशे प्रचलितसकलकाव्यनाटकादीनां समालोचना  
सुविन्यस्ता । तृतीये च निखिलाज्ञातकवीनां जीवनीं तेषां  
कवीनां सुभाषितावलौच्य प्रत्यर्थं प्रकाशमानेतुमुपक्रम्यते ।

आशास्महे—सुरभाषासु नूनमियमभिनवा त्रिभागात्मिका  
प्रबन्धकल्पलतिका कल्पलतिकेव रचनाविषये सुरस्यास्वाद-  
मधुरिमं फलमर्थिभ्यः शश्वत् प्रत्यर्पयिष्यति ; प्रत्यर्पयिष्यति च  
भृशं यथोचितनिषेवनेन सम्यक् तेभ्यो भाषानैपुण्यं ज्ञानोन्मेषणञ्च  
प्रायशः शास्त्रविषये । अतः परं निकषायमाना निर्णयकाः  
सामाजिकाः प्रमाणम् ।

अपि नामास्या सुदृग्विधौ वलवता कारणकूटेन परमित-  
रया शरीरात्त्राच्छन्द्यतया च कामनानुरूपं सौन्दर्यं संविधातुं  
न प्रभवामहे । अतएव यत्र कुत्रचिदविस्तरः समुपगतः प्रमादः  
किमु अन्यान्या च या कापि वृत्तिरपि ता, सैव तु सौदार्येण  
क्षन्तव्या महत्तः सहृदयाः ।

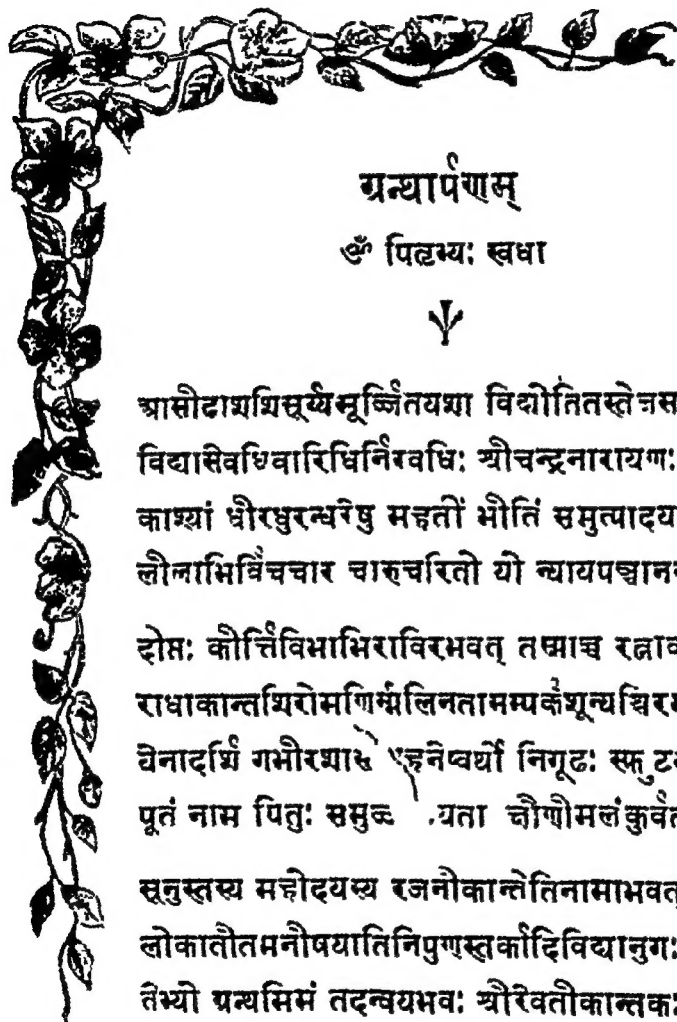
श्री हंसराज बच्छराज नाहटा

सरदारशहर निवासी

द्वारा

जैन विश्व भारती, लाडनू

को सप्रेम भेंट -



## ग्रन्थार्पणम्

ॐ पितृभ्यः स्वधा



आसीदाशशिसूर्यमूर्जितयशा विद्योतितस्तेजसा  
विद्यासेवधिवारिधिर्निरवधिः श्रीचन्द्रनारायणः ।  
काशां धीरधुरन्धरेषु महतीं भीतिं समुत्पादयन्  
लीलाभिविचचार चारुचरितो यो न्यायपञ्चाननः ॥

दोषः कीर्त्तिविभाभिराविरभवत् तस्माच्च रत्नाकरात्  
राधाकान्तशिरोमणिर्मलिनतामम्पकेशून्यश्चिरम् ।  
वेनादर्शं गभीरशास्त्रे ह्यनेष्वर्थो निगूढः स्फुटम्  
पूतं नाम पितुः समुक्तं यता लीलीमलंकुर्वता ॥

सनुस्तस्य महोदयस्य रजनोकान्तेतिनामाभवत्  
लोकातीतमनौपयातिनिपुणस्तर्कादिविद्यानुगः ।  
तेभ्यो ग्रन्थमिमं तदन्वयभवः श्रीरेवतीकान्तकः  
भक्त्याद्यार्पयते प्रबन्धलतिकासंज्ञं निवापोपमम् ॥





## पुस्तकस्थविषयाणामनुक्रमणिका

| विषयाः                         | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------------------|-------------|
| सङ्गलाचरणम् ...                | १           |
| प्रबन्धस्वरूपम् ...            | १           |
| „ प्रकारः ..                   | १           |
| प्रबन्धस्य भाषा ...            | ३           |
| „ भेदः ...                     | ४           |
| शिक्षार्थिणां प्रत्युपदेशः ... | ४           |
| वाक्यम् ...                    | ७           |
| वाक्यांशः ...                  | ८           |
| पदान्वयः ..                    | ८           |
| शब्दे पदस्थापनव्यवस्था ...     | ११          |
| „ स्थापनादर्शः ..              | १५          |
| वाक्यवृद्धिः ...               | १६          |
| वाक्यसंक्षेपः ...              | २१          |
| अर्थविवृतिः ...                | २२          |
| व्याख्या ...                   | २४          |
| भावार्थः, तात्पर्यं वा ...     | २४          |
| संक्षेपार्थः ..                | २५          |
| सन्धिनियमः ..                  | २७          |
| यतिचिह्नम् ...                 | २८          |
| दीर्घः ...                     | २९          |

| विषयः            | पृष्ठाङ्काः |
|------------------|-------------|
| गुणः, ... ..     | ५७          |
| रौतिः, ... ..    | ६५          |
| अलङ्कारः, ... .. | ६७          |

अनुप्रासः, यमकः, श्लेषः, स्वभावोक्तिः, उपमा, मालोपमा, रूपकः,  
उत्प्रेक्षा, निर्गोर्णत्वम्, अतिशयोक्तिः, व्यतिरेकः, प्रतिबलूपमा,  
निदर्शना, दृष्टान्तः, अर्थान्तरन्यास, तुल्ययोगिता, दीपक, क्रिया-  
दीपकः आन्तिसान्, अपङ्कतिः, समासोक्तिः, अप्रस्तुतप्रशंसा, श्लेषः,  
प्रतीपः, सङ्कोक्तिः, काव्यलिङ्गम्, विभावना, विश्वोक्तिः, विषमम्,  
विरोधः, कारणमाला, सारः, एकावली, अर्थापत्तिः, प्रश्नोत्तरः ।

प्रबन्धविषयः .. ... ६८

प्रबन्धानामाभाषः (Hints.) , ... .. ६८

मानवजातीयप्रबन्धरचनायाम् ... .. ६८

इतरप्राणीविषयिणी ,, ... .. ६९

अचेतनविषयिणी ,, .. . ६९

स्थानविषयिणी ,, ... .. ६९

पृथ्वीविषयिणी ,, ... .. ६९

गिरिविषयिणी ,, . . . १००

नदीविषयिणी ,, ... .. १००

शिल्पविषयिणी ,, . . . १०१

काचविषयिणी ,, .. . १०१

खनिजद्रव्यविषयिणी ,, . ... .. १०१

नैर्गमिकविषयिणी ,, . ... .. १०१

भूकम्पसम्बन्धिनी ,, ... .. १०२

उद्भिज्जसम्बन्धिनी ,, ... .. १०२

|                           |      |                        |     |
|---------------------------|------|------------------------|-----|
| कोकिलः                    | १०२  | धर्मार्थकाममोक्ष       | १५६ |
| वर्षा ( ऋतुः )            | १०५  | न लोभादधिको            | १६१ |
| इन्द्राजजातिः             | ११०  | न तितिच्चा सममस्ति     | १६५ |
| गौः                       | ११२क | महाजनो येन             | १६८ |
| पिपीलिका                  | ११२च | विद्वान् सर्वत्र       | १७० |
| नक्रः                     | ११२ज | आत्मानं सर्वतो         | १७५ |
| प्रजापतिः                 | ११२ट | न हि सुखं दुःखै        | १८० |
| सर्पः                     | ११२ड | आलस्यं हि मनुष्याणां   | १८४ |
| श्रीश्रीदुर्गापूजा        | ११२थ | प्रीणाति यः            | १८८ |
| वृत्तान्तात्मकाप्रबन्धाः  |      | परोपकरणं               | १८२ |
| महावीर-आलेकजन्दरः         | ११७  | विनयो भूषणं            | १८६ |
| चन्द्रनारायणन्यायपञ्चाननः | १२०  | यो भ्रुवाणि            | २०० |
| ग्लाडष्टोनः               | १२४  | उपायं चिन्तयन्         | २०४ |
| चतन्यः                    | १२६  | अनुगन्तुं सतां         | २०६ |
| गान्धिः                   | १२८  | उद्योगिनं              | २०८ |
| व्याघ्रीवानरः शृगालो च    | १३३  | नानृतात् पातकं         | २१२ |
| आम्यजम्बुको               | १३५  | काव्येषु भावः          | २१५ |
| काकः शृगालश्च             | १३६  | कः परः प्रियवादीनाम्   | २२३ |
| चिन्ताघटितरचना            | १३७  | सञ्चयी नावसोदति        | २२८ |
| कालः                      | १३८  | आर्जवं हि कुटिलेषु     | २३३ |
| प्राचीनभारतम्             | १३८  | दारिद्र्यमनन्तकं दुःखं | २३८ |

|                         |         |                              |     |
|-------------------------|---------|------------------------------|-----|
| जननीजन्मभूमिश्च         | १४८     | संसर्गजा दोषगुणाः            | २४६ |
| दयावान् धरणीपूज्यः      | २५२     | अघासुरस्य बधः                | २८७ |
| अवैयाकरणस्तम्भः         | २५७     | अनिरुद्ध-उषा समागमः          | २८७ |
| पक्षताविषयिणी           | २६०     | आस्तिकस्य सर्पोज्जीवनम्      | २८७ |
| वेदान्तविषयिणी          | २६१     | इन्द्रस्य गौतमपत्नोर्धर्षणम् | २८७ |
| स्मृतिविषयिणी           | २६२     | वृत्रहृन्ननम्                | २८८ |
| पाणिनिव्या० विषयिणी     | २७३     | पर्वतपक्षकर्त्तनम्           | २८८ |
| कलापविषयिणी             | २७६     | शरणागतरक्षणम्                | २८८ |
| मुधबोधविषयिणी           | २७८     | ऋष्यशृङ्गस्यायोध्यानयनम्     | २८८ |
| सांख्यविषयिणी           | २८३     | एकलव्यस्य गुरुदक्षिणा        | २८८ |
| हृन्दोविषयिणी           | २८७-२८४ | ककुत्स्थस्य युद्धम्          | २८८ |
| पौराणिकेतिवृत्तानि      | २८४     | कर्णस्य दाहत्तम्             | २८८ |
| ज'श्रुमतः               | २८५     | कार्तवीर्यार्जुनस्य          | २८८ |
| अकचस्योत्पत्तिः         | २८४     | दशाननशासनम्                  | २८८ |
| अग्नेः स्वाण्डवभक्षणम्  | २८५     | किरोटिनः गुरुदक्षिणा         | २८८ |
| शुक्र' प्रात्यभिसम्पातं | २८५     | कुन्त्याः मन्त्रलाभः         | ३०० |
| वारणेश्वभिसम्पातः       | २८५     | कृष्णस्य पुतनावधः            | ३०० |
| अगस्त्यस्य उत्पत्तिः    | २८५     | शक्रभञ्जनम्                  | ३०० |
| बिन्ध्यशासनम्           | २८६     | जमलार्जुनभङ्गः               | ३०१ |
| नहुषशापः                | २८६     | अरिष्टवधः                    | ३०१ |
| वातापिदहनम्             | २८६     | गोवर्द्धनधारणम्              | ३०१ |

|                             |     |                               |     |
|-----------------------------|-----|-------------------------------|-----|
| समुद्रुपानम्                | २८६ | कांसवधः                       | ३०१ |
| दक्षिणस्यामुदयः             | १८७ | गुरुदक्षिणा                   | ३०१ |
| रुक्मि षोडशरणम्             | ३०१ | यादवान् प्रत्यभिमम्पातः       | ३०७ |
| जरासन्धभीतिः                | ३०२ | धृष्टदुम्नस्य जन्म            | „   |
| मुचकुन्दतल्प शयनम्          | „   | द्रोणस्य वधः                  | „   |
| परोक्षिदुर्जीवनम्           | „   | धृष्टदुम्ननिधनम्              | „   |
| खुन्ननायाः जन्म             | „   | नरनारायणयोः सृष्टिः           | ३०८ |
| गहङ्गस्य निषादपूरयासः       | „   | नारायणस्य शेषशयनम्            | “   |
| चन्द्रस्य गुरुपत्नीहरणम्    | ३०३ | मधुकैटववधः                    | „   |
| दत्तादभिसम्पातः             | „   | पुहरवमः जन्म                  | „   |
| जरामन्धस्य उत्पत्तिः        | „   | पृथोःपृथोदोहनम्               | ३०९ |
| जामदग्नस्य मातृशिरच्छेदः    | „   | प्रमद्वरायाः प्रत्युज्जीवनम्  | „   |
| „                           | „   | „                             | „   |
| षड्दानत्रिजयः               | ३०४ | बन्धुवाहनस्य पित्राभिभाषणम्   | „   |
| क्रौञ्चभेदनम्               | „   | ब्रह्मणः जन्म                 | ३०८ |
| निःज्वोकरणम्                | „   | कन्याभिगमनम्                  | ३१० |
| पृथ्वीदानम्                 | „   | भरद्वाजस्य वृताचोसंगतिः       | „   |
| गणेशदन्तभञ्जनम्             | ३०५ | मयदानवस्य प्रतुष्टकारः        | „   |
| भीष्मेन पराभवः              | “   | महाभीषिस्य ब्रह्म नोकाच्चरतिः | „   |
| तारकाश्याः शापावसानम्       | „   | मान्धातुः निधनम्              | „   |
| दक्षस्य अजमुण्डम्           | „   | सूकाननवस्य निधनम्             | ३११ |
| दुर्वाससः भार्या भस्मीकरणम् | „   | ययातिः जरासंक्रमसम्           | ३११ |
|                             | ३०६ |                               |     |

|                         |     |                               |     |
|-------------------------|-----|-------------------------------|-----|
| इन्द्रं प्रत्यभिसम्पातः | ३०६ | याज्ञवल्क्यस्य दिवाकराराधना   | ३१२ |
| पाण्डवान् प्रति सन्तोषः | ३०६ | युवनाश्वस्य गङ्गां प्रति शापः | ३१२ |
| अम्बरीषात् पराभवः       | ३०६ | रवेः चन्द्राप्यानम्           | ३२१ |
| वाटुवालङ्घनम्           | ३१३ | अन्धकविजयः                    | ३१८ |
| तेजः शातनम्             | ३१३ | केतकीवर्जनम्                  | ३१८ |
| रामस्य                  | ३१३ | शिशुपालस्य                    | ३२० |
| रावणस्य                 | ३१० | सौदासस्य                      | ३२० |
| कैलासोत्पाटनम्          | ३१३ | हनुमतः                        | ३२० |
| शिरच्छेदः               | ३१४ | त्रिशिरानिधनम्                | ३२१ |
| वालिना सौख्यम्          | ३१४ | द्रोणाद्रिहरणम्               | ३२१ |
| वलेः पराभवः             | ३१४ | विविधज्ञातव्यविषयाः           |     |
| वलदेवस्य                | ३१५ | संख्याबोधकाः                  | ३२१ |
| वाटुवानलस्य             | ,,  | संख्यावाचकशब्दाः              | ३२४ |
| अनरणावधः                | ,,  | गजासुरमर्दनम्                 | ३१८ |
| सूतहननम्                | ,,  | मायाविनिधनम्                  | ३१६ |
| वायोः                   | ,,  | संख्यावाचकशब्दानां व्यव-      |     |
|                         |     | हारविधिः                      | ३२७ |
| वालिनः                  | ३१६ | पुरणवाचकशब्दाः                | ३२८ |
| विश्वामित्रस्य          | ,,  | इयस्वदृष्टप्रत्ययेन च कति-    |     |
|                         |     | शब्दानां रूपाणि               | ३२८ |
| शुनः श्रेष्ठमोचनम्      | ३१७ | रक्षां प्रतिशापः              | ३१७ |

|                |     |                     |     |
|----------------|-----|---------------------|-----|
| सौगन्धिकाहरणम् | ३१८ | उपमानोपमेयव्यवस्था  | ३३१ |
| विशङ्खुहरणम्   | ३१७ | रचनानिवन्धनोपक्रमः  | „   |
| वृकोदरस्य      | „   | काव्यमग्नौ भेदाः    | „   |
| वृहस्पतिः      | ३१८ | उपकाव्यम्           | „   |
| व्यासस्य       | „   |                     |     |
| शम्बरस्य       | „   |                     |     |
| शिवस्य         | ३१८ | रचनासुवर्णनीयविषयाः |     |
| त्रिपुरदहणम्   | „   |                     | ३३५ |
| गजासुरमर्दनम्  | „   | तृपवर्णने           | ३३५ |
| यज्ञसृगहननम्   | „   | कुमारवर्णने         | ३३६ |
| राजमहिषीवर्णने | „   | चन्द्रोदयवर्णने     | ३४२ |
| मन्त्रिवर्णने  | ३३७ | वसन्तवर्णने         | ३४२ |
| सेनापतिवर्णने  | „   | ग्रीष्मवर्णने       | ३४२ |
| पुरीवर्णने     | „   | वर्षावर्णने         | ३४२ |
| देशवर्णने      | „   | शरद्वर्णने          | ३४२ |
| ग्रामवर्णने    | ३३८ | हेमन्तवर्णने        | ३४३ |
| सरोवर्णने      | „   | शिशिरवर्णने         | „   |
| अङ्गिवर्णने    | „   | स्वयम्बरवर्णने      | „   |
| नदीवर्णने      | „   | विवाहवर्णने         | „   |
| पर्वतवर्णने    | ३३८ | विरहवर्णने          | ३४४ |
| वनवर्णने       | „   | सुरतवर्णने          | „   |



|                |     |                          |     |
|----------------|-----|--------------------------|-----|
| आश्रमवर्णने    | „   | वनकेलिवर्णने             | „   |
| मन्त्रवर्णने   | ३४० | जलकेलिवर्णने             | „   |
| दूतवर्णने      | ३४० | वर्णवर्णनोयाः—           |     |
| रणवर्णने       | ३४० | श्वेता                   | ३४४ |
| प्रयानवर्णने   | ३४१ | श्यामा                   | ३४५ |
| अश्ववर्णने     | „   | लोला                     | ३४६ |
| गजवर्णने       | „   | रक्ता                    | ३४१ |
| मृगयावर्णने    | „   | पीता                     | ३४७ |
| सुरावर्णने     | „   | धूमराणि                  | ३४८ |
| सूर्योदयवर्णने | „   | वक्रा                    | ३४८ |
|                |     | तीक्ष्णाणि               | ३४८ |
| पदादिबन्धाः    | ३५८ | काव्यरचनायां कवीनां समयः | ३५० |
| सुखदा          | ३४८ | वस्तुनः सतोऽप्यनिबन्धनं  | ३५० |
| दुःखदा         | „   | असतोवस्तुनं निबन्धनम्    | ३५० |
| स्थिरा         | „   | नियमेन निबन्धनम्         | ३५१ |
| अस्थिरा        | „   | विकल्पेन निबन्धनम्       | ३५१ |
| श्रुत्तरा      | ३५० | दर्पेनोक्तकविश्ववहारः    | ३५२ |
| बलिष्ठा        | ३५० | सर्वाङ्गवर्णनम्          | ३५२ |
| सुरूपा         | ३५० | साधारणगणवर्णनम्          | ३५४ |
| दुःसहा         | ३५० | स्त्रिय उपमानम्          | ३५५ |
| मधुरा          | ३५० | पुंस उपमानम्             | ३५८ |



## अस्मदीयप्रकाशिताणां पुस्तकावली

|   |  |
|---|--|
| १ । द्वितोपदेशोयमित्थम्—<br>( २यावृत्तिः यन्त्रस्थः ) १॥० | १३ । सारमञ्जरो ॥०                              |
| २ । कुमारसम्भवम् १॥०                                      | १४ । लिङ्गानुशासनम् ॥०                         |
| ३ । रघुवंशम् ( यन्त्रस्थम् )                              | १५ । लकारार्थनिर्णयः ॥०                        |
| ४ । श्रुतबोधः १/०   | १६ । सामवेदसंहिता-<br>आग्नेयपर्व ॥१०           |
| ५ । मालविकाग्निमित्रम् १॥०                                | १७ । वृत्तरत्नाकरः ॥१०                         |
| ६ । दशकुमारचरितम्—<br>( २यावृत्तिः यन्त्रस्थम् )          | १८ । प्राकृतप्रकाशः १॥०                        |
| ७ । किराताज्जनोद्यमम्—<br>( १—३ सर्गाः ) १)               | १९ । प्राकृततन्त्रचणम् १)                      |
| ८ । किराताज्जनोद्यमम्—<br>( सम्पूर्णम् ) ३)               | २० । जैमिनोयन्यायमाला-<br>विस्तरः १॥०          |
| ९ । सांख्यसारः ॥०   | २१ । छन्दःसारसंग्रहः २)                        |
| १० । सांख्यकारिका ॥०                                      | २२ । रचनाशिक्षा २)                             |
| ११ । योगसूत्रम् ( मणिप्रभा-<br>टीक सहितम् ) १॥०           | २३ । प्रबन्धकल्पलतिका १॥०                      |
| १२ । मोमांसापरिभाषा ॥०                                    | २४ । प्राचीनकवि जीवन्म-<br>( यन्त्रस्थम् ) १॥० |
|   | २५ । संस्कृत-मञ्जरी ॥०                         |
|   | २६ । भोजप्रबन्धः १॥०                           |

## বঙ্গাক্ষরে মুদ্রিত

|   |                |
|---|----------------|
| ২৭। কলাপমুদ্রম্   | ১০।            |
| ২৮। সন্ধিবৃত্তিঃ  | ১০।            |
| ২৯। কলাপব্যাকরণম্ [পূর্ব্বাঙ্গম্ সন্ধি-চতুষ্টয়গণিতম্]        | ৫।             |
| ৩০। ত্রিতাপদেশীয়ামুদ্রলাভঃ                                   | ১১।            |
| ৩১। পঞ্চগীতা  | ৪।             |
| ৩২। শ্রীমদ্ভগবদ্গীতা  | ১১।            |
| ৩৩। উপনিষদাংলী  | ১১।            |
| ৩৪। শ্রীশ্রীচণ্ডী [ভাণপত্রে]                                  | ১১।            |
| ৩৫। কাণ্ডীপূজাপদ্ধতিঃ   | ১১।            |
| ৩৬। ভাষাপরিচ্ছদঃ  | ১৬।            |
| ৩৭। কোলকল্পলতা  | (যজ্ঞস্থঃ) ২১। |
| ৩৮। স্তবকবচমালা   | (যজ্ঞস্থঃ) ১১। |
| ৩৯। ভাবতীপাঠ  | ৭।             |
| 40. The First Book of Translation & Conversation<br>in Hindi. | —6—            |

বিশেষ দৃষ্টব্য :—উপরোক্ত পুস্তক ভিন্ন আমাদের নিকট কাব্য, ব্যাকরণ, সাংখ্য, বেদান্ত, শ্রুতি, গীতাংসা, বেদ, উপনিষৎ, গ্রাম, বৈশেষিক, জ্যোতিষ, পুৰাণ, পৌৰাণিত্য প্রভৃতি পৰীক্ষায় পাঠ্য সকল বকম পুস্তকই পাইতে পারিবেন। যে সকল পুস্তক কলিকাতায় পাওয়া যায় না তাহা আমরা কাশী, বোম্বে, গুণা, পাজান প্রভৃতি স্থান হইতে আনাইয়া রাখিয়াছি। আপনার আবশ্যকীয় সকল বকম পুস্তকই অর্ডার দিলে পাইতে পারিবেন। স্থানান্তর বশতঃ পুস্তকের বিস্তৃত বিজ্ঞাপন দেওয়া গেল না। বিস্তারিত নিবরণ আমাদের বড় ক্যাটাগরে দেখিতে পাইবেন, পত্র লিখিলে উহা বিনামূল্যে পাঠান হব।

বিনীত—শ্রীঅখিলবন্ধু ভট্টাচার্য্য

সংস্কৃত পুস্তকালয়

৫৮ নং কর্ণওয়ালিস ষ্ট্রীট, কলিকাতা।

# प्रबन्ध-कल्पलतिका

प्रथमस्तवके

रचनाशिक्षा

—:०:—

मङ्गलाचरणम्

ध्वान्तप्रशान्तको नित्यो यः स्थितः सर्वमूर्ध्वनि ।

तं नौमि रजनीकान्तं विघ्नध्वान्तप्रशान्तये ॥

प्रबन्धस्वरूपम्

परस्परसम्बन्धविशिष्टवाक्यचयेन कस्यचिद्विषयस्यावतरणम्  
प्रबन्धो नाम ।

प्रबन्धप्रकारः

स हि किल प्रबन्धो गद्यपद्यभेदेन द्विविधो रचनीयः ।

१ । यतिमात्रादिछन्दःशास्त्राणामुपदेशमन्तरेण परस्पर-  
सम्बन्धविशिष्टवाक्यसमूहानां विन्यासो गद्यम् । यथा—यस्य

भूतेशस्य भाले भागीरथीफेनलेखया इव चन्द्रस्य कला विराजते  
तस्य शम्भोरनुग्रहात् सज्जनानां कर्म सफलमसु ।

२ । अक्षरमात्रादिना छन्दःशास्त्रानुमोदितः सन्दर्भः  
पद्यम् । यथा—

“सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटे ।

जाङ्गवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥” इति

एवमपि हि गद्यपद्योभयमयी वा रचना पुनर्निरलङ्कारा  
सालङ्कारा चेति द्विविधा । साधारणभाषानिवद्धा निरलङ्कारा ।  
अनुप्रासोपमाद्यनुबद्धा सालङ्कारा । यथा :—

पद्यमयी निरलङ्कारा—

नयति लोहितसिग्धं प्रतीचौमुखमण्डलम् ।

द्युमणिरचिरैरौव शेषाचलमुपेष्यति ॥

पद्यमयी सालङ्कारा यथा मदीयसंयुक्ताख्यम्बरनाटके—

सन्ध्यासितायितरुधिं नलिनीं प्रबोध

यातोऽधुनाम्बरमणिर्गिरिकूटशेषम् ।

एषोऽस्ति मे विधिकृतः समयो हि बाले

उक्तौव संहृतकरो न पुनर्विभर्त्ति ॥” इति

गद्यमयी निरलङ्कारा यथा—

सूर्यः पश्चिमां दिशं लोहितरामेण रञ्जयित्वागौणेन  
तिरोभविष्यति । कूजिष्यन्ति विहगा दिनान्तरवसुत्तमम् ।  
तेनेदानीं मन्दं मन्दं प्रवहति समीरणः । नक्षत्राण्योषधि-  
पतिश्च इतः परं मण्डयिष्यन्ति सुनीलं नभोमण्डलम् ।

## गद्यमयी सालङ्कारा यथा—

नियतिनियमेन सम्प्रति प्रतोचौसानुमति अस्तं गतवति  
द्युतिनाथे तद्विरष्टविधुराः क्षीणद्युतिकराः पातिव्रत्यधर्ममनु-  
मवन्त्य ईवात्मानं पातयन्ति शेषाद्रौ पितृवने । अप्येतत्  
समीक्ष्य स्वभाववामा विकिरनिकररुतमिषेण काष्ठा अपि ध्वन-  
यतौ करुणाक्रन्दैरतिमात्रम् । एवमपि सागराम्बरा तमिस्रा-  
म्बरैः सम्बर्ध्य सुखमण्डलं नभश्चनिःश्वाभं जनयति तराम् ।  
इयतीं व्ययामनुभवचिवेन्दुः सखौमाश्वासयितुं समेष्यति  
सनच्चतैरम्बरैः इति ।

## प्रबन्धस्य भाषा

सन्ति तावत् साधारणी, प्रौढा, जटिला चेति त्रिविधाः  
भाषाः । साधारणी पञ्चतन्त्रादिषु । प्रौढा कादम्बरोदश  
कुमारचरितादिषु । जटिला युधिष्ठिरविजयनलचम्पूप्रभृतिषु ।  
अपि नाम शिक्षार्थिनां प्रबन्धरचनीपक्रमे साधारणी प्रशस्ता ।  
ततस्तस्मिन्नभ्यासोपगते प्रौढा । अनन्तरं तस्यां दाढ्यं मुपगते  
जटिला । परमेतच्चाप्यवधेयम् ; आसु यया भाषया येर्मनोगत-  
भावः सम्यक् प्रकटितुं शक्यते तथैव तैलैख्यं नैतरया कदापि  
लेखनीया । दृश्यते तावत् प्रौढित्वं जटिलत्वं सालङ्कारत्व-  
च्चापि रचनायाः सौन्दर्यं, माधुर्यं, ओजस्विले च न हेतुरिति ।  
अनेकबालङ्कारहोनायामपि रचनायां लेखकप्रौढिबलेन सौन्दर्य-  
माधुर्यौजस्विताः परिष्कुरन्ति । नितरां रचनाया उत्तम-

मध्यमाधमत्वे प्रबन्धनिर्मातुरुत्तममध्यमाधमत्वमेव हि कारणं न त्वन्यदिति ।

### प्रबन्धस्य भेदः

अस्ति तावत् स प्रबन्धः विषयभेदेन त्रिविधः । यथा—  
(१) विवरणात्मकः—( Descriptive ) (२) वृत्तान्तात्मकः—  
(Narrative) (३) चिन्तात्मक—(Reflective) स्येति सर्व्व-  
मेतत् प्रसङ्गोपक्रमेणोपविष्टान्निवेदयितुकामो न पुनरिदानीं  
विस्तरभयाद् विवृणुमः ।

### शिद्धान्तिन प्रत्युपदेशः

अभिनवरचनायाः शिद्ध्यितुरादावेव यस्मिन् विषये प्रबन्धो  
रचनीयस्तद्विषयो विषयान्तरपरिहारेण पौनःपुन्येन चेतसि  
चिन्तनीयः । ततस्तस्माद् यो भावः समुपजायेत, स किल  
पत्रे लेख्यः ; एवं हि यस्य भावस्य यदनन्तरं सन्निवेशेन रचना  
हृदयग्राहिणी स्वाभाविकी युक्तिशृङ्खलान्विता च साकल्येन  
भवितुमर्हति, तं प्रति यत्नः सर्व्वथा करणीयः । किन्तु एकैक  
एव भावः द्वितान्तच्छेदेन (para) किमु एकस्मिन्नप्यन्त-  
च्छेदाभ्यन्तरे द्वित्रा एव भावाः न समावेशनीयाः ।

अपि तु रचनायाः सौष्ठवसम्पत्तये न्यूनकल्येन सन्दर्भस्य  
त्रय एवान्तच्छेदाः (paragraphs) सन्निवेशनीयाः । परं  
सूचना, आलोचना, समासिषेति भागत्रयं कल्पयित्वा

आदिमांशे विषयस्य व्याख्यानप्राणितसंज्ञा, एवमपरे आलोचनाभागे एकाधिकोऽन्तश्छेदः, परं विषयस्य आनुकूल्येन वा यत् किमपि वक्तव्यं तत् सर्व्वञ्च सन्निवेशनीयम् । एवमपि च रचनानुकूल्ये प्रातिकूल्ये वा प्रसिद्धलेखकानां तथा ग्रन्थकर्त्तृणाञ्च मतमुद्धर्त्तव्यम् । भागोऽयमनया रीत्या रचितव्यो यत् समाप्तिभागस्य परिपोषणं भवेत् ।

परिशेषभागे तु प्रबन्धस्य रचयितुरेवमेवं करणीयम् । यत् प्रथमभागस्य तथा द्वितीयभागस्य च सारांशं सङ्कलय्य पञ्चापातशून्यं स्वमन्तव्यं प्रकाशनीयमिति ; यतो दृश्यते समवगम्यते च तावत् प्रायेण प्रबन्धपरिसमाप्तिदोषेण महैश्वर्य्यशालिन्यपि नानालङ्कारध्वनिगुणयुक्तापि रचना, निरुत्तमसुन्दर्याः अङ्गवैकुल्यमिव दर्शकानामप्रीतिं जनयति, नितरामतिशयनैपुण्येन शेषभागः समापनीयः । आहुस्तावदालङ्कारिकाः—

“तदल्पमपि नीपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।

स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्रितेनैकेन दुर्मगः ॥”

प्रशंसति च विश्वनाथः—

“चित्तं व्याप्नोति यः शीघ्रं शुक्लेन्वनमिवानलः ।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥” इति

एवमपि हि विविधविषयकानामुत्तमोत्तमनिबन्धानां तथा समाचारपत्राणां, सामयिकपुस्तकानां, कविप्रतिभाप्रस्तुतानां काव्यनाटकादीनां, पुराणेतिहाससन्दर्भाणाञ्च पठनं, सामयिकीनां काव्यनाटकसमालोचनानां, पर्यालोचनम् ;



प्रख्यातव्याख्यातृणां व्याख्याश्रवणे समादरः, प्रसिद्धानां कवि-  
सुभाषितानां तत्र तत्रोपयोगिनां शब्दानां, कथानां भावानां,  
शास्त्रीयाणां लौकिकानाञ्च, अन्येषाञ्चैवंविधानां विविधविष-  
याणां चेतसि पर्यालोचनमित्येतत् सर्व्वं सन्दर्भचारुतानिष्पा-  
दनाय सर्व्वथा परमावश्यकम् ।

अपि नाम शिक्षार्थिनां प्रतिदिनं नियमेन कश्चन कश्चन  
विषयोऽवश्यं लेख्यः । न यावत् साध्वी भाषा सम्यक् प्रयोक्तु-  
मुपयुज्यते तावदेव शुद्धशुद्धिभयमपहाय सरलया, जटिलया,  
ग्राम्यया भाषया वा रचना विधातव्या । ततः प्रात्यङ्गिकनियत-  
लेखाभ्यासे सञ्जाते स्वत एव किमु प्रज्ञावलेन परिस्फुरति  
साध्वी वाणी । एवं तदा लेख्यं समाप्यानन्तरञ्च कां शब्दः  
शोभनः कोवाशोभनः, कस्यभावानुकूलः, के शब्दाः कुत्र  
स्थाप्याः ; कस्य शब्दस्य कुत्र कथं कीदृशेन शब्दयोगेन परि-  
वर्त्तनेन वा सम्यक् भावः स्फोटते इत्यादि सर्व्वं यथायथं  
स्वयमालोचनीयम् शोधनीयञ्चावरादौनि ; एवं किलाभ्यासने-  
रन्तर्य्येण विमर्शेन च शनैः शनैर्भाषावैभवं सौन्दर्य्यं साधुर्य्यं,  
चेतसः शुद्धिः, संस्काराणां प्रावल्यं दृढत्वञ्च, भावानामति-  
गाम्भीर्य्यञ्चापि समुपपद्यते ।

युक्तञ्चापि ऋजुना कुटिलेन वा वर्त्तनोपक्रान्तः प्रबन्ध-  
स्तोन तेनैव पथा समापनीयः । न तावत् क्वचिद्दीर्घसमासा-  
क्रान्ता रचना, क्वचित् समासहीना, क्वचिद् ग्राम्या, क्वचि-  
द्वागरिकी, क्वचित् कुटिलार्थवाङ्मया, क्वचिद् निरतिशय-

सरलेति ; एवं कस्मिन् कस्मिंश्चापि वाच्यौचित्यात् रचनावैषम्य-  
मपि न दोषावहं सुस्वार्हत्वञ्चामनन्ति सुधियः । दृश्यते हि  
सुकुमारबन्धेनोपक्रान्तेऽपि सन्दर्भे क्वचिदुद्धतेऽर्थे वाच्ये तत्र  
सुकुमारबन्धात् विकटबन्धेनैव सोऽतिशयां चारुतां विधत्ते ।  
एवञ्च विकटबन्धेनोपक्रान्तेऽपि कुत्र कोमलकरुणशान्तादावर्थे  
प्रयुक्ते तस्मिन्स्तस्मिन् परमशोभा सञ्जायते । अपि च व्याका-  
रणसम्बन्धिषु नियमेषु, तथा काव्यप्रसिद्धश्रुतसंस्कारतादिदोषेषु  
दृष्टिर्हेया । समवलोक्यते चोपक्रमोपसंहारोपपत्तिभिः सम्य-  
गुपपादितोऽपि हृदयङ्गमस्यापि सन्दर्भो व्याकरणाशुद्धिसदृभावे  
न वितनोति शोभाम् ; नापि तदभोष्टाङ्कप्राप्तिरूपं फलं  
फलितुं क्षमते, नापि वा पुण्याति गाम्भीर्यमिति दिक् ।

### वाक्यम्

उच्यते प्राक् रचना, सरलसहजभाषया सततं विवरितुं  
यतितव्येति । तत्र तावत् “वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्ति-  
युक्तः पदोच्चयः” इत्यालङ्कारिकवचनं सर्व्वप्रयत्ने नानुस्मरणीयम् ।

(क) योग्यता तावत् पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः  
यथा—“वह्निना सिञ्चति” “जलेन दह्यते” “भूमौ निमज्जति”  
इत्यादी पदसमूहानां परस्परविरुद्धार्थतयार्थप्रतीति बाधितत्वा-  
न्नेति वाक्यरूपाः ।

(ख) आकाङ्क्षा—वाक्यानामर्थग्रहणाय एकपदश्रवणात्  
परमन्यपदस्य श्रवणेच्छा । या किल क्रियापदश्रवणात् ततः

कारकपदस्य, किमु कारकपदस्य श्रवणात् क्रियापदस्य श्रवणे प्रवृत्तिरुपजायते सैवाकाङ्क्षेति निर्गलितार्थः । यथा—  
 “रामचन्द्रो वनं गच्छति” इति वाक्यं आकाङ्क्षानुसारेण कर्तृकारकादिपदमुपन्यस्तम् । परं यदि “रामचन्द्रः” अथवा “रामचन्द्रो वनम्” इत्युक्तौ वाक्यस्य न पुनः समाप्तिरुपगता । अत्र यत् “गच्छति” क्रियायाः प्रवृत्तिः स्वतः एव मानसमधिकरोति तन्नूनमाकाङ्क्षेति ।

(ग) आसत्तिः—यत् पदार्थेन यत् पदस्यान्वयापेक्षा तयो-  
 रव्यवधानेन पदेनोपस्थापनम् । सा किलासत्तिः योग्यताकाङ्क्षा-  
 न्वितपदसमूहानामव्यवधाने संस्थापनरूपा यथा—“रामचन्द्रो  
 वनं गच्छति” इत्यत्रादिमांशं “रामचन्द्रो वनम्” इत्युक्तां द्वित्रि-  
 घटिकान्तरे “गच्छति” इति क्रियापदोक्तौ आसत्तिविरहात्  
 नार्थप्रतीतिः । एवमपि “त्वं मम परमहितैषी, तवास्ति  
 विपुलो गुणः” इत्यत्र “त्वं, विपुलो, गुणः परमो हितैषी तव  
 मम” इत्यादिरूपोपस्थापने पदसमूहानामासत्तिविरहात्  
 नार्थस्य प्रतिपत्तिः, नितरामेतन्न वाक्यम् ।

### वाक्यांशः

वाक्यांशः एकेन तदधिकपदोपस्थापनेन वा चित्तवृत्ते-  
 रांशिकत्वमुपस्थापनं वाक्यांशो नाम । तमवलम्ब्याधोलिखित-  
 प्रणाल्या वाक्यं विरचितुं शक्यते । यथा—(क) कायमनो-  
 बांक्षीः (ख) चित्रार्पित इव (ग) संकलसुखस्य निदानं

(व) अविमृश्यकारितायाः फलं (ङ) इतिकर्तव्यता विमूढाः  
(च) आग्रहातिशयेन ।

(क) अपि नाम साध्याः सौमन्तिन्यः कायमनोवाक्यैः  
पत्युर्मङ्गलं सदा कामयन्ते ।

(ख) कैशोरे वयसि रामभद्रस्य पाणौ विषमायाति  
पिनाकधनुः समीक्ष्य विवाहसंसदुपगताः सर्वे ऽभ्यागता राजन्या  
विदेहाश्च चित्रार्पिता इव रेजिरे ।

(ग) ब्रह्मण्युपन्यस्तं ज्ञानमेव सकलसुखस्य निदानम् ।

(घ) प्रणयभङ्ग एव अविमृश्यकारितायाः फलम् ।

(ङ) विपदि मूर्खा एव इतिकर्तव्यताविमूढा भवन्ति ।

(च) आग्रहातिशयेन सीतापतिर्दुःखमभिगच्छति ।

पदान्वयः ( सान्वयपदनिर्व्वाचनं वा )

वाक्यान्तर्गतैकैकपदस्य तथा लिङ्गवचनपुरुषकारककाल-  
वाच्यभेदस्य च यथासम्भवोक्तेः पदान्वयः । आहुस्तावद्वृद्धाः—

"पदं पञ्चविधं तच्च विशेष्यञ्च विशेषणम् ।

सर्व्वनामाव्ययं चेति क्रियापदमितौष्टवम् ॥"

इति पञ्चविधानां विशेष्यादीनामन्वयो यथाक्रमेण वेदि-  
तव्यः । तत्र तावत् विशेष्यस्य पदान्वये—विशेष्यस्य प्रकार-  
भेदः ; तथा लिङ्गवचनपुरुषकारकान्वयानां सम्बन्धस्य चोक्तेः खो-  
विधातव्यः । विशेषणपदान्वये—कोट्टशं विशेषणं कस्य विशेषण-  
मित्यादि सर्व्वं विशेषेण निदर्शनीयम् । एवं विशेष्यभावापन्नं  
विशेषणञ्चेत् पूर्व्वोक्तीरीत्या तावदुल्लेख्यम् ।

एव्वेनामपदान्वये—आदौ सर्व्वेनामपदं विशेषणीयम् ; किमु विशेष्यस्य परिवर्त्तेन न्यस्तं तत् सर्व्वं विशेष्यस्येव कारकादिपदैर्निवेशनोयम् । अव्ययपदान्वये—अव्ययप्रकारभेदानामुल्लेखो विधेयः । क्रियापदान्वये—क्रिया समापिकासमापिका, किमु कर्मिकाकर्मिका, वर्त्तमानभूतभविष्यत्कालज्ञापिका, कस्मिन् वाच्ये, केन पुरुषेण सहान्विता, असमापिका चेत् कया क्रियया अव्यययुक्तेत्यादि सर्व्वं विशेषेण विज्ञापनीयम् । तेषां पदानां दिङ्मातोदाहरणं क्रमेण ज्ञातव्यम् । यथा—“रामो लक्ष्मणमवादीद् वत्स, यूयं मम प्राणसदृशाः” इत्यत्र “रामः” संज्ञावाचकविशेष्यपुंलिङ्गैकवचननामपुरुषकर्त्तृकारकीयं पदम् “अवादीत्” इति क्रियायाः कर्त्ता ।

लक्ष्मणं—इति पुंलिङ्गैकवचनं संज्ञावाचकविशेष्यं कर्मकारकपदं “अवादीत्” क्रियायाः गौणकर्म ; अनुक्ते कर्मणि द्वितीया ।

अवादीत्—इति भूतेऽद्यतनातोते कर्मान्विता समापिका क्रिया ; द्विकर्मरूपा, गौणकर्म “लक्ष्मणं” मुख्यन्तु परवर्त्तिवाक्यसमूहम् ।

वत्स—इति विशेष्यभावापन्नं विशेषणं सम्बुद्धौ प्रथमा ।

यूयम्—इति सर्व्वेनामपदं लक्ष्मणादीनां परिवर्त्ते प्रयोज्यं ; मध्यमपुरुषस्य बहुवचनं “भवथ” इत्यूह्यक्रियायाः कर्त्ता । मम—इति सर्व्वेनामपदं रामस्य परिवर्त्ते प्रयोज्यमुत्तमपुरुषस्यैकवचनं पुंलिङ्गं षष्ठीविभक्तियुतं “प्राणसदृशाः” इति

पदान्तर्गतप्राणशब्देन सह सम्बन्धान्वितम् । प्राणसदृशाः—  
इति विशेषणं पदं “यूयं इति सर्व्वं नाम्नः विशेषणम् ।

इत्यमेव दिशा सर्व्वत्र पदान्वयो वेदितव्यः सुकुमारमतीनां  
बालानाम् ।

### गद्ये पदस्थापनव्यवस्था

योग्यताकाङ्क्षान्वितपदकदम्बकं वाक्यमित्यूक्तम् । तादृशे  
संक्षिप्तवाक्ये आदौ कर्त्तृपदमवशेषे च क्रियापदं स्थापनीयम् ।  
अनुज्ञायामस्य व्यक्तयोऽपि भवेत् । यथा—भेषो गर्जति ।  
वृष्टिः पतति । शिशुः क्रौडति । अनुज्ञायां—त्वं गच्छ ।  
गुरो, मां प्रति सदयो भव । एहि त्वम् । दूरमपसर । गच्छ  
त्वं यममन्दिरम् ।

सकर्मिकायाः क्रियायाः प्राक् कर्त्तृपदं देयम् । यद्यपि  
क्रिया द्विकर्मिका तर्हि तस्याः अव्यवहितोत्तरे मुख्यं कर्म  
तत्पूर्वं गौणं कर्म स्थापनीयम् । यथा—शिशुः मातरं  
याति । माता शिशुं चन्द्रं दर्शयति । मालाकारः वृक्षं  
मुष्णं चिणोति । भिक्षुकः धनवन्तं धनं याचते ।

समापिकायाः क्रियायाः प्राक् असमापिका क्रिया सन्नि-  
वेशनीया, एवं तस्याः क्रियायाः यानि कर्मपदानि तानि तस्याः  
क्रियायाः अग्रे प्रयोज्यानि । यथा—

विद्यार्थी स्नेहस्तेन मिष्टान्नमादाय दरिद्रेभ्यो  
वितरति ।

विशेषणपदं विशेष्यस्य प्राक्स्थापनीयम् । यद्यपि द्वयं तदधिकं वा विशेषणं पदं वर्त्तेत, तर्हि चकारादि अव्ययं व्यवहरणीयम् । यथा—दीर्घा रात्रिः । सुन्दरौ बालिका । सुरभि पुष्पम् । सुन्दरं मनोज्ञञ्च प्राकृतिकं दृश्यम् । दीना मलीना च तस्याः शोभा । अर्थशून्या असम्बद्धा च सा वाक् । विद्वान् उत रसज्ञो भवतारणः । राधावल्लभो मूर्खो वा अविमृश्यकारो । श्यामो विवेकहीनः किंवा अकृतज्ञः । रामचरणः शक्तिमान् किन्तु साहसशून्यः ।

विशेषणपदस्य प्राधान्ये तथा विधेयविशेषणे च विशेषणं विशेष्यस्य परतो योज्यम् । यथा—श्यामः अतिशयः सुशीलः । से यादृशः कर्मठः तादृशः एव बुद्धिमान् । यं पुरुषम् उद्योगिनं लक्ष्मोस्तमुपैति ।

क्रियाविशेषणं प्रायेण क्रियायाः अश्ववहितोत्तरे स्थाप्यम् । यथा—तूष्णं गच्छ । मधुरं हसति । वृथा भाषते । तूष्णीं भव । मृदु हसति । “अयि क्लशोदरि, गच्छ शनैः शनैः” “पश्यति सादरं मुहुः” “भटिति प्रविश गेहं” इत्यादि ।

सर्वनामपदस्य विशेषणं प्रायेण तस्य पश्चात् योज्यम् । किन्तु विशेषणस्य प्राधान्ये पूर्वोऽपि भवेत् । यथा—त्वं मूर्खः । स पण्डितः । अहं पौडितः । मोहान्धोऽहं किं ते वर्णयामि रूपं प्रभो ।

उद्देश्यविधेये प्रकृतिविक्रतौ च प्रकृतिपदम् अग्रे स्थाप्यम् । यथा—हरिरेव एतत्कार्यस्य मूलम् । “वेदाः प्रमाणम्” ।

“नक्षत्रभूषणं चन्द्रः” “एको वृक्षः पञ्च नौकाः भवति”  
इत्यादि ।

करणपदं कर्तृपदस्य पश्चात् कर्मापादानाधिकरणाना-  
मर्थतो योज्यम् । यथा रामः स्नेन हस्तेन पुष्पं सञ्चित्य  
शिवायतने तमेव देवादिदेवमर्चयति ।

चलभयादानोत्पत्तिविरामान्तार्धानपराजयभेदार्थकधातूना-  
मव्यवहितपूर्वेष्वपादानं देयम् । यथा—प्रासादात् पतितः,  
सर्पात् भौतः, गुरोरादत्ते, पङ्कज्जातमित्यादि । कस्मिन्  
कस्मिन्नप्यपादानादुत्तरतः कर्तृकर्माकारणाधिकरणानि स्युः ।

यथा—पुष्पात् फलमुत्पद्यते, उद्यानात् पुष्पं गृह्णाति,  
अन्नात् दण्डेन काकं निवारयति, श्येनमुखात् पतितं शुक्र-  
शावकं पिच्छरे रज्ज्व ।

स्थानवाचकं तथा कालवाचकमधिकरणं वाक्यारम्भे प्रयो-  
ज्यम् । यथा—त्रेतायामयोध्यानगरे दशरथो नाम राजासीत् ।  
तत्रैकः सिंहः प्रतिवसतिस्म । स तदा तूष्णीं स्थितः ।  
पेचकः रात्रौ शब्दायते । नक्षत्राणि घोरान्धतमसि द्योतन्ते ।

सम्बन्धपदानि प्रायशः सम्बन्धिपदानां पूर्वेषु स्युः । यथा—  
“भाषादस्य प्रथमदिवसे” कदाचित् सम्बन्धिपदस्य विशेषण-  
व्यत्ययोऽपि दृश्यते । यथा—दुर्वीर्या खलु मानवानामवस्था ।  
पङ्कसरसः पश्चिमे तीरे । तपोवनस्थानतिदूरे ।

‘सम्बोधनं पदं वाक्यारम्भे प्रयोज्यम् । यथा—“देव ! अस्ति  
महतो वार्त्ता ।” भोः ब्राह्मन् ! क्व गच्छसि ? “हा देवि !



इयदेव दर्शनम् ।” “देवि ! अपौदानीं स्वस्था ?” २ २  
पापकारिन् ! किं त्वया कृतम् ? “अयि कृशोदरि ! गच्छ  
शनैः शनैः ,” “अये ! कथमनतिदूरे स्त्रीजनकगृहस्वरं श्रूयते ।”

हा-हन्त-अहहादीनि खेदसूचकाव्ययानि, तथा भोः-अये-  
अयिप्रभृतीनि सम्बोधनप्रापकाव्ययानि वाक्यारम्भे प्रयोज्यानि  
यथा—“हा हा देवि ! इत एव दर्शनम् ।” “हा हन्त !  
तुलसि ! त्वद्वासना प्रोज्झिता ।” “अहह ! महापङ्के  
पतितोऽसि ?” “भो भो वृक्षाः पर्वतस्थाः ।” “अये ! किं  
नागता देवी ?” “अयि ! कठोर ! यशः किल ते प्रियम् ?”

अथ-अपि-कथं-प्रभृत्यव्ययानि तथा किम्-शब्दस्य कति-  
पदानि वाक्यारम्भे प्रयोज्यानि । यथा—“अथ शशकस्य वारः  
समायातः ।” “अथ इयमेव दशा प्राणभृताम् ।” अथवा  
भाग्यविपर्ययस्य परिणामः । अपौदानौमपि वर्त्तते ते तृषा ?  
“अपि समागता देवी ?” अपि कृत्स्नं दिनमुपसितः ? कथं  
सोऽत्रागतः ? कः कुत्र भोः ? कः आगतः ? कतमोऽसौ ?  
कियद्वा तस्य वयः ? कियतौ वर्त्तते वेला ?

नाममध्यमोत्तमपुरुषान्वितपदान्वये उत्तमपुरुषोक्तक्रियैव  
देया । तथा मध्यमपुरुषयुक्तपदेऽपि मध्यमपुरुषोक्तक्रिया  
निवेशनीया । यथा—माधवस्त्वमहञ्च यास्यामः । रामस्त्वञ्च  
भक्षयतम् ।

इत्यादि दिशा सर्व्वं ज्ञातव्यम् । विस्तरतः स्वल्पठित-  
‘व्याकरणाद् ज्ञातव्यमिति’ संचेपः ।



## वाक्यवृद्धिः

लक्षणलक्षितवाक्यविवर्द्धये प्रथमं तावत् विशेषणादिचित्त-  
चमत्कारिपदोपस्थापनेन वाक्यं वर्द्धितव्यम् । यथा—

- (क) बाल्मीकिः रामायणम् अरचयत् ।  
 (ख) महर्षिं बाल्मीकिः महाकाव्यं रामायणम् अरचयत्  
 (ग) महर्षिः बाल्मीकिः सप्तकाण्डेन महाकाव्यं रामा-  
 यणम् अरचयत् ।

(घ) महर्षिः स्वभावकविः बाल्मीकिः सप्तकाण्डेन  
 सुमनोहरं महाकाव्यं रामायणम् अरचयत् ।

(ङ) महर्षिः स्वभावकविः प्राचेता बाल्मीकिः सप्त-  
 काण्डेन लोकशिञ्जार्थम् अभिनवं कुन्दोमयं सुमनोहरम् ऐति-  
 हासिकं महाकाव्यं रामायणम् अरचयत् ।

(च) महर्षिः स्वभावकविः प्राचेता बाल्मीकिः बहुसर्गा-  
 त्मकेन सप्तकाण्डप्राधान्येन लोकशिञ्जार्थम् अभिनवम् अनि-  
 ष्टभ्कुन्दोमयं सुमनोहरम् ऐतिहासिकं महाकाव्यं रामायणम्  
 अरचयत् ।

(छ) स महर्षिः स्वभावकविः प्राचेता बाल्मीकिः प्रथमे  
 वयसि अतिदुर्वृत्तः दस्युः अभवत् । ततः कञ्चित् ब्रह्मणः  
 उपदेशेन स्ववृत्तिमपहाय षष्ठीसहस्रवत्सरपर्यन्तं सुनातनं  
 तारकरामब्रह्मनाम ध्यायन् कलुषादुत्तोर्य नीतिपरिपूर्णेन बहु-  
 सर्गात्मकेन सप्तकाण्डप्राधान्येन लोकशिञ्जार्थं व्याघ्रराभि-  
 घात-हर्तक्रीडशोकोत्थम् अभिनवमनुष्टुभ्कुन्दोमयं सुमनोहरं

शब्दसंस्थानवैचित्रं नैसर्गिकशोभावर्यनवाहुल्यं महाकाव्यं  
रामायणं दुःखमये जगति व्यरचरत् ।

“पातु वो गिरिजामाता” इति वाक्यम्, तस्मिन्  
विस्तृतिः ; यथा—

या खलु पुरा सतीनाम विगृह्य निखिलकर्तव्यकर्मैकायनी-  
भूतं पतिमेव मर्मसमालम्बनरूपं मन्यमाना तदनुसरणमेव  
सकलकर्तव्यादधिकतममवबुद्ध्य जनकमुखात् पतिनिन्दाश्रवणेन  
प्राणान् त्यक्त्वा प्रस्थापयदन्वर्थनाम सतीरमणीनिवहेषु अतिमात्रम् ।  
एवं हि या निखिलनगाधिराजं गिरिवरं हिमालयं जनकत्वेना-  
ङ्गीकृत्य त्रिदशपुरवासिनां प्रदवीमभिगृह्णन्तं प्रचण्डदोर्दण्ड-  
विभौषितभुवनत्रयजनमानसं दैतेयं महिषासुरं त्रैलोक्यविस्मयकरं  
महाहवे सहानुचरं निपात्य जगतां स्वास्थ्यमनयत् । या हि  
नाम पुनर्देवगणस्तवपरितुष्टा विधृतभुवनजनगणमनमोहिणी-  
रूपा हिमवतस्तुङ्गशृङ्गसङ्घमध्याधिरुद्धा दनुजेश्वरवरं कैतवेन  
परिभूय लोकत्रयातिविस्मयकरं समरमभिनयन्ती निहन्ती च  
हेलया मत्तवारणनिभातिशक्तिधरान् शूरशैण्डान् चण्डमुण्डादि-  
दनुजनिकरान् । या किल रक्तवीजशोणितकणचौणीस्पर्शनो-  
त्थशतशोऽपि दानवरणाङ्गनेऽत्यतिकोपना प्रकटितविकटनर-  
सिंहशूकरशृणासीरादिवप्रधानवपुर्विभ्रमा हिरण्यकशिपु-  
कुक्षिविदारितारुणरुधिरकटोद्गाधितखरनखरनिकरसमरसहायकैः  
परहृदयकरत्रासविजृम्भकैः स्रैः स्रैरेवास्त्रैः निखिलावनिपरिव्याप्त-  
रक्तवीजादितिसूतं समनभवनातिथिमनयत् । या नूनमखिल-

‘प्रभुधर्माभिगृह्णन्तौ कृतान्तस्यापि कृतान्तसमौ निशुम्भशुम्भासुरौ  
सहानुचरौ प्रज्वलदघोररणरोहिताश्च समिधौ प्रकल्प्य समूल-  
दानवकुलविनाशेनात्यसहणीयगुरुभाराभिभूतायाः भूतधात्र्याः  
गुरुकठोरभारं लघ्वीत्वमप्रापयल्लीलाललितकलाविलासेन । सा  
‘युगयुगान्तरोद्भवदानवदर्पसूदणी हरहृदयविनासिनी गिरिजा  
माता वः ( युष्मान् ) पातु कायान्तरायात् शश्वत् समा इति ।

“कृष्णः करोतु कल्याणम्” इति वाक्यस्य विस्तृतिः—

हं हो ! यस्तावदिह निखिलललामभूतां ज्योतिः-सोम-  
सवितृपचितविपुलाम्बरकलैवरां शस्यैश्वर्यश्यामलामिमामिलां  
‘परिवर्त्तवारिधिवारिनिलयासीनां समीक्ष्य विधृतविसारवपुर-  
नाद्यान्नायचयं समुद्धृत्य सनातनं पुण्यं पुनर्जगत्प्रनयत् ।  
‘नूनमन्यदा पुनरङ्गीकृतनिकृष्टघृष्टविग्रहः प्रलयसलिललोना-  
चलां विशालदशनमुशलाग्रेण विगृह्य समुत्तोलयत् । पथ्यायित-  
त्रितयकमठकायं प्रकटयन् सशैलसलिलाधारां धरणीमिमामद्यापि  
पृष्ठे परिस्थापयत् । अपि तुर्याश्वर्यरूपं नृसिंहविग्रहं विकलयन्  
सौरप्रकारनखरनिकरघर्षणकर्षणैः शैर्यवीर्याभिमानिनो देत्यपते-  
र्हिरण्यकशिपोरेनःकठिनोषरां हृदयधरां विलोरयत् । योऽदिति-  
कुक्षौ खोक्ततातिरुखमूर्त्तिर्दानेज्यागर्व्वगर्व्वितं दैतेयं बलिं च्छन्नना  
खर्व्वयितुं त्रिपादमितां महीं संभिद्य बद्धवामुखमनुलम्भयंश्च तं  
त्रिदशच्युतान् विबुधांश्च पुनर्निजपुरमनयत् । यः पुनर्निदाघ-  
मध्याह्नमार्त्तण्डप्रकाशशौचशौण्डजमदग्नेरुत्सजन्मा पितृनुदिष्टो  
मातरं निहत्य सुत्यनुद्वेष्टेन पुनस्तेनापि तामजीवयत् । एवं

निशम्यानुचितपरेतपुरमभिगमनं पितृर्थस्सन्महामर्शातिक्रान्ता-  
 न्तःकरणो वलवञ्जलन इव स्कारकुठारधाराक्षिषा प्रचुरेन्धन-  
 प्रकारं प्रखरहैहयभुजवनं ददाह । अतर्पञ्चाप्यभिमानाभि-  
 मानिनां क्षीणीजक्षत्रियाणां क्षेत्रतो गललोहितधारयैकविंशति-  
 कृतः पितरम् । यस्तावन्निकषात्मजोद्देजितादितिजानुनयक्रमेण-  
 खिलवर्थार्थ्यमप्रभावाप्रतिमान्वयसम्भवातिशयैश्वर्यवद्दृशरथोरसा  
 निखिलनारीसौभाग्यवतीशुचिस्वतीनां कौशल्यादीनां जठरेषु  
 चतुर्भिरंशैर्जननमभिगृह्य गौतममन्यूपरतां प्रातःप्रदीप्तसप्ताश्व-  
 भास्वरनीकाशयोषासङ्गतवरिष्ठाङ्गनां प्रस्तरमयीमहत्यां चरण-  
 रेणुना मानुषीं विधाय साक्षात् साक्षिरूपासङ्गसङ्गतिसङ्गमवतो  
 विदर्भराजस्य तनयां जानकीमुपयम्य भवनोपगतः कैकेयोवाक्यानु-  
 पालयता पित्रा निर्व्वीसितः, काननावनीमधिवसन् ऋक्षप्लवगचर-  
 सहायेन सागरपरपारसन्निसन्नां लङ्कां समेत्य जातुधानप्रधानं  
 त्रिलोकाहृतसकलकुलमर्थ्यादं मुषितजनकाङ्गजं शासितुरपि  
 शासितारं रावणमनाख्येयसंख्येन समूलं कुलं समुच्छिनत् । अपि  
 नाम यो हि दैवकीजठरादाकर्षितो रोहिण्यङ्गे वसुदेवदेहजन्मा  
 विशालहलप्रहरणेनाप्रतिममल्ललीलया च शिष्टकष्टमपहर्तुं  
 दुष्टं तदैत्यदलं निहत्य लघ्वकरोद्धरित्वास्तासं बहुम् । यः किल  
 मायादेवौगर्भगृहाज्जन्म परिगृह्य विमुक्तमायिकोऽशेषसुखसमृद्धिं  
 राज्यं भोग्यं भुज्यञ्च तुच्छोपलखण्डवत् मन्यमानाभिनवसार्व-  
 जनीनधर्मं जगत्स्थपयत् । य एव हि वर्त्तमानयुगावतारः  
 कल्किनामा सम्बलपुराभिधेयपत्तने विष्णुयशोधनविप्रौरसि

संभविष्यन् वेदाचारविचारवर्जयिताननार्थान् विनश्यते । स एव युगयुगावतारप्रबलसकलवाधावाधिता विश्वमूर्त्तिर्भगवान् दुःस्थ-  
संस्थानकारिकंशारिः कृष्णो युष्मत्कायजं कर्मजं मानसिकञ्चापि  
कल्याणं करोतुतमाम् इति ।

“शश्वद्रक्षतु वः समस्तविरहात् सोऽयं विभुः शङ्करः”

यदस्ति कल्पान्तसकलचराचरोद्भिज्जजीवजन्तुबीजव्रजार्चिता-  
दिमयुगोद्भवनिखिलसलिलकलापकलेवरम् एवं यज्ज्वलनजाल-  
पुद्गलेन विधिविहितदुतद्व्यमात्मरुचिरामरं प्रापयज्जगज्जना-  
तिहितसिद्धये । यदपि च स्वर्गग्रामगमनयोनिमखमुख्य-  
समापकत्वेनात्महवनकर्तृत्वमाख्यापयत् । ये च तावदसीम-  
महामहिमचिरन्तनानन्तकालं दण्डमुहूर्त्ताद्युपाधिभेदमहो-  
रात्राभ्यामुपजनयतः सूर्यचन्द्ररूपे जगतां पुष्कलेन । किञ्च यत्  
शब्दसमवायिकारणमनाद्यनिधनं गुणितपञ्चगुणान्विताकाश-  
विकाशमेव विग्रहम् । परमन्यत् सकलजीवकुलासुधारण-  
कारणशस्यौषधिनिदानावशीकरणम् । एवं नाम यदेवाक्षुद्र-  
जगज्जीवश्वासप्रश्वाससम्बाहकतया त्वग्याह्यत्वेन च प्रत्यक्ष-  
गोचरम्, जगत्प्राणसंज्ञककायम् । तैरेतैः स्वस्वेन्द्रियग्रामग्राह्यैः  
शम्भोः शरीरैः सार्द्धमनाद्यनिधनोऽयं स विभुः शङ्करः समस्त-  
विरहात् क्लेशकोटिकात् शश्वदविरतं वः युष्मान् रक्षतु ।

विशेषणादिप्रयोगबाहुल्येन वाक्यस्यातिविस्तृतिः कादम्बरी-  
वासवदत्तादिगद्यमयेषु ग्रन्थेषु ज्ञातव्या । तत्रत्योदाहरणानि  
विस्तारभिया न दर्शितानि ।

## वाक्यसंक्षेपः

लक्षणलक्षितवाक्यानामंशविशेषस्य त्यागः वाक्यसंक्षेपः ।  
स तावत् विशेषणाद्यप्रयोजनौपपदांशानां त्यागाद्यैर्भवति ।  
यथा—

( क ) तत्र सकलार्थिसार्थकल्पद्रुमः प्रवरनृपमुकुटमणि-  
मरोचिचयचर्चितचरणयुगलः सकलकलापारंगतोऽमरशक्तिर्नाम  
राजा बभूव ।

( १ ) तत्र सकलार्थिसार्थकल्पद्रुमः सकलकलापारंगतोऽमर-  
शक्तिर्नाम राजा बभूव ।

( २ ) तत्र सकलकलापारंगतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव ।

( ३ ) तत्र अमरशक्तिर्नाम राजा बभूव ।

( ख ) वीरवरः सूचिभेद्यान्यतमसि प्राकारमुल्लङ्घयामास,  
अगृह्य च वित्तापहारिणः करम् ।

( १ ) वीरवरः अन्ये तमसि प्राकारमुल्लङ्घ्यागृह्यत् वित्ताप-  
हारिणः करम् ।

( ग ) अहो ! कष्टं ! कष्टम् !! ब्रह्मदत्तस्य नयनं  
नश्यति नितरां सकृदपि द्रष्टुं न शक्नोति आश्रमपदम् ।

( १ ) अहो ! कष्टम् ! ब्रह्मदत्तनयनहोनः नितरां  
सकृदपि न पश्यति आश्रमपदम् ।



( घ ) देवर्षिर्यथा विष्णुभक्तो भवति तथा शुक-  
देवोऽपि ।

( १ ) देवर्षिशुकदेवो समानो विष्णुभक्तौ भवतः ।

( २ ) देवर्षिशुकदेवौ तुल्यं विष्णुं भजेते ।

( ङ ) द्रौणिहत इति ज्ञात्वा आचार्यः प्राणान् तत्याज ।  
ततस्ते कौरवा विषादविह्वला निरतिशयं चक्रन्दुः । तत्त्वार्थदर्शी  
सञ्जयस्तान् प्रबोधयामास । रणभूम्येकदेशं यात्वाश्रयित्वा  
तत्रानेतुं विनयधरं कञ्चुकिनं प्रस्थापयामास च ।

( १ ) द्रौणिहत इति दुःखा मृतमाचार्यमनुशोचयतः  
कौरवान् सञ्जयः प्रबोध्य रणभूम्येकदेशात् अश्रयित्वा  
कञ्चुकिनं प्रस्थापयामास ।

— — —

## अर्थविवृतिः

( Expression of mining )

कस्मिंश्चिद्वाक्ये वाक्यांशे वा अर्थस्य सहजबोध्यवाक्येन  
विवृतिरर्थविवृतिः । सा च वाक्यस्यदुर्बोध्यपदानां सहजपदेन  
परिग्रहणरूपा । परं पदपरिवर्तनेऽपि हेतुस्य सम्यक् विवृति-

न घटते तर्हि जटिलं सङ्कोचितांशञ्च एकाधिकसहजपदोपस्थाप-  
नेन संप्रसारणं विधायार्थो गृहणीयः ।

अर्थः ( Paraphrase ) यथा—(क) ततः स देवराट् देवैः  
ऋषिभिश्च स्तूयमानस्त्रिपिष्टपस्थो निष्कल्मषो बभूव ।

( १ ) ततः अनन्तरं स देवराट् इन्द्रः देवैः अमरैः  
ऋषिभिः मुनिभिः स्तूयमानः बन्ध्यमानः त्रिपिष्टपस्थः स्वर्गस्थः  
निष्कल्मषः पापशून्यः बभूव अभवत् ।

( ख ) अस्ति समस्तनगरीनिकषायमाणा शश्वदगण्यपण्य-  
विस्तारितमणिगणादिवस्तुजातव्याख्यातरत्नाकरमाहात्म्या मगध-  
देशशेखरीभूता पुष्पपुरी नाम नगरी ।

( २ ) समस्तानां सकलानां नगरीणां पुरीणां निकषः  
आदर्शः शश्वत् निरन्तरं अगण्यैः असंख्यैः पण्यैः विक्रेयैः  
विस्तारितैः मणिगणादिवस्तुजातैः मण्योनां रत्नाणां गणाः समूहाः  
ते एव आदयः मणिगणादयः ; वस्तूनां जाताः समूहाः मणिगणा-  
दय एव वस्तुजाताः मणिगणवस्तुजाताः तैः रत्ननिचयादिवस्तुसङ्घैः  
व्याख्यातं निवेदितं रत्नाकरस्य समुद्रस्य माहात्म्यं महिमा यया  
तथाभूता बहुशोरत्नपूरिता मगधदेशस्य शेखरीभूता शिरोभूषण-  
रूपा पुष्पपुरीनाम नगरी अस्ति विद्यते ।

( ग ) मूर्खस्य च दिशः शून्याः ।

( ३ ) शास्त्रज्ञानहोनत्वेन कर्त्तव्याकर्त्तव्यविमूढतया  
मूर्खः निरन्तरम् अवसीदति, नितरां सर्व्वथा तस्य अवश्यपाल-  
नीयेऽपि कार्य्यं औदासीन्यं घटते ।

व्याख्या—( Explain ) सा हि प्रागुक्तरोत्यनुक्रमेण पूर्वसम्बन्धस्थापनेन च व्याख्यातव्यांशस्य अलङ्कारैतिहासिकत्व-प्रकटनरूपा । यथा—

( क ) अथ तस्य राजकुमारस्य कमलगूढशशिकिरणरज्जु-  
दामनिष्ठहौतमिव रजतशृङ्खलोपगूढं चरणयुगलमासीत् ।

( १ ) निद्रोपगतयोः अवन्तीसुन्दरोराजवाहनयोः दम्पत्योः  
सतोः ; अथ प्रबोधनान्तरं राजकुमारस्य राजवाहनस्य चरण-  
युगलं पादयुग्मं कमलमिति मन्यमानेन नितरां गूढेन भ्रान्तेन  
शशिना चन्द्रेण किरणाः रज्जुदामानीव तैः निष्ठहौतं दृढ-  
वद्धमिव चरणयुगलं राजवाहनस्येति शेषः ; रजतशृङ्खलेन  
रौप्यदान्ता उपगूढं निगडितम् आसीत् । अत्रापह्नुत्यनुप्रा-  
णीतोपमालङ्कारः ।

भावार्थः, तात्पर्यं वा

( Purport )

वाक्यस्थितस्यालङ्कारादिबाहुल्यवर्णनीयविषयस्य परित्यागेन  
मर्मार्थप्रकटनं भावार्थोनाम । यथा—( क ) तारुण्ये सुविमला  
धीरपि प्रावृट्सरिदिवाविला स्यात् ।

( १ ) वर्षासु नद्यभः यादृशं कर्हमाक्तं भवति तथा योवनेऽ-  
त्यतिनिर्मलापि बुद्धिः कलुषिता स्यात् ।

## संक्षेपार्थः

( Summary ) यथा —

(क) अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः ।

सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥

(१) अनुत्पन्नः, उत्पद्य मृतः, मूर्खश्च इति त्रिविधानां पुत्राणां मध्ये अनुत्पन्नमृतौ पुत्रौ मनाक् प्रियौ भवतः । यस्मात् हेतोः मृताजातौ स्वल्पदुःखकारणभूतौ स्तः । मूर्खः चिरजीवनं मातापितरौ क्लेशयेत् ।

(२) मम पुत्रो न जातः उत्पद्य मृतो वा एतत्तु दुःखं स्वल्पकालव्यापकं मूर्खपुत्रस्तु चिरकालं कष्टदायकः । यतः कृतान्तसदृशो मूर्खः ।

रूपकत्यागेनार्थः—उपमानार्थं विहाय उपमेयार्थ-  
विवृतिरूपः । यथा—

(क) अस्ताचलगङ्गरोपगते मार्त्तखड्गमृगाधिपे ध्वान्तदन्ति-  
राजः निखिलावर्नी निःशङ्कं विचचार ।

(१) सूर्यास्तमिते जगदन्धकारमयमासीत् ।

अनुक्तपदपूरणम्—(Filling up of ellipses)

वाक्यान्तर्गतानुक्तपदमर्यादिना सङ्गमय्य बुक्तिसाहाय्येन संस्थापन-  
रूपम् । यथा—

(क) — वत्स ! — त्वां — अब्रुवम् ; — सविशेषं — कदाचित् —  
सांसारिकामोदादिषु — वर्त्तितव्यम् । — सततं — गुणानुकीर्त्तनं —  
येन — विच्युति — घटेत ; — सर्वदा साध्यम् — ।

(१) प्रिय वत्स ! प्राक् त्वां यदब्रुवम् । तत्सविशेषं  
कर्त्तव्यम् । कदाचित् मोहवृत्त्या सांसारिकामोदादिषु मुधा न  
वर्त्तितव्यम् । परं सततं परमेशगुणानुकीर्त्तनं कर्त्तव्यम् ।  
येन स्वकर्त्तव्यात् — विच्युति न घटेत ; तत्र सर्वदा यथा साध्यं  
यतितव्यम् ।

(२) हे वत्स ! अहं त्वामेकदा अब्रुवम् । तत्-  
सविशेषमवधेहि । न कदाचित्स्वया सांसारिकामोदादिषु बाहु-  
ल्येन वर्त्तितव्यम् । गुरुमुखात् सततं शास्त्रगुणानुकीर्त्तनं  
श्रोतव्यम् । येन तस्मात् विच्युति न घटेत । एतत् सर्वदा  
तव साध्यमिति ।

(३) अयि वत्स ! पुरा त्वां सर्वमब्रुवमधुना सविशेष-  
मवगच्छ कदाचित् केषु सांसारिकामोदादिषु कथं कथमपि  
वर्त्तितव्यम् । नक्तं दिवं सततं महर्षीयगुणानुकीर्त्तनं  
विधेयम् । येन तस्मात् विच्युतिः कदा न घटेत । एवं सर्वदा  
कायपातेनापि साध्यं तव ।

## सन्धिनियमः

संस्कृतरचनाया प्रायश एव यत्र तत्र सन्धिसम्भवः,  
नितरामधोलिखितवाक्यं सर्व्वथा स्मर्त्तव्यं सुकुमारमतीनां  
शिक्षार्थिनां तथाहि—

सन्धिरेकपदे नित्यो नित्यो धातूपसर्गयोः ।

सूत्रेष्वपि तथा नित्यः सचान्यत्र विभाषितः ॥

समासवाक्येषु तथा उपसर्गधातुषु सूत्रेषु च सन्धिरवश्यमेव  
करणीयः । अकृतं दोषः स्यात् ।

(क) 'विदारितारुणरुधिरछटोद्भाषितः, इत्यादौ 'विदारित-  
अरुणरुधिरछटा-उद्भाषितः' इत्यादि ।

(ख) 'व्यजेष्ट' 'समभिव्याहार' 'प्रोज्झितः' 'समुद्धरति'  
इत्यादौ—वि-अजेष्ट, —सं-अभि-वि-आ-हार, प्र-उज्झितः, सं-  
उत्-हरति, इत्यादि ।

(ग) निक्षेववर्णः समान्नायः, वासदोर्द्वयोश्च, क्लीवाक्लीवयोः  
क्लीवमवशेष्यं स चैकवद्भा, इत्यादौ—सिद्धः-वर्णः समान्नायः, वा-  
अस्मदोः-द्वयोः च, क्लीव-अक्लीवयोः क्लीवं-अवशेष्यं सः-च-एक-  
वत्-वा-इत्यादि ।

समासादेरन्यत्र सन्धेर्व्विकल्पो ज्ञेयः । यत्र यत्र सन्धिकृते  
अवणकटुत्वं तथा अर्थस्य च दुर्बोधत्वं घटते तत्र तत्र सन्धिर्न  
करणीया । यथा—मुग्धैकात्यतिकोपना, तानेन सहर्षै-

काव्यटवीं, इत्यादौ—सुधा, एका, अतिकोपना, एवं नृ  
( नरेण ) अनेन, सह, ऋच्छ, एकाकी, अटवीं, एवमेव सर्वत्र  
ज्ञातव्यम् ।

### यतिचिह्नम् ( Stops )

उच्चारणविच्छेदसूचको जिह्वाया विरामो यतिः । सा हि  
अग्रदेशीयैः पण्डितैः कन्दः शास्त्रेषु विशेषेण विहिता । तद्ज्ञाना-  
भिलषतस्तेष्वपि शास्त्रेषु अनुसन्धानीया । इह तु गद्यमये  
वाक्येऽधोलिखितसङ्ख्याङ्कपातेन च या पाश्चात्यपण्डितैरभिहिता,  
सैव वेदितव्या । यथा हि सा—

(१) ,—कमा (comma) चिह्नमेतत् एकसंख्यकोच्चारण-  
कालं यावत् जिह्वायाः विरामरूपम् ।

(क) यादवः, केशवः, त्वम्, अहञ्च क्रीडनार्थं यास्यामः ।

(ख) दौनो वा, विभवयुक्तो वा, न जातु पापमाचरेत् ।

(ग) किं करोमि, क गच्छामि, किमप्यवगन्तुं न शक्नोमि ।

(२) ;—सेमिकोलन् ( semicolon ) द्वितोयच्छेदः ।

अयं तावद्विसंख्यकोच्चारणकालपर्यन्तं विरामरूपः । स तु  
प्रायश एव क्षुद्रक्षुद्रवाक्येषु तथा किन्तु, यद्यपि, नितरां

अतएव प्रभृति अव्ययपदानां पूर्वस्थपदान्ते एषामव्ययानाम-  
ग्रतः निवेशनीयः । यथा—

(क) तत्र क्षुधिताय अन्नम् ; तृषिताय जलम् ; रोगिणे  
औषधम् ; अर्थिने अर्थम् अर्पयन्ति ।

(ख) बहुधोपदेशमवोचदाचार्यः , तथा अहमपि अनु-  
नयामि , किन्तु वैराग्यप्रणोदितः स मे यवीयान् गृहं शिशुत-  
नयाम् ; तथा साव्वीमपि च जायामपहाय काननमवनीं  
गतः ।

(ग) तदसीमोद्यमेन विधातव्यम् , यद्यपि तत्र कृतकार्यो  
न भवेः तर्हि का लज्जा ?

(घ) ये खलु परद्विद्वान्वेषिणः , ते हि प्रधानतः परेषां  
दोषमन्विषन्ति , नितरां स्वदोषं न पश्यन्ति ।

(ङ) तस्मिन् यादृशो मे विश्वासः तेनानुमन्ये , ततः  
प्रत्याख्यातो न भविष्यसि ; अतएव विकल्पमपहाय त्वरा गच्छ ।

(३) :—कोलन् (colon) तृतीयच्छेदः । अयन्तु त्रिसंख्य-  
कोच्चारणकालं यावत् विरामरूपः । अस्य यूरोपीयभाषान्तरे  
व्यवहारो विरलः । वर्त्तमाने जगति तदभाषानुकृतात् यत्र  
तत्र बाहुल्येन व्यवहारो दृश्यते । यथा—

(क) आदौ साकारोपासनां विना वाङ्मनसोरप्यगोचरस्य  
ब्रह्मणः कल्पनानोत्पद्येत ; साकारवादिनां मतमेतत् ।

(ख) संख्याकरणेषु तथा द्रव्यादिविषयनिराकरणेषु च  
प्राक् तृतीयच्छेदः देयः (colon) तदन्तेषु सरलरेखा योज्या ।



यथा—पञ्चनवत्यधिकाष्टादशखृष्टीयशके ( १८८५ ) लोकगणना-  
विवरणे :—

एते... उत्पन्नाः, इयन्तो मृताः । इत्यादि । तस्य  
गृहकक्षे द्रयन्ति सज्जाद्रव्यानि :—एका खट्वा, त्रीणि तैल-  
चित्त्रालेख्यानि ; पञ्च पुस्तकाधाराः, द्वे विंशतिः ग्रन्थाः,  
रमणीयानि बहुविलासवस्तूनि । इत्यादि ।

(४) ।—पूर्णच्छेदः, अयं किल वाक्यसमाप्तौ स्थापनीयः ।  
एङ्ग्लोभाषायां (in English) यत्र (.) फुलष्टप् Fulstop  
योजनीयः, तत्र तत्रार्थे चास्य व्यवहारः । यथा (क) स गच्छति ।  
दुःखमय एव संसारः ।

(ख) त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागम् ।

कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम् ॥

(५) ?—प्रश्नज्ञापकचिह्नमेतत् यथा—

(क) किं करोषि ? उद्धृतांशः सरलभाषयानुव्यताम् ?  
निन्दुकस्य का कथा ?

(६) !—चिह्नमिदं सम्बुद्धौ, तथा घृणाहर्ष-विषाद-  
विस्मयादिषु, अहो-हा-अयि-भोः-अये-वत-हन्तप्रभृत्यव्ययवाक्येषु  
व्यवहरणीयम् । हे भगवन् । मां रक्ष । अहो ! दुर्दैवमा-  
पतितम् । हा हा । प्रिये ! जानकि ! एतदेव दर्शनम् ।  
धिक् धिक् ! पापार्जितं धनम् ।

( ७ ) - हाइफेन ( hyphen ) चिह्नमेतत् संयोजकम् ।  
समस्यमानपदानां परस्परसम्बन्धस्थापकम् । यथा—

( क ) ' साभ्य-समीरण-कम्पित-जल-नील-नलिनीव' चञ्चल-लोचना इत एवाभिवर्त्तते । प्रभात-वाताहतकम्पिताकृतिः कुमुदती-रेणु-विसङ्ग-विग्रहम् ।

( ख ) मुद्राक्षरसन्निवेशकाः ( Compositeders ) यदि सन्निविष्टपङ्क्त्यवशेषे शब्दगतमक्षरं पूर्णत्वमानेतुं न प्रभवन्ति ; तर्हि क्षुद्रायतनयानया सरलरेखया पूर्ववर्त्तिपदांशं परवर्त्ति-शब्दसमूहेन समं, संयोजक इत्यभिज्ञानार्थं निवेश्य प्रतिबोधयन्ति । यथा पङ्क्त्यवशेषे अक्षरम् "उप" परवर्त्तिपङ्क्त्यग्रे "कारकः" इत्यादिस्थले पूर्वपङ्क्त्यवशेषे चिह्नमिदमर्पयन्ति । तेन बोद्धव्यं "उपकारकः" इति ।

( ङ ) " " — उद्धरणचिह्नम् ( Quotation mark ) इदं तावदन्यदीयवाक्योद्धरणे व्यवहार्यम् । यथा—

( क ) तेनाभिहितं "तत्र दिवसेऽपि शृगाला विचरन्ति" इति । "नानृतात् पातकं महत्" इति साधूक्तात् कदापि मिथ्या न भाषेत । तस्य तातः आदिशति—"तिनकड़ि, डाक-गृहात् टिकेट् द्वयं, षट् पोष्टकार्डं च गृहीत्वा तूर्णमागच्छ" । "फेड फेड" रवेण शब्दायन्ते सारमेयाः ।

( ञ ) ' — लोपचिह्नम् ( Mark of ellipsis ) शब्दान्तर्गताक्षरलोपार्थमेतत् व्यवहरन्ति । नितरां संस्कृत-भाषासु तदसम्भवात् वङ्गादिभाषानिर्मितपद्यादौ उदाहरणं द्रष्टव्यम् ।

( १० ) — द्वाश ( dash ) भग्नचिह्नम्, इदं तावत्

आरब्धकथान्ते अन्यदीयकथाप्रसङ्गे, तथा यथेति अव्ययान्ते प्रयोज्यम् । यथा—

( क ) सुचिरं नगरवासेन शरीरं तव यादृशमस्वस्थं वर्त्तते, तेन मन्ये विदेशभ्रमणं—दोषदीनं ग्रामावस्थितिश्च—अत्यतिशयं ते शुभं भविष्यति ।

( ख ) महावंशोत्पन्नोऽयं सैनिकः ;—इरेजाक्षौहिणीषु तथा जम्भणवाहिणीषु च अस्य प्रभूता प्रतिपत्तिरवलोक्यते ।

( ग ) यथा—वीरचरिते । यथा—रामायणे । तथा—मनौ । तथा हि—याज्ञवल्करः ।

( ११ ) ( )—प्याराय्थिस् ( Paranthysis ) वा [ ] ब्राकेट् ( Braces ) बन्धनौ । चिह्नमेतत् वाक्यान्तर्गतस्य कस्यापि पदस्य, उत वाक्यांशस्य वा व्याख्यायां तथा अप्रासङ्गिककथावतारणादिषु च व्यवहरणीयम् । यथा—

( क ) उज्जयिनीपतेः ( विक्रमादित्यस्य ) नवरत्नमण्डिता ( कालिदासधन्वन्तरिप्रमुखैर्नवकविप्रधानैः, परिशोभिता ) परिषदासीत् । केन तस्याः ( मालवदुहितुः ) प्रतिवृत्तिः रक्षिता ?

( ख ) अथ [ अनन्तरम् ], तस्य [ शशकस्य ] वारः [ समयः ] समायातः [ उपस्थितः ] इत्यादि ।

( १२ ) ..... ; \* \* \* \* ; इमे चिह्ना अन्यदीयवाक्यग्रहणे तद्वाक्यान्तर्गतांशोलांशस्य किमु अप्रयोजनीयतया कस्यचिदंशस्य वर्जनाय व्यवहरणीयेति । यथा—

( १ ) सुरामन्तः सः सुखिकालयात्. ....( रूपजीविनो)-  
गृहम् अच्छत् । ( २ ) भयविक्रवः\*\*\* शेषेतं दृष्ट्वा प्रकृति-  
स्थोऽस्मि । ( ३ ) आः । कः ?—एषोऽहम् । इति ।

दोषः—

“काव्यापकर्षका<sup>१</sup> दोषाः” इत्युक्तेः सव्वतः एव दोषः  
परिहर्तव्यः काव्यस्य । उक्तञ्च प्राक् “तदल्पमपि नोपेक्ष्यं कावेर  
दुष्टं कथञ्चन । स्यादपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।”  
इति । अतएव काव्यदोषो न चापेक्षणीयः, न वा मर्षणयोग्यश्च ।  
ननु तर्हि क एव सः ? यं विज्ञाय परिहर्तुं शक्यः इत्या-  
काङ्क्षायामाह—

दुःश्रवानुचितार्थत्वे ग्रास्यत्वं निहतार्थता ।

क्लिष्टत्वमप्रतीतत्वं विरुद्धमतिकारिता ॥

अविकृष्टविधेयांशभावः सन्दिग्धता तथा ।

पदवाक्याश्रिता दोषाः \* पदांशेऽपि कौचन ॥

क्रमेणास्योदाहरणं ज्ञातव्यम् । तत्रादौ दुःश्रवत्वं परुषवर्ण-  
तया श्रुतिदुःखावहत्वं, तच्च पदगतं यथा—

“अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गमङ्गितरङ्गितैः ।

आलिङ्गितः स तन्वङ्गा कार्त्तार्थं लभते कदा ॥” ( कं )

\* एकमात्रस्य पदस्य दुष्टत्वं पददोषः, एकाधिकानां पदानां दोषयुक्तं वाक्य-  
दोषः, पदानां परिवर्त्तनेऽपि दोषस्य तादवस्थेऽर्थदोष इति ।

( कं ) स मङ्गलस्थो युवा अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गा कन्दर्पोत्सवमन्दिरायमाणा.

अत्र कार्त्तार्थमिति श्रुतिकटु । वाक्यगतं यथा भट्टी—  
 “सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनताप्सीत् सममंस्त बन्धून् ।  
 व्यजेष्ट षड्वर्गसरंस्त नीती समूलघातं न्यवधीदगोक्ष ॥” (ख)  
 इति, पदांशे यथा कुमारे—

“तदगच्छ सिद्धैः कुरु देवकार्यम्” इत्यत्र ‘क्षेत्र’ इति  
 पदाशं दुष्टम् ।

अनुचितार्थत्वम् अयत्तार्थत्वं वा पदगतं यथा—

“तपस्त्रिभिर्या सुचिरं लभ्यते

प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ।

प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो-

रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥” (ग) इति

कटाक्षालेषा या भङ्गयः प्रकारास्तासा तरङ्गितैः तरङ्गवदाचरणैः उत्तरोत्तराविरुद्धरूपैः  
 उपलक्षितया।सहितया वा, तण्डुलया कण्डाङ्गया आलिङ्गितः सन् कार्त्तार्थं कताथतां कदा  
 लभते लप्स्यते प्राप्स्यतीत्याथ ।

(ख) स राजा दशरथः वेदान् अध्यैष्ट अधीतवान् त्रिदशान् तिष्ठो दश बालान्  
 यौवनप्रीडा अवस्था येषां तान् देवानित्याथ । अयष्ट यज्ञेनाश्वितवान्, पितॄन्  
 अताप्सीत् आङ्गतर्पणादिभिः प्रीणितवान्, बन्धून् पितृव्याधावादीन् सममस्त सत्यक्  
 मानीतवान्, षष्ठा कामक्रोधादीनां वर्गः समूहः त व्यजेष्ट विशेषेण जितवान्, नीती  
 नीतिशास्त्रे, अरस्त रतवान् । किञ्चेति चार्थः, अरीन् शत्रून् समूलघातं मूलसूत्रसहितं  
 यथातथेत्याथः, न्यावधीत् निहतवान् ।

(ग) तपस्त्रिभिश्चान्द्रायणादिकृच्छ्रतपरायणैः जनैः या गतिं सुचिरं सुदीर्घ-  
 कालेन लभ्यते प्राप्यते सत्रिभिः याज्ञिकैः जनैः प्रयत्नतः बहुप्रयासेनेत्याथः, या गतिः च इष्यते  
 वाञ्छ्यते, रणाश्वमेधे संयामरूपान्श्वमेधयज्ञे पशुताम् वध्यच्छागलत्वम् उपागताः निहता

‘अत्र पशुपदं कातर्यमभिव्यनक्तौत्यनुचितार्थत्वं, वाक्यगत-  
न्तङ्गम् ।

ग्राम्यत्वं \* केवलं लोके एव स्थितत्वम् । पदगतं यथा—

“किं रूपा शोणितस्यर्द्धी गल्लस्ते स्पन्दते भृशम्” ( घ )

वाक्यगतं यथा—

“ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषं ।

करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥” ( ङ )

प्रथमे गल्लशब्दः, द्वितीये गल्लादयाः शब्दा ग्राम्याः ।

निहतार्थत्वम् उभयार्थकस्य शब्दस्य अपसिद्धेर्भिः प्रयोगः, यथा—

“नवनौरदकान्तिनाम्बुकेलोप्रहतानां व्रजसुन्दरीकुचानाम् ।

मदपुच्छभरेण मोदमानं यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत् ॥”

इति भावः, अतएव यशस्विनः कीर्त्तिमान् वीरा इति शेषः, ता गतिः स्वर्गगमनरूपमिति  
भावः, आशु शीघ्रं प्रयान्ति गच्छन्ति । अत्र कातर्यं दैन्यमित्यर्थः, पशवो हि परायत्तत्वात्  
सर्वदा दीना एव, तादृशवीराणाम् स्वाधीनवृत्तित्वात् पशुत्वकीर्त्तनमतीवायुक्तमिति  
तात्पर्यम् ।

“कावेऽप्यश्लौकिकचमत्कारिपटप्रयोग एव युक्तः, न तु सामानाजनप्रयोजन  
पटप्रयोगः, तथात्वं काव्यस्य चमत्कारित्वं नसतीति भावः । ग्राम्यः ग्रामीजनः  
सामानाजन इत्यर्थः, तस्य भावः ग्राम्यात् यत्र प्रयोगेन ग्राम्यात् प्रतीयते तादृशप्रयोगो  
ग्राम्यः, न तु सङ्घटयानामप्रीतिकरः इत्यास्य टीकत्वमिति सतां हृदयम् ।

( घ ) रूपा कीपेन शोणितस्यर्द्धी रक्तनिभः ते तव गल्लः कपोलदेशः इत्यर्थः,  
भृशम् अतिशयं स्पन्दते स्फुरति । गल्लशब्दोऽत्र ग्राम्यः ।

( ङ ) ताम्बूलभृतगल्लं ताम्बूलपूषणवदनम् इत्यर्थः, अयं मानुषः भल्लं सुष्ठु इत्यर्थः,  
जल्पति कथयति किञ्चेति लघुः, यथा तथा सदैव खादनं भोजनं पानञ्च करोति ।

शम्बरशब्दो देत्यविशेषे प्रसिद्धः, इह तु जले निहतायः ।  
यमुनाशम्बरं यमुनाजलम् अम्बरम् आकाशं व्याप्तम् ।

क्षिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वं पदगतं यथा—

“ताः क्वाप्यहो घनघटा विलयं प्रयाता ज्योत्स्नाश्चिराय विलास-  
शोलाः, चोरोदजावसति जन्मभुवः प्रसन्ना अद्यानुरञ्जयत भास्वति  
दक्षिणाशम् ॥”

अत्र चोरोदजा लक्ष्मोस्तस्याः वसतिः पद्मं तस्य जन्मभुवो  
जलानौत्यतिक्रष्टेन बोधः । वाक्यगतं यथा—

“धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकाम कुरङ्गशावाक्षराः ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥” ( च )

अत्र धम्मिल्लस्य केशबन्धस्येत्यर्थः, शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं  
न रज्यतीति सम्बन्धः क्षिष्टः ।

अप्रतीतत्वमेकदेशशास्त्रान्तरमात्रप्रसिद्धत्वमर्थः । यथा—

“तोर्येन परिधौताघो योगेन दलितशयः ।

तपसा क्षपितक्षेत्रो मुक्ताग्रासन्नो महाशयः ॥” इति

योगेन चित्तवृत्तिनिरोधेन दलितो नाशितः आशयो मिथ्या-  
ज्ञानजन्यः, संस्कारविशेषो येन सः । आशयशब्दो वासनार्थो  
योगशास्त्रे एव प्रसिद्धः इति । विरुद्धमतिकारिता यथा—

( च ) अपूर्वबन्धे वृत्तपक्षे ज्ञान नैषुखमित्यर्थः, यस्य, तथाभूताया कुरङ्ग-  
शावाक्ष्या मृगलोचनाया धम्मिल्लस्य सयतकेशकलापस्य शोभा सौन्दर्यं प्रेक्ष्य कस्य मानसं  
मनः विकाशम् अवार्थं न रज्यति न रक्तुं भवति सर्वस्यैव रज्यतीत्यर्थः ।

“उदारचरितो धीमान् सर्वलोकप्रियङ्करः ।

अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥” (क) इति

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम्, अकार्येषु मित्र-  
मिति विवक्षा प्रतीतिः ।

अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तस्य भावः  
अविमृष्टविधेयांशभावः, विधेयाविमर्शो वा कथ्यते, यथा कुमारे—

“वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता

दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।

वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते

तदस्ति किं व्यस्तमपि चिलोचने ॥” (ज)

अत्र अलक्ष्यं विधेयं तस्य च समासे गुणीभावादप्राधान्येन  
निर्देशः । यथा वा—

“अभुक्ता भवता नाथ, मद्भूतमपि सा पुरा ।”

अत्र नञो विधेयत्वमेवोचितम्, यथा विक्रमोर्व्वशीये—

“नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न हसतिशाचरः

सुरधनुरिदं दूमन्सशराश्लाघं न तस्य ।

(क) असौ प्रसिद्ध एक एवेत्यर्थः, उदार सुमहत् चरित यस्य तादृशः, धीमान्  
प्रज्ञावान् सर्वलोकानां साधारणानामित्यर्थः, प्रियङ्करः प्रियकारी अकार्यमित्रम् अहेतुकः  
सुहृत्, तस्य सम्बन्धे इत्यर्थः, किं वर्णयामहे, वर्णनं कुर्वी, न किमपीति भावः ।

(ज) हे बालमृगाक्षि, मृगशावकलोचने, वपुः शरीर हरस्तेति शेषः,  
विरूपाक्षि विवक्षतरूपाणि अक्षीणि नेत्राणि यस्य तन् विरूपाक्षम् कुतस्त्विति भावः ।  
अलक्ष्यम् अज्ञात जन्म यस्य तस्य भावस्त्वज्ञा, कुलमपि न ज्ञायते इत्यर्थः । तथा



अयमपि पटुर्धाराशारो न बाणपरम्परा  
 कनकनिकषस्त्रिधा विद्युत् प्रिया न ममोर्व्वशौ ॥” (भ)  
 वाक्यगतो यथा महानाटके—

“न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।

धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा

स्वर्गग्रामटौकाविलुण्ठनवृथोच्छ्रूने किमेभिर्भुजैः ॥” (ज)

“अनुवादमनुक्तौ न विधेयमुदीरयेत्” इत्यनुशासनात्  
 उद्देश्यस्य प्रथममनन्तरं विधेयस्य निर्देशो युक्तः, अत्रायमेव  
 ‘न्यक्कारः’ इति वक्तुमुचितम् । उद्देश्यमुक्तौ विधेयाभिधानस्यै-

दिगम्बरत्वेन नग्नत्वेन वसु धन निवेदितं नास्तीति ज्ञापितमित्यर्थः । यद्वि वित्तं भवति  
 तदा कथं दिगम्बरो भवति, अतो ज्ञेयो निर्धनोऽयमिति । अतो वरेषु उपयन्तृषु  
 यत् रूपादिकमित्यर्थः । मृग्यते अन्विष्यते त्रिलोचने महेशे व्यस्तम् अपि एकमपि  
 समस्तं सा भूदिति भावः, अस्ति किम् ? नास्ति एवेत्यर्थः ।

( भ ) अयं नवजलधरः नूतनमेघः सन्नद्धः समुदितः दृप्तशसौ निशाचरश्चेति  
 स न, इदं दूराकाष्ठं दूरादृ आकाष्ठं सुरधनुः इन्द्रायुधं तस्य निशाचरस्य शरासनं कार्मुकं  
 न, अयमपि पटुः प्रबलः धारासारः वृष्टिधारापातः न, बाणपरम्परा शरवर्षणधारा  
 कनकस्य निकषः कषणरखा तद्वत् स्त्रिधा स्फुरन्ती विद्युत् इत्यमिति शेषः । मम प्रिया  
 उर्व्वशौ न ।

( ज ) मे मम अरयः विहिष इति यद् अयमेव न्यक्कारः निकारः अवमानन-  
 मित्यर्थः, तत्रापि अरिष्वपि, असौ अरिः राम इति भावः, तापसः तपस्वी बुद्ध इति भावः,  
 सोऽपि तापसोऽपि अत्रैव लङ्कायामेव आगतोति शेषः, राक्षसकुलं निहन्ति नाशयति  
 अहो आश्चर्य्यम् रावणो जीवति एतावति निकारे रावणस्य जीवनमाश्चर्य्यमित्यर्थः,

चिन्त्यात् । तत्र च पदरचना विपरोता कृतेति वाक्यगतोऽत्रायं दोषः । न खलु न्यकारे इदम्पदार्थत्वं विधीयते, अपि त्विदम्पदार्थं एव न्यकारत्वमिति, एवं किमेभिरित्यनेन भुजानां वृथात्वं विधीयते । न च वृथोच्छूनानां भुजानां वृथात्वं विधातुमुचितं किन्तूच्छूनानामेव । एवञ्च वृथात्वविशेषितमुच्छूनमत्र नानुवाद्यं किन्तूच्छूनत्वमात्रम् । रचना चात्र पदद्वयस्य त्रिपरीतेति वाक्य-  
दोषः । यथा वा—

“कान्तिमैकान्तिकीं बिभ्रत् कुमुदिन्याः शशी यथा ।

आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु समागतः ॥” ( ट )

अत्र ‘असौ’ इत्यत्र विधेयत्वमेव भवितुं युक्तं, तच्च यच्छब्दनि-  
कटस्थतया अनुवाद्यत्वप्रतीतिकत् । सन्दिग्धत्वं यथा  
काव्यप्रकाशे—

“आलिङ्गितस्तत्रभवान् सम्पराये जयश्रिया ।

आशीःपरम्परां बन्धां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥” ( ठ )

शक्रजीतम् इन्द्रजितं धिक् धिक् निन्दासीत्यर्थं, इन्द्रविजयिनोऽपि तापसात् पराजयो  
लब्ध इति भावः । प्रवीणतया जागरितेन कुम्भकर्णेन वा किम् ? न किमपि कार्यम्  
साधितमित्यर्थः, तथा खर्ग एव यामटिका क्षुद्रोग्राम तस्या विलुण्ठनेन वृथा लब्धूनाः  
सहसा ते एभिः सदैवैरित्यर्थः, भुजे बाहुभिः विप्रतिसख्यैरिति भावः, किम् ? न  
किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।

( ट ) हे सुभ्रु, शोभनभ्रुयुगलशालिनि, शशी चन्द्रा यथा कुमुदिन्याः  
ऐकान्तिकीम् अतिशया कान्तिं शोभां बिभ्रत् धारयन् तथा ते तव नेत्रे लोचने यः  
समागतः समुपस्थितः असौ आनन्दयति प्रीतिमुत्पादयति ।

( ठ ) सम्पराये युद्धे जयश्रिया आलिङ्गितस्तत्रभवान् पूजाः खं बन्धां बन्धनीयां

अत्र 'बन्ध्याम्' इति किं बन्दोभूतायाम् उत बन्दनीयामिति सन्देहः । व-बयोरभेदात् बन्ध्यां नमस्याम् आशीःपरम्परां कर्णे कृत्वेति संबन्धः, अथवाशीःपरम्परां कर्णे कृत्वा बन्ध्यां बन्दोभूतायां नार्थ्यां कृपां कुर्विति संबन्धः ।

वाक्यमात्रगतान् दोषानाह—

वर्णानां प्रतिकूलत्वं सन्धौ विश्लेषकष्टते ।

अधिकन्यूनकथितपदताऽक्रमता तथा ॥

भग्नप्रक्रमता ख्यातिहतता सङ्करोऽपि च ।

गर्भभित्तत्वं तथा काव्ये दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥

वर्णानां रसानुगुणत्वं वञ्चते तद्वैपरित्यं प्रतिकूलत्वम् । यथा वेण्याम्—

“कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं

मनुजपशुभिर्निर्मय्यदैर्भवद्भिरुदायुधैः ।

नरकरिपुणां सार्द्धं तेषां सभौमकिरोटिनां-

मयमहमसृङ्गेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥ (ड)

नमस्यामित्यर्थः, आशीःपरम्पराम् आशीर्वाद्यपङ्क्तिम् अर्थोऽयं तश्च प्रयुक्तामित्यर्थः, कर्णे कृत्वा आकर्ण्य कृपां कुरु विधेहीत्यर्थः । अलिङ्गित इत्यनेनायाश्रय सूचयति ।

( ड ) यैः निर्मय्यदैः, मर्यादा धर्मव्यवस्था तद्रहितैरित्यर्थः । उदायुधैः अस्त्रधारिभिः मनुजपशुभिः पशुरूपैर्गुण्यैर्भवद्भिः इदं गुरुपातकं महापातकम्

अत्र हि गाढबन्धत्वं दीर्घसमासत्वञ्च उचितम् । किन्तु तद्वैपरित्यादेव दोषः ।

सन्धौ विश्लेषो द्विविधः, व्याकरणलक्षणानुसारेणः कृतः, अनुशासनमुल्लङ्घ्य स्वेच्छया कृतश्च । पूर्वः असकृदेव दोषः, द्वितीयस्तु सकृदपि । आद्यदोदाहरणं यथाह विश्वनाथः—

“सुखं पूर्णः शरच्चन्द्रो मृणालञ्च भुजद्वयम् ।

दलिते उत्पले एते अक्षिणौ अमलाङ्गि ते ॥” ( ढ )

द्वितीयाहं एवंविधसन्धिविश्लेषस्य असकृत् प्रयोग एव दोषः । अनुशासनमुल्लङ्घ्य वृत्तभङ्गभयमात्रेण सन्धिविश्लेषस्य तु सकृदपि यथा चाह स्म स एव—

“राजते तारकाराजी रत्नेराशिरिवाम्बरे ।

वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चनविन्दुवत् ॥” ( ण )

सन्धौ यष्टता श्रुतिदुःखावहत्वम् यथा—

“उर्व्वसावत्र तर्व्वालो मर्व्वन्ते चार्व्ववस्थितिः ।

नात्रर्जुं युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥” ( त )

आचार्यं विनाशरूपमिति तात्पर्यम् । कृतम् अनुमत वा दृष्टम् अयम् अहम् नरक-  
रिपुणा कृणु य सार्द्धं मभीमकिरीटिनां कृणुमीमाञ्च नरहितानामितार्थं, तेषां भवतान्  
अमृडमेदोममै रक्तवसासमै दिशा वलि पूजा करोमि, तान् नाशयामीति भावः ।

( ढ ) हे अमलाङ्गि, ते तव एते अक्षिणौ चक्षुषौ दलिते प्रस्रुटिते उत्पले नीलोत्पलधुगलस्वरूपे इत्यर्थः । स्पष्टमनात् ।

( ण ) वासवाशामुखे पूर्वदिशि उपरिभागे इन्दुश्चन्द्र, चन्दनविन्दुवत् भाति, इदानीमपि पाटयान्तरितापराश्रयतया कियदंशसंश्रय प्रकाशादिति भावः । स्पष्टोऽपराश्र ।

( त ) अत्र मर्व्वन्ते 'मरोरन्ते' असौ उर्व्वीं मर्हौ चार्व्ववस्थितिः, सुष्ठुस्थिता,

अधिकपदता यथा—

“विरिञ्चि-दामोदर-रुद्ररूपैः सृष्टिस्थितिप्रत्यवहारहेतुम् ।

चिरन्तनं योगिगणैकलक्ष्यं सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम्॥”

अत्र श्लोके ‘पिनाकपाणिम्’ इति विशेषणमधिकम् ।  
कुमारे च यत्—

“तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि

सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।

कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे-

धैर्य्यच्युतिं के सम धन्विनोऽन्ये ॥” ( थ )

इत्यत्र च सातिशयदुष्प्रधृष्यत्वसूचनाय ‘पिनाकपाणे’ इति,  
विशेषणपदं युक्तमेव ।

न्यूनपदता यथा वेण्याम्—

“तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां

वने व्याधैः सार्द्धं सुचिरमुषित वल्कलधरैः ।

विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं

गुरुः खेदे खिन्न भजति नाद्यापि कुरुषु ॥” ( द )

तर्ज्जाली तरण्या’ अथैषी अत्र ऋतु सरल यथा तथा गन्तु नयु ज्ञाति न शक्यते इत्यर्थः,  
तत् तस्मात् मनाक् ईषत् शिरः मस्तक नमय नत कुरु ।

( थ ) तव प्रसादात् अनुग्रहात् कुसुमायुधोऽपि अतिदुर्जलास्तोऽपि अहम् एक  
मधुं वसन्तमेव सहाय लब्ध्वा पिनाकपाणौ यस्य स पिनाकपाणि तस्य हरस्यापि हरः  
पिनाकौ चेत्यतिदारुणः इति भावः, धैर्य्यच्युति धैर्य्यहानिं कुर्याम् शक्नुयामित्यर्थः,  
अन्ये धन्विनः धनुर्भूत, सम के ? न कोऽपीत्यर्थः ।

( द ) नृपसदसि राजसभाया तथाभूता केशाश्वरयोराकृष्टामिति भावः ।

अत्र 'अस्माभिः' इति 'स्त्रिन्ने' इत्यस्मात् पूर्व्वे 'इत्यम्' इति च पदं न्यूनम् ।

कथितपदत्वं यथा रामायणे—

“पियं चेद् भरतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत् ।

मास्म मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं कदाचन ॥” (ध)

अत्र 'भरतः' इति पदं पुनः कथितं सर्व्वनाम्नैव अस्य परामर्शो युक्तः—'मास्म मेऽसौ सुतः' इत्यदुष्टत्वम् ।

अक्रमत्वम्, अविद्यमानः क्रमः पदस्थितिक्रमो यत्र तत् अक्रमं तस्य भावः अक्रमत्वम् इति । यथा कुमारे—

“इयं गतं संप्रति शोचनीयतां

समाममप्राथनया पिनाकिनः ।

कला च सा कान्तिमतौ कलावत-

स्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥” (न)

अत्र 'त्वम्' इति पदस्थानन्तरं चकारो युक्त एव ।

पाञ्चालतनया द्रौपदी वने व्याधौ साङ्गं वल्कलधरैः सङ्गि सुचिरं दीर्घकालमुषित स्थितं तथा विराटस्य आवासे सद्ने अनुचितं य' आरम्भ' कर्षं सूपकारत्वादिकमिति भावः । तत्र निभृत समासक्तं यथा तथा स्थितं दृष्ट्वा गुरुः आर्य्यः युधिष्ठिर इति यावत्, स्त्रिन्ने दुःखिते मयि चेद् क्षोभ भजति अद्यापि कुरुषु धार्चं राष्ट्रकुलेष्वित्यर्थः, न खेदं भजतीत्यर्थः, कुरवसादृशनिकारकारिणीऽपि न राज्ञ खेदं जनयन्ति निवारचुम्बितं मा दृष्ट्वा खेदं करोति राजा इत्यद्वैतो महच्चिन्तमिति काष्ठा व्यज्यते ।

(ध) चेत् यदि एतत् रामस्य प्रव्रजनमरण्यगमनं भरतस्य ग्रियं भवेत् तदा भवतः कदाचन मे प्रेतकृत्यमौद्धत्येहिककार्य्यं मास्म कार्षीत् न करोतु ।

(न) कलावत' शशिनः सा प्रसिद्धा कान्तिमतौ लावण्ययुक्ता कला रेखा अस्य

भग्नक्रमता—भग्नः प्रक्रमः उद्देशानुगुणः प्रस्तावो यस्मिन्  
तद्भग्नप्रक्रमं तस्य भावः भग्नक्रमता । 'यथा किराते—'

“यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा  
मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा ।

निरुत्सुकानामभियोगभाजां  
समुत्सुकेवाङ्मुपैति सिद्धिः ॥” ( प )

अत्र 'सुखलिप्सया' इत्यत्र 'सुखसमोद्दितुं वा' इति  
तुमन्तप्रयोग एव सर्वत्र युक्तः ।

ख्यातिहता प्रसिद्धित्यागः, स चानेकधा वर्त्तते । तेषां  
दिङ्मात्रमत्र प्रदर्श्यते । विस्तरशो ज्ञातुमिच्छाभिर्दर्पणादावनु-  
सन्धानोयः, नात्रोच्यतेतिविस्तारभयात् । यच्च तत्—

“रवो वारिसुचां घोरो भेरौनामारवस्तथा ।

पटहानां ध्वनिः कर्णौ पौडयन्ति समन्ततः ॥”

गर्जनं धाराधराणामिव न रवः, एवं पटहानाम् आरवः प्रसिद्धः  
नतु भेरौणाम्, अपि ध्वनिर्मदङ्गादीनां न पटहानाम् । अपि च—

“सरोजिनोकुमुद्वत्यौ निरीक्षिते परस्परम् ।

कियत्यपि तमो हन्ति कृष्णपद्मेऽपि कौमुदी ॥”

रात्रौ सरोजिन्या दिवसे कुमुद्वत्याश्च विकासः, कृष्णपद्मे  
कौमुदी च कविसमयेन विरुध्यते ।

लोकस्य जगतः नेत्रकौमुदी नयनामिराम इत्यर्थः । तच्च एतत् इयं संप्रति पिनाकिनः  
हरस्य समागमप्रार्थनया सद्भाषिलाषेण शीघ्रनीयतां दीनत्वं गतम् ।

। ( प ) यशः कौर्त्तिम् अधिगतम् लब्धं सुखस्य लिप्सया लाभेच्छया वा -मनुष्य-

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरानुप्रवेशः सङ्करः यथा—

“किमिति न पश्यसि कोपः पादगतं बहुगुणमाद्रियस्वैनम् ।

ननु मुञ्च हृदयनाथं सदयं मनसस्तमोरूपम् ॥” इति

अत्र पादगतं बहुगुणं हृदयनाथ किमिति न पश्यसि, इमं सदयमाद्रियस्व मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च इत्यन्वयः । एकवाक्यगतत्वं तु क्लिष्टत्वमित्यस्माद्भेदः ।

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरप्रवेशो गवम्भितत्वम् । यथा—

‘परापकारनिरतैर्दुःखैः सह सङ्गतिः ।

कतं व्यः माधुसर्गो न विधेया कदाचन ॥”

“चन्द्र मुञ्च कुरङ्गाक्षि पश्य मानं नभोऽङ्गने”

अत्र प्रथमश्लोके तृतीयचरणवाक्यं वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टम् । द्वितीयेऽपि च मानं मुञ्च, चन्द्र पश्येति कथितदोषस्य सङ्गतिः ।

क्रमप्राप्तानर्थदोषानाह—

दुष्क्रमग्राम्यकष्टत्वं व्याहृतत्वमहेतुता ।

अनवौकृतता पौनरुक्तं ख्यातिविरुद्धता ।

अनुवादो विधेयैवमयदोषाः प्रकीर्तिताः ॥

दुष्क्रमता—दुर्दुष्टो विरुद्ध इति यावत्, क्रमो वचनक्रमो यस्मिन् स दुष्क्रमः, तस्य भावो दुष्क्रमता । यथा—

सख्या समुद्यगणनाम् अतिवृत्तिं तुम् अतिक्रान्तिम् अमानुषी क्रिया कर्तुं मिति यावत्, वा निरुत्तमकानां निरुद्धगानाम् अभिधीगभाजाम् उद्द्योगिना निरुद्ध गेनोद्योगमातन्वतामित्यर्थः । निदिष्टं समुत्तमकेन समुत्कण्ठिता कामिनी इव अडम् उत्सम् उपति आरुह्यति ।



“भूपालरत्न निर्दैन्यप्रदानप्रभृतोत्सव ।

विश्राण्य तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥”

अत्र मातङ्गस्य प्रथमं याचनमुचितम् । यथा वा सचापं वाणमादत्ते । वर्णा वैश्यादयो मताः । विंशतिस्तु शताधिका । एवं वसन्तादिवर्णने प्रथमं प्रवालोद्गमस्य, ततः कुसुमोत्पत्तेरनन्तरं पुष्पेषु शिलीमुखानामापतनमिति यथाक्रममेवैतेषामविष्करणमुचितम् । विशिष्टकारणं विना ततोऽन्यथा वर्णने दुष्कृमता दोषः ।

ग्रामात्वं यथा—

“ताम्रभृङ्गारतुल्योऽयमर्को मज्जति वारिधौ ।” ( फ )

कष्टत्वम्—अर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् । यथा—

“सदा मध्ये यासामियममृतनिथ्यन्दसरमा

सरस्वत्युद्दामाव हति बहुमार्गा परिमलम् ।

प्रसादं ता एता घनपरिन्निताः केन महतां

महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥” ( ब )

अत्र यासां कविरुचोनां मध्ये सुकुमारचित्तमध्यमात्मक-  
त्रिमार्गा भारती चमत्कारं वर्हात, ता गम्भीरकाव्यपरिचिताः

( फ ) ताम्रभृङ्गारेण रक्तवर्ण जलपात्रविशेषेण तुलाः अर्कः सूर्यः वारिधौ समुद्र

निमज्जति अस्माच्चल गच्छतीत्यर्थः ।

( ब ) अमृतवत् निथ्यन्दः विकास इति यावत्, सरसा रसयुक्ता बहुमार्गा नाना रीतिसंघटिता च्छामा प्रौढा इय सरस्वती वाक् यासां रुचोनां मध्य सदा परिमलं सौरभं वहति रुचीनां स्वदेते इत्यर्थः, अन्यत्र बहुमार्गा त्रिपथगीत्याहः, च्छामा चत्कटवीणा

कथमितरकाव्यवत् प्रसन्ना भवन्तु इत्येकोऽर्थः । यासामादिसत्य-  
प्रभानां मध्ये त्रिपथगा वञ्चति, ता मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना  
भवन्तीति द्वितीयोऽर्थः । अर्थद्वयमपि नितरां दुर्वोधम् ।  
शब्दानां परिवर्तनेऽपि कष्टतायास्तादवस्थादयमर्थदोषः ।

वाहतत्वम्—कस्यचित् प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्  
तदन्यथाप्रतिपादनं वाहतत्वं नाम । यथा—

“जहि शत्रुवलं कृत्स्नं जय विश्वम्भरामिमाम् ।

तव नैकोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ॥ (भ)

हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः ।

वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥” (म)

अमृतनिष्पन्दिनी सरस्वती मन्दाकिनीतार्थः, यासां सौरीणां रुचीनां किरणानां मध्य-  
सदा परिमल द्रवाङ्गनानां विमर्दजनितगन्धं वञ्चति, ता प्रता सहता स्फुरितेन  
सहजबोधेनेति भावः । मधुरा मधुगन्धादवता\* रुचयः अभिकाङ्क्षा महाकाव्य-  
दुर्वोधकाव्यं ज्योतिष आकाशमिव तन्निन् घनपरिचिता\* अतिपरिचिता अपि रत्ना-  
ध्याहार्यं, केन कथं प्रसादं प्रसन्नतां यावत्, न कथमपि प्रसन्ना भवन्तीत्यर्थः, अत्रापि  
ता एता मन्त्रता भास्यतामित्यर्थः, स्फुरितेन विकासेन मधुरा मनोहारिण्यः रुचयः  
प्रभा महाकाव्यमिव ज्योतिष तन्निन् घनपरिचिता\* मेघाच्छादिता इति यावत्, केन  
कथं प्रसादं यावत् न कथमपि प्रसन्ना भवन्तीत्यर्थः ।

(भ) कृत्स्नं समम् शत्रुवलम् अगतिर्घनं जहि नारय त्वमिति शेषः ।  
इमा विश्वम्भरा धरित्री जय विजयं कुरु । सर्वभूतानुकम्पिनः सक्त्वजीवहि तैषिणः  
तव एकोऽपि किं पुनर्विद्वेष्टा अस्ति न अस्तीति शेषः ।

(म) यैः युवभिः लोकानां लोचनचन्द्रिकां नयनानन्दिनीति यावत्, इयं  
तन्वी कृष्णरुक्मी लोकायतनीति यावत्, वीक्ष्यते समवलोक्यते नवेन्दुकलादयः अभिनव-  
चन्द्रकलाप्रभृतयः केया यूनां हृदयं न हरन्ति नाकर्षन्ति मोहयन्तीत्यर्थः ।

अत्र पूर्वोपरविरोधात् कथितदोषः । येषामिन्दुकलानानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्वा चन्द्रिकात्वारोपः ।

अहेतुता-हेतोरवचन निर्हेतुतेर्यः । यत्र वक्तव्योऽर्थोहेतुमपेक्षते तत्र नस्यानुक्तौ निर्हेतुत्वम् । यथा वेण्याम्—

“गृहीतं येनासीः परपरिभवान्नोचितमपि

प्रभावाद्यस्याभूत् खलु तव कश्चिन्न विषयः ।

परित्यक्तं तेन त्वमास सुतशोकान्न तु भयाद्-

‘विमोक्षे शस्त्र त्वामहमपि ततः स्वस्ति भवते ॥” (य)

अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नील इति निर्हेतुत्वम् ।

अनवोक्ततत्वम्—पूर्वमुक्तोऽर्थः पुनरभिधानोयश्चेत्तथाभिधानीयो यथा काचिद्विच्छित्तिरूपसम्पद्यते । तामन्तरेण तमभिधानेऽनवीकृतत्वम् । यथा—

“प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम् ?

दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ? ।

सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किम् ?

कल्पस्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ? ॥” (र)

(य) हे शस्त्र, येन नृपिबेति श्रेय, त्व परपरिभवान् अत्रुभि परिभवभया-दितार्थः, नोचितम् अनुचितग्रहणमपीति यावत्, ब्राह्मणस्य शस्त्रग्रहणानुचितत्वादिति भावः । गृहीतम् श्रवणलब्धितम् आसीत् । यस्य, नृपिबुः प्रभावान् कश्चिदपि लोक इति श्रेयः, तव न विषयः अपि सर्व एव जनसवगोचरीभूत इत्यर्थः, द्रोणस्य सर्वजयित्वादिति भावः । तेन मम पित्रा सुतशोकात् न तु भयान् त्व परित्यक्तम् असि अहमपि त्व विमोक्ष्ये तादृश्यामि, ततः अतः परमितार्थः, भवते तुभ्य स्वस्ति शम भूयादिति श्रेयः ।

(र) सकलकामदुघा सर्वकामनाप्रसविना श्रिय सम्पद प्राप्त्य लोकेगिति

अत्र 'ततः किम्' इत्यनवोक्तम् । ततः किमित्यत्र कि  
तस्मादिति पदपरिवर्त्तनेऽपि दोषस्य तदवस्थत्वादर्थदोषोऽयम् ।

पुनरुक्तम्—पूर्वमुक्तस्य पर्यायान्तरेणार्थतो वा पुनरभिधाने  
पुनरुक्तत्वम् । यथा वेण्णाम्—

‘अस्त्रज्वालावलीढप्रतिवलजलधेरन्तरौर्वायमाणे

सेनानाथे स्थितेऽस्मिन् मम पितरि गुरौ सर्व्वधन्वौश्वराणाम् ।

कर्णाक्षं सम्भ्रमेण व्रज कृप समरं मुञ्च हार्दिकं शङ्कां

ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं कोभयस्यावकाशः ॥ (ल)

अत्र चतुर्थपादार्थः पुनरुक्तः ।

शेषः । ततः तस्मात् किम् न किनपीत्यर्थः, विड्विताम् श्रूणां शिरसि पद दत्त  
शत्रुपराभवेनापीति भावः । ततः किम् । विभवैः सम्पद्भिः प्रणयिनः बान्धवाः  
सन्तर्पिताः प्रीणिताः ततः किम् । तनुभृता देहिनां तनुभिः देहैः कल्पम् आप्रलय-  
पर्यन्तमित्यर्थः, स्थितः प्रणयिनः प्रलयपर्यन्तजीविन इत्यर्थः । ततः किम् सर्व्वमेव  
जगत् सित्याविनश्चरति प्रथमश्रितोऽर्थः ।

( ल ) अस्त्राणां ज्वालाभिः शिखाभिः अवलीढः यत्नः यः प्रतिवलजलधिः प्रतिपत्नौ  
यैस्तेनिकाणवः तस्य अन्तः अभ्यन्तरे और्वायमाणे वडवान्नी इवाचरति सर्व्वधन्वौश्वराणां  
सर्व्वेषां महाधनुष्काणां गुरौ आचार्य्यं सेनानाथे मम पितरि अस्मिन् द्रोणे इति शेषः,  
स्थिति वक्तुं माने हे कर्ण, सम्भ्रमेण मयेन अलं भय मा कुरु इत्यर्थः । कृप, समरं  
संग्रामक्षेत्रं व्रज गच्छ, हे हार्दिक हृदिगन्धन, कृतवर्ग्यसिन्धुः, शङ्कां भीतिं मुञ्च  
परित्यज चापद्वितीये धनुषरे ताते पितरि रणधुरा संग्रामभारं वहति सति भयस्य  
अवकाशः अवसरः कः ? कुत्रापि भयस्य नैव सम्भव इति भावः ।

ख्यातिर्विहता—या च सा—

“ततश्चकार समरे शितशूलधरो हरिः”

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् । शूलशब्दस्य पर्यायान्त-  
रेणोपादानेऽपि दोषस्यास्य सङ्गावः, इति प्रसिद्धतत्वाद्भेदः ।  
कविसमयख्यातान्याह विश्वनाथः—

मालिन्य व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकोत्थो ।

रत्नौ च क्रोधरागौ सरिद्रुदधिगतं पङ्कजेन्द्रीवरादि ॥

तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो ।

ज्योत्स्ना पेया चक्षुरैर्जलधरदिवसे मानसं यान्ति हंसाः ॥

पादाघातादशोकं विकसति बकुलं यीषितामास्यमद्यै-

यूनामङ्गेषु हाराः स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।

मौर्वीरोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमा पुष्पकेतो-

भिन्न स्यादस्य वाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥

अङ्गभोजं निशायां विकसति कुसुदं चन्द्रिका शूलपक्षे

मेघध्वनेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।

न स्याज्जातो वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रमाणा-

मित्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कारौनां प्रबन्धे ॥ ( व )

“ ( व ) व्योम्नि आकाशे पापे च मालिन्य मलिनता यशसि हासकोत्थस्य धवलता  
शूलत्वं वर्ण्यते, आकाश पापश्च कण्वर्णं यशः कौत्सि हासस्य श्रितवर्णं वर्णनीयेषु  
इत्यर्थः, क्रोधरागौ क्रोधातुरागौ रत्नौ रत्नवर्णौ वर्ण्येते इति शेषः । पङ्कजेन्द्रीवरादि पङ्क-  
जपद्मम्, इन्द्रीवरे नीलपद्मं सरिद्रुदधिगतं नदीसमुद्रगतं वर्ण्येते इति शेषः । रोलि-  
म्बमाला धनुरपक्षिः । तोयाधारे वापितडागादिवर्धः, मरालादिकं मरालः राजहंसः,

विधेर्विधेयस्य अनुवादः, अप्रधान्येन निर्देशः, यथा—  
“प्रयत्नपरिवोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्” इत्यत्र शयितः  
प्रयत्नेन बोध्यसे इति विधेयम् ।

प्रसङ्गतः रसदोषास्तावत् उच्यन्ते—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि ।

प्रतिकूलविभागादिग्रहो दौष्टिः पुनः पुनः ॥

अकाण्डे प्रयनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ।

अङ्गिनाऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ॥

इत्यादिकाः सहृदयैरसदोषाः प्रकीर्तिताः ॥

रसस्य स्वशब्देन रसेतिशब्देन हास्यादिशब्देन वाऽभिधानम् ।  
स्थायिनां हासादौनां सञ्चारिणां निर्व्वेदादीनाञ्च स्वनाम्नां  
कथनं दोषः ।

प्रतिकूलानां विरुद्धानां विभावादौनां ग्रहो ग्रहणम् ।

यथा—आदिमे निर्व्वेदादौनां शान्तसञ्चारिणाम्, वीरै च  
वैवर्षेयत्रासादौनाम्, भयानकस्यानुभावादौनां ग्रहणम् ।

पुनः पुनर्दोष्टिर्यथा काटम्बव्यां महाश्वेताया विलापवर्णने ।

आदिपदेन नारुप्रकृतीनां पक्षिसमूहस्य ग्रहणम् । जलधरदिवसे वर्षानु, मानस नानस-  
सरोवर, योषितामास्यमयं, स्त्रीमुखसौत्कारैरितार्थं, विप्रयोगस्य विप्रयोगस्य तापैः  
सन्तापैः, सौर्व्वीं व्या विशिखा शराः । पुण्यवितोः कामस्य । चन्द्रिका शुक्लपक्षे  
वर्णनीयेति । शिखरानां मराणाम् । गन्धसागद्रुमाणां चन्दनवृक्षाणाम् । स्पष्टमन्यत् ।

अक्राण्डेऽनुचितेऽवसरे प्रथमं प्रकटनं वेण्यां द्वितीयेऽङ्के यथा-  
मेकवीरसंचये प्रवृत्ते राज्ञोदुर्व्योधनस्य भानुमत्या प्रमोदवर्णनम् ।

अक्राण्डे च्छेदो वीरचरिते यथा रामभार्गवयोर्दूराधिरूढे  
संपराये राघवः “कङ्कणमोचनाय गच्छामि” इति ।

अङ्गस्यातिविस्तृतिः यथा सुराङ्गनाविलासादिवर्णने कितारा-  
ज्जुनीये ।

अङ्गिनोऽनुबन्धानं रत्नावल्याश्चतुर्थेऽङ्के यथा वाग्मव्यागमने  
सागरिकाया विस्मृतिः ।

प्रकृतयो दिव्याः, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च, तेषु च धीरो-  
दात्तादयः, तत्र यो यथाभूतस्तस्यावस्थावर्णने प्रकृतिविपर्ययो  
दोषः, यथा वीरचरिते रामस्य छद्मना बालिवधः । कुमारस्याष्टमे  
उत्तमदैवतयोः पार्व्वतीगिरिशयोः सम्भोगवर्णनम् ।

कथितानां दोषाणां क्वचित् गुणत्वं तच्चान्यत्र गुणाख्याने  
ज्ञातव्यम् ।

अनुकरणे च सर्व्वेषां दोषाणां स्याददोषताः ।

यथा—“प्रलपत्येष वीधेयः स्कन्धस्ते यदि धावति” ( श )

अत्र ‘धावति’ इति पदं दुष्टम् किन्त्वनुकरणत्वाददुष्टमिति ।

( श ) एष पुरोवर्त्ती वीधेयः मूर्खः । प्रलपति जल्पति यदि चेन् ते तव स्कन्धः अंसः  
धावति चलतीत्यर्थः ।

## गुणः —

“काव्योत्कर्षकाः गुणाः” के ते इत्याकाङ्गयामाहुस्तावद्-  
भट्टपादाः—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

आत्मनः खलु यथा हि शौर्यादयो गुणशब्दवाच्याः,  
नाकारस्य, तथा काव्ये रसस्येव माधुर्यादयो गुणाः न  
वर्णानाम् । अचलस्थितयो नियतावस्थानाः । ते किल—

माधुर्य्यैर्जः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते समुदीरिताः ॥

एषाद्यलक्षणमुक्तं काव्यप्रकाशकारिण—

आह्लादकत्वं ‘माधुर्य्यम्’ चित्तस्य द्रुतिकारणम् ।

आह्लादकत्वमानन्दजनकत्वम्, द्रुतिगलितत्वमिव ।

“करुणे विप्रलम्भे तत् शान्ते चातिशयान्वितम् ॥”

उक्तञ्च विश्वनाथेन —

मूर्द्धि वर्गान्यवर्णेन युक्ताष्टठडटान् विना ।

रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्व्या मधुरा रचना तथा ॥ (क.)

(क) मूर्द्धि शिरसि वर्गस्य अन्यवर्णेन शेषवर्णेन युक्ताः ङ-ख-प्रभृतयः इतथाः,



एतदुदाङ्गीयते तेन तत्रैव यथा—

“अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः ।

जनयन्ति मुहुर्नृणामन्तःसन्तापसन्ततिम् ॥” (ख)

यथा वा कुमारसम्भवे—

“तदिदं क्रियतामनन्तरं

भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।

विधुरां ज्वलनातिसर्जना-

न्नु मां प्रापय पत्युरन्तिकम् ॥ (ग)

ओजः स्वरूपं तद्विज्ञकं वर्णादिकञ्चाह स एव—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।

वीरबौभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिव्यमस्य तु ॥

ट ठ ड ढान् विना टादिभ्यविरक्ताः इत्यर्थः, लघू दीर्घस्वरायुक्तौ रणौ च रकारो  
णकाराश्च वर्णाः तत्राक्तौ तस्य माधुर्यस्य वाक्तौ प्रकटने कारणता हेतुता गता, हेतवो  
भवन्तीत्याद्यः, तथा अहन्ति अममस्ता अत्यहन्तिर्वा अत्यसमस्ता वा मधुरा मनोहारिणी  
रचना तत्राक्तौ कारणता गतेति निष्कर्षार्थः ।

(ख) अनङ्गस्य कन्दर्पस्य मङ्गलभुवः मङ्गलस्थानानि तस्याः कान्ताया अपाङ्ग-  
भङ्गयः भङ्गकुटिल्यानि मुहुः वारं वारं यूना अन्तःसन्तापसन्ततिम् अन्तःकरणस्य  
सन्तापतिशयं जनयन्ति उत्पादयन्ति ।

(ग) हरनेचाग्निना भस्मीभूते कामे विरहिण्या रतेवसन्तं प्रति विलापोक्तिरियम् ।  
हे वसन्त, कामसख, तत् तस्मात् भवता इदम् अनन्तरम् अतःपरकरणीयं बन्धुजनप्रयोजनं  
“सिचकता” क्रियताम् अनुष्ठीयताम् किं तद्विज्ञाह विधुरामिति ननु सखि, विधुरा कातरां मां  
“ज्वलनातिसर्जनात् अग्निप्रदानात् पत्युरन्तिकं स्वामिसन्निधिं प्रापय नय त्वमिति शेषः ।

वर्गस्याद्यत्तृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ।

उपर्यधो द्वयोर्व्वा सरेफाष्टडटैः सह ॥

शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ।

तथा समासबहुला घटनौडत्यशालिनी ॥ (घ)

यथा वेष्ट्याम्—

“चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-

संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्राणावनद्धनशोणितशोणपाणि-

रुतमयिष्यति कचांस्तव देवि, भोमः ॥” (ङ)

(घ) चित्तस्य जनस्य विस्फारूप टीक्ष्णत्वं उल्लिखितम् श्रीजः उच्यते वीर-वीरभृश-  
नैर्द्वेषु अत्य श्रीजस्य क्रमेण आधिक्यं वीरगुणैः श्रीजः, वीरभृशस्य ततोऽपि अधिक-  
श्रीजः, नैर्द्वेषु तच्चादप्यधिकमित्यर्थः । वर्णस्य आद्यत्तृतीयाभ्यां क-ग-च-ज-ट-ड-  
त-प-वैरित्यर्थः । युक्तौ तदन्तिमौ तयोराद्यत्तृतीयो वर्गादीनानित्यर्थः ।  
अन्तिमौ परवर्त्तिनौ ख-घ-ङ-झ-ट-ठ-ड-ध-भा, इत्यर्थः वर्णौ यथा क् ख ग् घ इत्यादयः,  
तथा उपरि अधः द्वयोर्व्वा उपर्यधो इत्यर्थः, सरेफा रेफसहिता यथा अक, अग, आद्र  
कम्प इत्यादयः ट ठ ड टैः सह टाडिसटिता इत्यर्थः । शकारश्च षकारश्च एते वर्णा  
तस्य श्रीजस्य व्यञ्जकतां प्रकाशकत्वं गताः । तथा समासबहुला बहुसमासान्तपदम्  
श्रीइत्याशालिनी चण्डका घटना रचना पदविन्यास तस्य व्यञ्जकतां गतेति निष्कषः ।

(ङ) द्रौपदीं प्रति युधिष्ठिरस्य उक्तिरियम् । हे देवि, भोमः चञ्चद्भुजा चलत्भुजा  
भुजाभ्यां भ्रमिता घूर्णिता या चण्डा भयङ्कराकारा गदा तथा अग्निघातेन प्रहाराण  
संचूर्णितम्, उरुयुगल यस्य तथाभूतस्य सुयोधनस्य कप्राग्नेन विलुतेन अवनद्धम् संलिप्तम् ।

प्रसादस्वरूपं तद्वञ्जकान् वर्णांश्चाप्याह तत्र—

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥

शब्दास्तद्वञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमादतः ॥

यथा रामायणे—

“अश्वमेधं सहस्रस्र सत्यञ्च तुलया दृतम् ।

तुलयित्वा तु पश्यामि सत्यमेवातिरिच्यते ॥”

यथा वा रघुवंशे अजविलापे :—

“गृहिणी सचिवः सखी मिथः

प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।

करुणाविमुखेन मृत्युना

हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥” ( च )

पूर्वोक्तदोषाणां क्वचिददोषत्वं कश्चिद्गुणत्वमित्याह  
दर्पणकारः—

रक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।

रुद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥

घनेन गाढेन शीघ्रः रक्तः पाण्डुरस्य तादृशः सन् तव कचान् केशान् उच्चसंयिष्यति  
संयस्यति भीमो गदया सुयौधनरु भक्तौ तव केशान् भूर्धयिष्यतीत्यर्थः ।

( च ) हे । प्रिये, त्वं सम गृहिणी गृहस्वामिनौ सचिवः मन्त्री मिथः एकान्ते  
सखी सहचारिणी तथा ललिते ललितविषये मनोभे इत्यर्थः । कलाविधौ नृत्त

यथा वेष्टाम्—

“यो यः शस्त्रं विभर्त्ति स्वभुजगुरुमदात् पाण्डुवौनां चमूनां  
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।  
यो यस्तत् कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यस्य यस्य प्रतीपः  
क्रोधान्वस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥” (क)

उद्धतवाच्यं यथा वीरचरिते—

संवर्त्तप्रकटविवर्त्तसप्तपाथो-

नाथोर्मिव्यतिकरविभ्रमप्रचण्डः ।

निर्वीपः स्फुरति भृशं परःसहस्र-

व्यावल्गुत्प्रवल्गुतागतासपाणाम् ॥ ( ज )”

गीतादिव्यापारे प्रियशिष्या अतः त्वां हृता करुणाविस्मयेन निदृशेन मृगानां समनेन मे  
मम किं न हृतम् वद, भवमेव हृतमित्यर्थः ।

( क ) पाण्डुवौना चमूनां सेनां मध्ये यो यः स्वभुजगुरुमदात् निजबाहुवलदपात्  
शस्त्रं विभर्त्ति धरति, यः यः पाञ्चालगोत्रे द्रुपदश्रेणिं बालकः अधिकवया युवा  
प्रौढ स्थितिरेत्यर्थः, वा अथवा गर्भशय्यां गतः मातृकुलगतः इत्यर्थः, यो यस्तस्य कर्मणः  
सन् पितृवधस्येति भावः, माक्षी माक्षान् दृष्ट्वा दृष्टापि अनिषेहेति भावः । तथा यस्य  
यस्य मयि रणे मयामव्यापारे इत्यर्थः, चरति तिष्ठति प्रतीपः प्रतिक्लृप्तः मदविरोध  
माचरिष्यतीति भावः । क्रोधान्वोऽहं तस्य तस्य स्वयं जगताम् अन्तकस्यापि कृतान्तस्या-  
पीत्यर्थः, अन्तकः संहर्त्ता तान् सर्वान् नाशयित्वातीति भावः ।

( ज ) संवर्त्तं परिवर्त्तने कान्त्यान्ते इत्यर्थः, प्रकटो विषमः विवर्त्तः परिणामी येया  
तादृशाः ये सप्तपाथोनाया सागराः तेषाम् ऊर्ध्वेणा तरङ्गाणां ये वातिकराः सम्यक्जनानां  
तेषां यो विभ्रमः विलासः विषमगतिविशेषः, तद्वन् प्रचण्डः भयानकः दारुणः इत्यर्थः,  
परःसहस्राणां सहस्राधिकानां व्यावल्गुता प्रवल्गुता गतानां रणकर्मणा निहतानाम्

ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु गुणः । यथाभिज्ञानशकुन्तले जालुकः  
 “एत्तिके दाव एदस्स आगमे, अध मां मालेध कुट्टेध वा” ( भ )  
 इति वाक्ये ‘मालेध’ ‘कुट्टेध’ इति पदद्वयं ग्राम्यत्वेऽपि अधम-  
 जनस्योक्तत्वादगुणः ।

निहतार्थत्वं श्लेषादौ गुणमाह विश्वनाथः—

स्यातामदोषौ श्लेषादौ तिहतार्थाप्रयुक्तते ॥

यथा—‘पर्वतभेदिपवित् जैत्रं नरकस्य बहुमतं गृहणम् ।

हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदम्भः पतन्नमत ॥’ ( ज )

अत्रेन्द्रपत्ने पवित्रशब्दो निहतार्थः । सिंहपत्ने मतङ्गशब्दो  
 मातङ्गार्थेऽप्रयुक्तः ।

अगताना रणकर्मणि साम् अक्षपाणा राक्षसाना निर्घोषा सिङ्गनादः भृशम् अल्लस्य  
 प्लुति प्रसरति विस्फारयतीत्यर्थः ।

( भ ) एतावांस्त्वावदेतस्यागमः, अथ मा मारयत, कुट्टयत वा ।

( ज ) हे जना, पृथिव्यां पतन् सुरसरिदम्भो गङ्गाजलं यूय नमत । कौटुम्भम् ?  
 सर्वतभेदि हिमालयभेदकरम् पवित्र पावनम्, नरकस्य पारलौकिकदुःखस्य जैत्रं जयश्रील  
 विनाशकमित्यर्थः । वक्षिर्भूत पूजितम् । गृहणं महावेगित्वात् दुरवगारम्, दुरधिगम्य  
 बोधातीतमित्यर्थः, हरिमिव विष्णुनिव, पर्वतभेदी गोवर्द्धनधारी, स चामौ पवित्र इति तम्,  
 नरकस्य नरकान्मोऽसुरस्य जैत्रं विनाशक पराजयकरम् गृहणं दुर्व्रोधतत्त्वम् । हरिमिव  
 इन्द्रमिव पर्वतानां पञ्चैन्दकलात् पर्वतभेदी पवि वज्रं चायते धारयति पवित्रं स चा  
 स चेति तम् । जैत्रं जयश्रीलं नरकस्य मनुष्यस्य बहुमतं भृशं पूजितं गृहणं दुर्जयं हरिमिव  
 सिंहमिव, “शृगाणाञ्च शृगेन्द्रोऽहम्” इति खरणात् सिंहस्य वन्दनीयत्वमागमे प्रसिद्धम् ।  
 पर्वतभेदी गिरिगह्वराश्रयत्वेन सोऽस्यास्तीति पवित्रो देवकृपलात् नमस्यत्वसूचनम्  
 नरकस्य मनुष्यस्य, जैत्रम्, बहुन् मतङ्गान् हन्तीति तम् ।

गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ॥

यथा कुमारे—“त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवृत्तिनीम् ।

तद्वर्तिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥” ( ट )

अत्र वक्तृवाच्ययोस्तदर्थबोधतया न दोषः ।

सन्दिग्धत्वं गुणो व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ॥

यथा—“पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।

विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयो र्गहनम् ॥” ( ठ )

चत्र विशेषणपदानां सन्देहयोग्यत्वेऽपि व्याजस्तुतिपर्यव-  
सानाद्गुणत्वम् ।

गुणः काप्यधिकं पदम् ॥ यथा —

( ट ) हे विधे, पुरुषार्थप्रवृत्तिनीं पुरुषार्थौ भोगापवर्गौ तयोः प्रवृत्तिनीं सम्पाद-  
यित्री प्रकृतिं मूलकारणं त्वाम् आमनन्ति कथयन्ति पण्डिता इति शेषः । त्वामिव तद्वर्ति-  
नस्याः प्रकृतेः द्रष्टारं साक्षिणमिदं, अतएव उदासीनं कूटस्थम् असत्सृष्टमिति यावत्,  
पुरुषम् आत्मानं विदुः जानन्ति तत्पुरुषं दर्शिनं इति शेषः ।

( ठ ) राज्ञि दरिद्रस्त्रीतिरियम् । हे देव सप्रत्यावयो गहनं गृहं समं त्वसौ  
धनलाभे तु मदगृहमनेवभावात् पश्चात् समं न भवतीत्यर्थः । पृथूनि कार्तं स्वरस्य  
सुवणस्य पत्राणि यत्र, भूषिताः रत्नालङ्कारमण्डिताः निःशेषपरिजना यत्र, विहरन्तीभिः  
करेणुभिर्गहनं दुर्गमं राजसदनमौदृशं, दरिद्रसदनं तु पृथुकानां शिशूनां क्षुधया भ्रात-  
स्वरस्य पात्रं भुवि उषिताः सुप्ता निःशेषपरिजना यत्र शयनास्तरणाभावात्, तथा विले-  
गते कुत्सितसता मूषिकपिपीलिकादीनां रेणुभिर्गहनं व्याप्तम्, कुत्सायां कः ।

“आचरति दुर्जनो यत् सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।

तन्न न जाने जाने स्पृशति मनः किन्तु नैव निष्ठुरताम् ॥” ( ड )

अत्र न न जाने इत्यनेनायोगव्यवच्छेदः, द्वितीये जाने इति  
अन्ययोगव्यवच्छेदः, इति वैचित्र्यातिशयः ।

सम्भ्रमे विस्मये हर्षे विषादेऽप्यधिकं पदम् ॥

गुण एव ज्ञातव्यः ; सम्भ्रमे यथारधौ—

“अर्धमर्धमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।

क्षत्रकोपदहनाञ्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकम् ॥” ( ढ )

विस्मये हर्षे च द्विरुक्तिर्यथा भ्रमराष्टके—

“दृष्ट्वा स्मृतोऽभवदलिरसौ लेख्यपद्मं विशालं

चित्रं । चित्रं । किमिति । किमिति । व्याहरन् निष्पपात ।

नास्मिन् गन्धो न च मधुकणो नास्ति तत् सौकुमार्यं

घूर्णन् मूर्ध्ना वत । नतशिरा ब्रीडया निर्जङ्गाम ॥” ( ज )

( ड ) दुर्जनः शठः सहसा दृष्ट्वा मनसोऽपि अगोचरान् अर्थान् यत् आचरति  
अनुनिष्ठति तत् न जाने न जाने किन्तु मनः निष्ठुरता नैव स्पृशति । दुर्जनस्य दौर्जन्यं  
ज्ञायते पर तस्य अनिष्टं कञ्चुं नेच्छामीति भावः ।

( ढ ) इरधुतुभङ्गानन्तरं क्षतमौतोद्वाहं रामदाय अयोध्यां प्रति प्रस्थितस्य  
दशरथस्य क्रुद्ध पशुरामं दृष्ट्वा सम्भ्रमोक्तिरियम् । सः पशुरामः अव्यंम् अथ गृह्णानेति  
शेषः । इति एव वादिनं नृपं दशरथम् अनवेक्ष्य न विगणयेत्तार्थः, यतः यस्या दिशि  
भरताग्रजः रामः ततः तत्र क्षत्रकोपदहनाञ्चिषं क्षत्रियान् प्रति य एव कोपः क्रोधः स  
एव दहनः अग्नयः तस्य अञ्चिषा शिखा यस्य तत् । उदग्रतारकम् उत उदग्रतं स्फुरित-  
मितायः, तारकं नेत्रगोलकमितार्थः, यस्य तत्, तथादृशं चतुः सन्दधे पातयामास ।

( ज ) असौ अलिप्तं भरः विशालं सुमहत् लेख्यपद्मम्, अद्वितकमलं दृष्ट्वा स्मृतः

विषादो चापि तत्र—

“रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं

भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पञ्चजालम् ।

इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे

हा । हन्त । हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार ॥” (८)

उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्नूनपदता गुणाः ॥

“गाढालिङ्गनवामनोक्तकुचप्रोद्भिन्नरोमोदगमा

सान्द्रस्त्रे हरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बास्वरा ।

मा मा मानद, माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी-

सुप्ता किं नु मृता नु कि मनसि मे लीना विलीना नु

किम् ॥ ( ८ )

अतिशयप्रयोजित इत्यर्थे अभवत् । चित्रं चित्रम् अतिशयसाधर्म्यसाध्यं किमिति किमिति व्याहरन् समुच्चयं निरूपयति तत्र चित्रितपद्मे इति शेषः । तन्मित्रं लेख्यपद्मं न गन्धं न च मधुकणं सकण्डविन्दुं न तस्य सौकुमार्यं कोमलत्वम् अस्ति इति दृष्टेति शेषः । वतः दैनो मृदां गिरं घूणम् कम्पयन् प्रोडया लज्जया नतशिरा नमितमूर्धा सन् निर्जङ्गमस्तस्माद्वञ्जितः सन् अनात्र प्रयस्ये इत्यर्थः ।

( ८ ) रात्रिं रजनीं गमिष्यति प्रभाता भविष्यतीत्यर्थः, सुप्रभातं भविष्यति, भास्वान् सविता उदेष्यति उल्लापयति पञ्चजालं पद्मसमूहं हसिष्यति विकसिष्यति कोषगते पद्मकोशकक्षे द्विरेफे भ्रमरे इत्थं एव विचिन्तयति सति हा हन्त हन्त ॥ विषादसूचकमव्यसितत्वं च गजं करीं नलिनीं पद्मम् उज्जहार उत्पाटयामास ।

( ८ ) सप्तम्या रात्रिहृत्तान्कथनमिदम् । गाढम् दृढम् । एव आलिङ्गनं स्तब्धं तेन वामनोक्तं, खर्वोक्तं : कुचः स्तनी यस्याः सा गाढालिङ्गनवामनोक्तकुचा,



अत्र पौड्येत्यादियोग्यस्य पदस्य नूनता हर्षस्तानिसम्बोद्ध-  
प्रकर्षबोधनद्वारा रसं पुष्पातीति गुणत्वम् ।

विहितस्यानुवाद्यत्वे कथितपदत्वं गुणः ॥

“उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।

सम्पत्तौ च विपत्तौ च सहतामेकरूपता ॥” ( ड )

अतः ताम्रपदस्य कथितपदत्वेऽपि उत्तरवाक्येऽनुवाद्यत्वान्न  
दोषः ।

गर्भभित्तत्वं गुणः द्वापि पदतत्पकर्षता तथा ॥

सा चामौ प्रोद्भिन्नं विकशितं गोमार्णाम् उद्गम, वहिर्मुञ्जोपस्थिति, यस्याः सा प्रोभिन्न-  
रोमोद्गमा चेति पदद्वयेन कार्यधारय । ताम्रं घन, एव त्रैहरस स्नेहकप कलं  
तस्य अतिरेकेण आधिक्येन विगलन् खलत् श्रीमतो नितम्बान् कटिदेशान् “पथान्नितम्बः—  
स्त्रीकठ्याः क्लीवे तु कचन पुरः” इत्यामर । अस्वर वस्त्रं यस्याः सा । हे मानद,  
मानार्पणकारिन्, मा मा पौड्य सा साति पौड्य अल बहुव्यापारेनेति भाव । ताम्रः  
क्षीणः तस्य अल्पस्य क्षुद्रस्य अक्षरस्य उल्लापिनी काकुवाकप्रोक्तवती । पौड्येत्यादेर-  
नुक्त्वादल्पत्वमक्षरस्य, ताम्रपदस्य पौडाकरत्वमनुपपन्नमिवावगमाय तत्पदेन सम्बोधनम् ।  
एतं तावन्निषेधाभासाविधिषु पर्थवसन्नाः । निष्पन्दत्वेन किं सुप्तंति वितर्कचतुष्टयं सुप्तं  
निद्रायिता अतिनिष्पन्दत्वेन नृतेति अन्ततत्वे लय, अवहिर्भावे विशेषलयश्च बोध्यम् ।

( ड ) सर्वप्रकाशकत्वात् सविता सूर्यः, ताम्रः रक्तः सन् उदेति उद्गच्छति, ताम्र  
एव रक्त एव अस्तमेति च अस्त गच्छति च । तथा हि सहतां सञ्जनानां सम्पत्तौ सम्पत्ति  
विपत्तौ विपत्ति च एकरूपता तुल्यता सम्पत्ति विपत्ति च सहताः समभावेनैवावतिष्ठन्ते  
इति भावः ।

,गर्वभित्तुं यथा—

“दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते

सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।

विप्राय प्रार्तिपाद्यदे किमपरं रामाय तस्मै नमः

यस्मात् प्रादुरभूत् कथाद्भुतमिदं यत्रैव वास्तु गतम्” ॥(६)

अत्र ‘वदन्त एव हि’ इत्यादिवाक्यं वाक्यान्तरमर्थे प्रवेशात्  
चमत्कारातिशयमावहति ।

‘पनत्प्रकर्षता’चञ्चद्भजे’त्यादि ( ५५ ) पूर्वमुक्तम् । तत्र  
चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया शब्दाडम्बरत्यागो गुणः ।

‘ग्राम्यत्वसधमोक्तिषु—गुणः ।

“एसो ससहरविंवो दीसद् हैअंगवौणपिण्डोव्व ।

एदे अ रस्सिससोहा पदन्ति आसासु दुग्धधाराव्व ॥” (७)

( ६ ) लनय’ पृथिवी जित्वा विप्रमात् कृतवन्त परशुराम वीर्य जनानामुक्ति’ ।  
दिङ्मातङ्गानां दिग्गजानां घटाभि’ महं, चतुर्थ्यङ्गिति भावः, विभक्ता विभज्य  
गृहीता’ चतस्र आघाटाः सीमान यस्या तादृशी मही पृथिवी साध्यते उपार्ज्यते  
सन्नामहिमशानिभिरिति शेष । सा मही मित्रापि विप्राय प्रार्तिपाद्यते नमोपते  
वदन्त एव वयं रोमाञ्चिता सन्नातरोमरूपाः जाता इति शेषः । पश्यत अवलोकयत  
अपर किं वक्तव्यमिति शेषः, यस्मात् रामात् इदं कथाद्भुतम् अद्भुतकथेत्यर्थः, प्रादुरभूत्  
जाता, यत्रैव च रामे अग्न गतं तथैव रामाय नमः नमस्कृत्येह ।

( ७ ) एष दृष्टिपथवन्ती शशधरविम्ब, चन्द्रमा हैयङ्गवीनपिण्ड इव नवनीत  
गोमूक इवेत्याद्य’ दृश्यते अवलोकने नयेति शेषः । एते च रस्सिससूहा, किरणजालाः  
आशासु दिक्षु दुग्धधारा इव पतन्ति ।

एष शशधरविम्बो दृश्यते हैयंगवौनपिण्ड इव ।

एते च रश्मिसमूहाः पतन्ति आशाम् दुग्धधारा इव ॥”

अत्र दुग्धपदं आस्यमपि वक्तुर्विदूषकस्याधमत्वप्रीतिकरत्वाद्-  
गुण एव ।

निर्हेतुता तु ख्यातार्थे दोषतां नैव गच्छति ॥

यथा कुमार—

“चन्द्रं गता पद्मगुणान् मुङ्क्ते

पद्माश्रिता चान्द्रमसौमभिर्याम् ।

उमामुखन्तु प्रतिपद्य लोला

द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥” ( त )

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोक-  
प्रसिद्धमिति ‘न मुङ्क्ते’ इति हेतुं नापेक्षते ।

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणाः ॥

यथा विक्रमोर्व्वशौये—

“क्वाकार्य्यं शशलक्ष्णः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा

दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।

त ) लोला चपला परितमणशीला इत्यर्थः, लक्ष्मीः कान्त्यभिपानिनी देवता  
चन्द्र गता रात्राविति भावः, पद्मगुणान् कमलस्थितिजनितसुखानोति यावन् न मुङ्क्ते  
भास्वादयति, पद्माश्रिता द्विषे इति भावः, अह्माभोजं विकसतीति कविसमयप्रसिद्धे ।  
चान्द्रमसौ चान्द्रीम् अभिर्या शोभां न मुङ्क्ते, तु किन्तु उमायाः पार्वत्या मुखं  
प्रतिपद्य प्राप्य द्विसंश्रयां चन्द्रकमलवासजनितामिति भावः, प्रीतिम् आनन्दम् भवाप प्राप ।  
पार्वत्या वदनं चन्द्रः कमली च नेत्रे तेषां दिवारात्रं तुल्यविकासित्वादिति भावः ।

किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा

चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽरं धास्यति ॥ (थ)

अस्मिन्नेव हि प्रशमाङ्गानां वितर्कमतिशङ्काष्टुतोनामभि-  
क्षापाङ्गोत्सृज्यात्मृतिदेव्यचिन्ताभिस्तिरस्कारः, इति ।

### रीतिः—

पदविन्यासप्रणाली रीतिः । सा च त्रिविधा इति वामनः  
लाटौ सहितास्ता चतुर्विधा इति विश्वनाथप्रभृतयः,  
षड्विधाश्च भोजराजादयः । तच्च यत्—

वैदग्भी चाथ पाञ्चालौ गौडोयावन्तिका तथा ।  
लाटोया मागधौ चेति षाढा रीतिर्निगद्यते ॥

इति—

आसान्तु प्रधानतो भेदमाह आचार्यो दण्डो :—

(थ) अकार्यम् अकरणीयं कृतसितमार्गगमनमित्यर्थः, क कुत्र ? शशवक्ष्यः  
शशधरस कुल वशश्च क ? प्रथितवशश्च, सोमवशीतुपन्नस्य मे असत्कार्थं कथमपि  
नोचितमिति भावः । सा उर्व्वशी भूयोऽपि पुनरपि दृक्षेत्, तामवेक्षितुं पुनः किं  
शक्तः सौम्यः । मे मम श्रुतं ज्ञानं दोषाणाम् अकार्याणां प्रशमाय निवृत्तये, अहो  
इति खेदे कोऽपेऽपि, मुखं तस्या इति शेषः, कान्तं रमणीयम् । अपकल्मषाः कल्मष-  
शून्याः निष्पापाः कृतधियः विहांसः किं वक्ष्यन्ति ? एतदवस्थं मा समीक्ष्य गृह्ये-  
ष्यत्येत्यर्थः । सा उर्व्वशी स्वप्नेऽपि दुर्लभा दुष्प्रापनोवेति यावत् । हे चेत हृदय, स्वास्थ्यं  
धैर्य्यम् उपेहि अत्रानन्वयः कः धन्यः श्लाघ्यः भाग्यवान् इत्यर्थः, युवा खलु निवृत्तम् अव-  
सत्ता इति शेषः । धास्यति परिपास्यति । यः पास्यति स एव धन्य इत्यर्थः ।

रचना—५

अस्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।

तत्र वैदबर्भगौड़ीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ॥

प्रस्फुटान्तरौ सुकुमारविकटात्मकत्वेन अत्यन्तविसदृशौ ।  
तावाह स एव :—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारतां ।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज.कान्तिसमाधयः ॥

इति वैदबर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः ।

एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि ॥

वैदबर्भस्वरूपमाह विश्वनाथः—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वैरचना ललितात्मिका ।

आर्वात्तरत्नवृत्तिर्वा वैदबर्भरौतिरिष्यते ॥

ललितात्मिका माधुर्यगुणयुता, वृत्तिः समासः, यथा हि  
कुमारे रतिः—

तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।

विधुरां ज्वलनातिसर्जनाच्च नु मां प्रापय पत्युरन्तिकम् ॥(८)

वैदबर्भविरुद्धधर्मवती पदरचना गौड़ी । सा च दीर्घ-  
समासादिना बन्धवैकटरूपम् । तच्चाह पुरुषोत्तमः—

(८) हे वसन्त ! तत् तस्मात् भवता इदम् अनन्तरम् अतःपरकरणीयम् बन्धु-  
जनप्रयोजनं बन्धुजनकृत्यं क्रियताम् अनुधीयताम् किं तदित्याह विधुरामिति ननु सखे  
“समः प्राणः सखामतः” विधुरा कातरा मा ज्वलनातिसर्जनात् वस्त्रप्रदानात् पत्यु-  
रन्तिकं खानिसमीपं प्रापय नय त्वमिति शेषः ॥

बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया  
रौतिरनुप्रास-महिम-परतन्वाऽस्तोभवाक्या च ॥

इति

यथा वेण्यां भोमः—“चञ्चदभुजभ्रमितचण्डगदाभिघात”  
इति सद्धं पूर्वमुक्तम् । अधिकन्तु स्वस्वाधीते ग्रन्थे ज्ञेयम् ।

—\*—

### अलङ्कारः—

यथेह लोके, हारादयः शरीरस्य रूपयौवनाङ्कितशोभां  
पुष्पान्तोऽलङ्कारपदवाच्याः तथा शब्दार्थरूपस्य काव्यशरीरस्य  
श्लेषादिगुणकृतवैचित्रं पुष्पान्तोऽनुप्रासादय इति । अतएव  
काव्यदोषादीन् पूर्वमुक्ते दानीं तद्व्याकर्तुं कामेन भेदबहुलेषु  
तेषु विस्तारमिमां दिङ्मात्रम् प्रदश्यते । तच्चालङ्कारानुपक्रम्य  
आह स आचार्यपदो दण्डी :—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ॥

तेऽपि द्विविधाः, शब्दगताः अर्थगताश्च । शब्दगता अनु-  
प्रासयमकादयः । तत्राह दर्पणकारः—

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ॥

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनमात्रसादृश्यम् अनुप्रासः, स च  
रसानुगुणो वर्णानां प्रकर्षेण न्यासः । यथा—

लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्

समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।

मरुत्तन्द् मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्  
 रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥ (क)  
 यमकलक्षणमाह स एव—

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।

क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ (१)

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित् सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्,  
 क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वमत उक्तम् 'सत्यर्थे'  
 इति, तेनैव 'दमोमोद' इत्यादेर्विविक्तविषयत्वम् \* सूचितम् ।  
 एतच्च पदपादार्थश्लोकावृत्तित्वेन पादाद्यावृत्तेश्चानेकविधतया  
 प्रभूतमतभेदम् † अतस्तेषां दिङ्मात्र- ‡ सुदाह्रियते ।  
 यथा माघे—

(क) गुञ्जन्तः अव्यक्तमधुरध्वनि कुर्वन्तः मदवन्तः/ सोल्लासाः श्लीना भमराणां  
 पुष्पाः समूहाः यस्मिन् तादृशं लताकुञ्ज वल्लीपुञ्ज चपलयन् मुखरयन् कम्पयन्मित्यर्थः,  
 अङ्गं गात्रं प्राणिनामिति शेषः, समालिङ्गन् संस्पृशन् द्रुततरं सद्यः सपदि अनङ्गं कामं  
 प्रवलयन् वह्मयन् दलितं प्रफुटितम् अरविन्दं नलिनं तरलयन् चञ्चलीकुर्वन् रजोवृन्द  
 रजसा परागाणां वृन्दं चय विन्दन् लभमानः प्रापन्नित्यर्थः । मरुत् समीरणः दिशि दिशि  
 समन्तात् मकरन्दं पुष्परस सौरभमित्यर्थः, किरति चिपति । अथ प्रथमे चरणे 'ञ्ज'  
 द्वितीये 'ङ्' पराङ्गे च 'न्द' वर्णानामसकृदावृत्तिः ।

(१) अर्थे सति विद्यमाने पृथगर्थायाः भिन्नार्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः तेनैव  
 क्रमेण पूर्वावृत्तक्रमेणेत्यर्थः, आवृत्तिः असकृदेवोच्चारणं यमकं विनिगद्यते कथ्यते ।

\* विविक्तविषयत्व विभिन्नविषयत्वम् ।

† प्रभूतमतभेदम् अनेकप्रकारम् । नानाप्रकारमित्यर्थः ।

‡ दिङ्मात्रं प्रकारान्तरोपलक्षणमस्यमित्यर्थः ।

नवपलाश-पलाशवनं पुरः

स्फुटपराग-परागपङ्कजम् ।

मृदुल-तान्त-लतान्तमलोकयत्

स सुरभिं सुरभिं सुमनोभवैः ॥ (क)

अत्र पदावृत्तिः पलाशपलाशेति । सुरभिं, सुरभि-  
मित्यत्र च द्वयोः सार्धकत्वम् । लतान्तलतान्तेत्यत्र प्रथमस्य  
निरर्थकत्वम् । परागपरागेत्यत्र द्वितीयस्य । एवमन्यत्रा-  
पुरदाहार्थम् ।

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ॥ \*

स च वर्णप्रत्ययप्रकृतिपदादिश्लेषादुबहुविधः । यथा माघे—

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ

विफलत्वमेति बहुसाधनता ।

अवलम्बनाय दिनभर्तु रभू-

न्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥ (ख)

(क) राजसूयाभिन्नितस्य पयि गच्छतः कृष्णस्य वसन्ताविर्भाषदर्शनवर्णनमिदम् ।  
स. कृष्णः पुरः अयतः नद्यानि पलाशानि पलाशि येषां तादृश पलाशवनं किशका-  
रस्थं यत्र तं तथोक्तम्, स्फुटानि विकशितानि परागैः रजोभिः परागगतानि व्याप्तानि  
पङ्कजानि पद्मानि यत्र, तथाविध मृदुलाभिः कोमलाभिः तान्ताभिः पल्लवकुसुमभरेणा-  
वनताभिः लताभिः वल्लीभिः अन्त रस्यं तथा सुमनसा पुष्पाणा भवैः समूहैः सुरभिं  
सुगन्धं वसन्तम् अलोकयत् अपश्यत् सम्पृष्टेत्यर्थः ।

\* श्लिष्टैः वङ्गयुक्तेः पदैः सुषन्ततिङन्तकृपैः अनेकानाम् एकाधिकानाम् अर्थानाम्  
अभिधाने अभिधया प्रतिपादने श्लेष इष्यते, अभिधया वङ्गर्थप्रतिपादनमेव श्लेष इति  
फलितार्थः ।

(ख) सूर्यास्तवर्णनमिदम् । विधौ विधातरि चङ् च प्रतिकूलतां विरोधिताम्



अत्र विधावित्यत्र विधुविधिशब्दयोरुकारेकारयोरौकाररूप-  
त्वाद्वर्णश्लेषः, करेत्यत्र प्रकृतिश्लेषोऽपि । “पृथुकार्तस्वर-  
पात्रम्” इत्यादि पूर्वोक्ते श्लोके पदभङ्गे विभक्तिसमासयोरपि  
वैलक्षण्यात् पदश्लेषो न तु प्रकृतिश्लेषः ।

इह तावत् स्वभावोक्तिरुपमादयो बहुवोऽर्थालङ्काराः ।  
तेषु स्वभावोक्तेर्वस्तुस्वभाववर्णनस्वरूपत्वात् स्वभाववर्णनञ्च  
वस्तूनां प्रकृतञ्चेत्तद्वस्तूनि प्रत्यक्षमिव दर्शयित्वा सद्ब्रह्मदयमनांसि  
नितरामाकर्षतीति तस्या अतीव चमत्कारित्वात् सेव प्रथम-  
मुदाह्रियते । यदाह स्म—

स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम् ॥

यथा मम संयुक्तासयम्बरे—

पुष्पस्पर्शनलोलितैरलिकुलैर्व्याप्तं वनं सर्व्वतः

उदयोन्मुखत्वं उपगते प्राप्ते सति बहुसाधनता विविधोपायवत्त्वं वैफल्यम् एति  
प्राप्नोति । हि तथाहि पतिष्यत, अस्तं गमिष्यतः दिनमर्तुः सूर्यस्य कारणां किरणानां  
सहस्रमपि अवलम्बनाय आश्रयाय अस्तमयविघाताद्येति यावत् न अभूत् । अथ च  
नतिष्यत, खलियतो जनस्य करद्वयमपि पतनप्रतिघाताय भवति, तस्य तु करसहस्र-  
मव्यवलम्बनाय नाभूदिति शेषः । अर्थद्वयमपि श्लेषेण समर्थयति प्रतिकूलतामिति ।  
विधौ चन्द्रे प्रतिकूलतां त्रिरहफलभागित्सुदयभागित्समिति यावत् । बहुसाधनता  
बहुस्थितुःपायशालित्वं विफलतामिति । तथा च कालान्तरे सूर्यास्तगमनं प्रति तत्-  
कालीनकिरणानां प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते । एवञ्च सन्ध्याकाले तत्कालीनकिरणरूप-  
प्रतिबन्धकानां सङ्गविऽपि सूर्यास्तगमनमभिव्येति प्रथमार्थसमर्थनम् । यद्ये विधौ द्वे  
प्रतिकूलतामनभिमतफलज्ञानोन्मुखतामुपगते सति बह्वभिमतफलोपायशालित्वं विफ-  
लतामेतौत्तर्यः ।

ईषन्मुक्तवचं शिरोषसुकुलं संसृज्य रूपोन्नतिम् ।

चित्ताज्ञादकरन्दैश्च विटपो काष्ठापि रागोज्ज्वला

आमुक्तः पवनः करोति प्रसभं चित्तोद्भवोन्मादनाम् ॥

यथा वा अभिज्ञानशकुन्तले कञ्चुकिनो जरावर्णनम् । सप्त-  
माङ्गे सर्वदमनस्य सिंहशावकास्तन्दनविक्त्रमादिवर्णनञ्च ।

प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधोयते ॥

प्रस्फुटमिति रूपकादेर्गम्यसाम्यादभेदाय, सुन्दरं वैचित्र-  
जनकम्, प्रस्तुतोत्कर्षजन्यचमत्कारः, तेन चमत्कारस्या-  
जनकं सादृश्यं नोपमालङ्कारः, यथा—‘गौविव गवयः’ इत्यत्र  
जायमलङ्कारः ; साम्यं सादृश्यम् । तच्च क्रियागतं गुणगतम्  
उभयगतञ्चेति । अत्राद्यं यथाभिज्ञानशकुन्तले—

क्षणात् प्रबोधमायाति लङ्घयते तमसा पुनः ।

निर्व्यास्यतः प्रदोषस्य शिखेव जरतो मतिः ॥ (क)

अत्र ‘आयाति’ ‘लङ्घयते’ इत्यत्र क्रियाद्वयस्य उपमेये उप-  
माने च साम्यम् । गुणगतं यथा कुमारी—

हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यसन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमासुखे विस्वफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ (ख)

(क) जरतः जरा गच्छतः स्थविरस्येत्यर्थः । मतिर्दुर्द्धिनिर्व्यास्यतः निर्व्यास्यं  
यास्यतः प्रदोषस्य शिखेव क्षणात् चल्पचरणेनैव प्रबोधं प्रकटयान् विज्ञास्य आयाति  
‘आप्नोति पुनः क्षणात् तमसा मोहो न तिनिरेण लङ्घयते आक्रम्यते आग्नियते इत्यर्थः ।

(ख) हरस्तु सन्द्रोदयस्य आरम्भे अम्बुराशिः समुद्र इव किञ्चित् ईषत् परिलुप्तं  
‘विनष्टं धैर्यं यस्य तथामृतः सन् विस्वफलाधरोष्ठे उमायाः पार्श्वयोः मुखे विलो-  
चनानि नैवापि व्यापारयामास पातयामास वृत्तनार्थं भाषिज्ञापनद्राघीदिति भावः ।

अत्र परिलुप्तधैर्यं गुण उभयत्रापि समानः । उभयगते  
यथोत्तरचरिते—

स्रपयति हृदयेशं स्नेहनिष्पन्दिनी ते ।

धवलबहलमुग्धा दुग्धकुलो व दृष्टिः ॥ (ग)

अत्र स्रपयतीति क्रियासाम्यं, स्नेहनिष्पन्दिनीधवलबहल-  
मुग्धा' इति गुणसादृश्यञ्च ।

मालोपमामाह विश्वनाथः—

मालोपमा यटेकस्योपमानं बहु दृश्यते ॥ यथा—

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।

संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तथा स भूतस्य विभूषितस्य ॥ (घ)

प्रकाशितविभिन्नस्वरूपयोरुपमेययोरतिसाम्यप्रदर्शनाय काल्प-

निकोऽभिदारोपी रूपकम्, यथाह न्यायवागीशः—

अभेदो भाषते यस्मिन् उपमानोपमेययोः ।

रूपकं कथ्यते सद्विरलङ्कारोत्तमं यथा—॥

तन्वि त्वद्वदनाम्भोजं लोलालकमधुव्रतम् ।

न कस्य हरते चेतो लसद्दृशनकेशरम् ॥ (ङ)

(ग) 'ते तव, धवला बहलमुग्धा अतिमनोहारिणी स्नेहनिष्पन्दिनी स्नेहवर्षिणी  
दृष्टिः दुग्धकुलो व चौरसरदिव हृदयेशं जीवितेश्वरं स्रपयति आद्रयतीत्यर्थः ।

(घ) स हिमवान् प्रभामहत्या प्रभोज्ज्वलया शिखया दीप इव, त्रिमार्गेश  
संस्कारकित्वा त्रिदिवस्य स्वर्गस्य मार्ग इव तथा संस्कारवत्या विशुद्धया गिरा वाचा मनीषीद  
विद्वानिव तथा पार्वत्या पूतस्य पवित्रीकृतस्य विभूषितस्य अलङ्कृतस्य एतैर्भूषयतीत्यर्थः ।

(ङ) लोललसते अलकाश्चेति लोलालकाश्चलचूर्णकेशा एव मधुव्रता समरा यस्मिन्

अत्र वदने अम्बोजस्य, अलके मधुव्रतस्य, दशने च।  
केशरस्याभेदासोपः ।

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ॥

इति भट्टपादाः । प्रकृतस्य उपमेयस्य, समेन उपमानेन ।  
सम्भावनञ्च उत्कटकोटिकः संशयः, अप्रस्तुतकोटेरुत्कटत्वञ्च।  
प्रस्तुतकोटेर्निगरणेन जायते, निगरणञ्च प्रस्तुतस्य क्वचिदनुपा-  
दानेन क्वचिदुपात्तस्याप्यधःकरणेन भवति यदुक्तम्—

विषयस्यानुपादानेऽपुनोपादाने च सूरयः ।

अधःकरणमात्रेण निर्गीर्णत्वं प्रचक्षते ॥ (क)

विषयः प्रस्तुतम् । यथा मृच्छकटिके—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिविफलतां गता ॥ (ख)

तत् तथोक्तं लसन्तः प्रदीप्ताः प्रकाशिताः इत्यर्थः, दशनाः दन्ता एव केशराः किञ्चलकाः-  
यस्मिन् तत् तथोक्तम् । तत् तव वदनाम्बोजं पद्मं हे तन्वि कृशाङ्गि, कस्य जनस्य-  
चेतः चित्तं न हरते आकर्षतीत्यर्थः, अपितु सर्व्वेयामीव चित्तमाकर्षतीति भावः ।

(क) सूरयः कवयः विद्वांस इति यावत्, विषयस्य प्रस्तुतस्य अनुपादाने अग्रहणे,  
उपादाने ग्रहणेऽपि अधःकरणमात्रेण निर्गीर्णत्वं निगरणं प्रचक्षते, कथयन्ति अधःकरण-  
मेव निगरणमिति फलितम् ।

(ख) तमः अन्धकारम् अङ्गानि अवयवानि-लिम्पतीव लिप्तानि करोतीव नभः  
अन्तरीक्षम् अञ्जनं कज्जलं वर्षतीव दृष्टिः चक्षुः असतां पुरुषाणां सेवेव विफलता  
निष्फलता गता दर्शनव्यापारराहित्यादिति भावः । अत्र तमः प्रसरसम्पत्तकूपी विषयौ-  
त्प्रेषणवर्षणाभ्याम् अधःकृतानिति बोध्यम् ।

अत्र तमसः प्रसरसम्पातादिरूपो विषयो नोपात्तः ।  
उत्तरचरिते यथा—

समयः स वर्त्तत इवैष यत्र मां  
समनन्दयत् सुमुखि गीतमार्पितः ।  
अयमागृहीतकमनीयकङ्कण-  
स्तवमूर्त्तिमानिव महोत्सवः करः ॥ (ग)

अत्र विषयः करः उपात्तोऽपि मूर्त्तिमहोत्सवरूपेणाधः-  
स्तुतः ।

अतिशयोक्तिमाह न्यायवागीशः—

लौकिकार्थानतिक्रम्य योक्तिः सातिशया मता ॥

यथा—

अयि क्लृपोदरि गच्छ शनैः शनैरियमतोव समुन्नतमेदिनी ।  
प्रतनुमध्यमिदं तव भूरिणा कुचमरेण कदाचन भज्यते ॥ (घ)

(ग) हे सुमुखि, एष स समयः वर्त्तत इव, यत्र अयं गीतमेव गीतमनन्दमेव  
यतानन्देन अर्पितः समन्व' प्रदत्तः आगृहीतं घृतं कङ्कण, हस्ताभरणविशेषः, हस्तसूत्रं  
वा येन तादृशः तव करः मूर्त्तिमान् देहवत्तः महोत्सव इव मां समनन्दयत् अति-  
अयमानन्दयतीत्यर्थः ।

(घ) अयि क्लृपोदरि. हे चीणमध्ये, शनैः शनैर्येन मन्दं गच्छ याहि, यतः  
इयमतोव अतिशया समुन्नतमेदिनी उन्नतावनताभूमिरित्यर्थः । तव इदं प्रतनुमध्यम्  
अतिशयचीणकटिं कदाचन कर्हि भूरिणा सातिशयेन कुचमरेण स्नानस्थीत्यनेत्यर्थः  
भज्यते विधा क्रियते ।

उपमेयस्य यदाधिक्यं स एव व्यतिरेकः । यथोच्यते  
मन्मथभट्टेन :—

उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ॥

अन्यस्य उपमेयस्य, व्यतिरेकः आधिक्यम् । स एव व्यति-  
रेकालङ्कारः । यथा कुमारे :—

चन्द्रं गता पद्मगुणान् भुङ्क्ते

पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिस्थाम् ।

उमामुखन्तु प्रतिपद्यलोला

द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ (ङ)

अत्रोपमानभूतचन्द्रपद्मापेक्षया उपमेयस्य उमामुखस्याधिक-  
गुणवत्त्वकथनात् व्यतिरेकालङ्कारः ।

प्रतीयमानसादृश्ययोर्वाक्ययोरेकस्यापि धर्मस्य पौनरुक्ति-  
भियां शब्दान्तरेण निर्देशः प्रतिवस्तूपमा, यथाह विश्वनाथः—  
‘प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोगमात्रसाम्ययाः ।

एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥

(ङ) लोला विवस्वला लक्ष्मीः शोभा चन्द्र गता रावाविति भावः । पद्मगुणान्  
सरोजस्थितिजनितसुखानौति यावत् । न भुङ्क्ते नास्वादयति, सरोजाश्रिता दिवसे  
इति भावः । दिवसे कमलं प्रफुटतीति कविसमयप्रसिद्धेः । चान्द्रमसी चन्द्र-  
जनिता चान्द्रीनिर्भवः । अभिष्टा शोभां न भुङ्क्ते, तु किन्तु उमायाः गौर्याः  
सुखं प्रतिपाद्य प्राप्य द्विसंश्रयां चन्द्रकमलवासजनितामिति भावः । प्रीतिम् आनन्दम्  
अवाप प्राप । उमाया वदनं चन्द्रः कमली च नेत्रे तेषाञ्च राविन्दिरसमानत्वा-  
दिति भावः ।

यथा कुमारः—

मधुश्च ते मन्मथ, साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।

समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य । (च)

अत्रानुक्तस्यापि सहजसहायस्य स्वतएव साहाय्यसम्पा-  
दने प्रवृत्तिरित्येक एवार्थः शब्दान्तरेण निहिष्टः ।

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।

निदर्शना हि सेयं स्यादाचार्य्येण यथोदिता ॥(छ)॥

यथा मालविकाग्निमित्रे :—

अभ्याजसुन्दरीं तां विज्ञानेन ललितेन योजयता ।

परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः (ज)

(च) हे मन्मथ, नदन, असी अयमयवर्तीत्यर्थः, मधुर्वसन्तः अनुक्तोऽपि  
अकथितोऽपि साहचर्यात् सहचरत्वात् ते तव सहाय एव भविष्यतीति श्रेयः ।  
हुताशनस्य वङ्गेनोदयिता सहायः भव इति समीरणो वायुः केन व्यादिश्यते नियुज्यते  
न केनापीत्यर्थः ।

(छ) वस्तुनो विषयस्य सम्बन्धोऽन्वयोऽभवन् असम्भवन् अघटमान इत्यर्थः ।  
उपमायाः सादृश्यस्य परिकल्पकः प्रतिपादकः सेयं हि निदर्शना आचार्य्येण मन्मटेन  
यथोदिता प्रतिपादिता ।

(ज) विधात्रा वेवसा अभ्याजसुन्दरीम् अभ्याजेन अकपटेन सर्व्वथावबन्नीयता-  
परिहारेणेत्यर्थः । सुन्दरी शोभना ता मालविका ललितेन हेलया हस्तपदादिभिर्गोसे-  
नेत्यर्थः ।, विज्ञानेन संगीतकलापरिज्ञानेन योजयता शिष्यनिपुणतां कृतित्यर्थः ।  
कामस्य मदनस्य विषदिग्धः विषलिप्तः बाणः हृषुरिव परिकल्पितः संसृष्टः । विष-

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्यविषया मतिः ।

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडूपेनास्मि सागरम् ॥ (भ)

अत्र मन्मथ्या सूर्यवंशवर्णनमुडूपेन । सागरतरणमिव-  
न्युपमायां पर्यवस्यति ।

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम् ॥

सधर्मस्य समानधर्मस्य वस्तुनो विषयस्य प्रतिविम्बनं  
अणिधानैव गम्यसाम्यत्वम् । प्रतिवस्तूपमायामेकस्यैव धर्मस्य  
भङ्गान्तरेण निर्देश इत्यस्माद् भेदः । यथा मालविकाग्निमित्ते

कदा मुखं वरतनु कारणाद्वते

तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम् ।

अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला

विभावरो कथय कथं भविष्यति ॥ (ज)

दिग्धो वाणो यथा तुददि तथेयं स्वभावमुन्दर्यपि विज्ञानादिना मन्मथसि कामानल-  
मुद्दीप्य पीडयतीति भावः ।

(भ) सूर्यः प्रभवति अष्ठादिति प्रभवः कारण यस्य स वंशः क्व ? अल्पविषयो  
यस्याः तथाभूता मतिश्च क्व ? नानयोः सङ्गतिः कदाचिदपि भवितुमर्हतीति क्लृप्त-  
सार्थः । अह मोहात् अज्ञानात् उडूपेन मेलितं दुस्तरं सागरं तितीर्षुः अस्मि । अत्र  
मन्मथ्या सूर्यवंशवर्णनरूपं वस्तु अभवत् उपमायां परिकल्पते इति बोध्यम् ।

(ज) अयि वरतनु, देवाभीक्षिते, तव मुखं कारणाद्वते कारणं विना अपराधादि-  
हेतुं विनैवर्थः, कदा कश्चिन् काले क्षणमपि अल्पकालमपि कोपपात्रता क्रोधभा-  
ताम् आगतं प्राप्सम् । अपि तु क्रोधहेतुं दृष्ट्वैव कृप्यसि अन्यथा कथमिति भावः ।  
हेतुशून्ये क्रोधमनुचितं तददृष्टान्तेन दृढयति विभावरीति, विभावरी रात्रिः अपर्वणि



यत्र साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण विशेषो वा सामान्येन समर्थ्यते अर्थात् सोपपत्तिकतया दृढः क्रियते सोऽर्थान्तरन्यासः । तदुच्यते भट्टपादैः—

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥

समर्थ्यं समर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावेऽर्थान्तरन्यासः, दृष्टान्ते प्रतिवस्तूपमायाश्च न तथेति परस्परं भेदः । सामान्यं विशेषेण यथा माघे :—

वृहत् सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।

सम्भूयाभ्योधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥ (ट)

अत्र द्वितीयार्द्धगतं विशेषेणार्थेन पूर्वार्द्धगतः सामान्योऽर्थः समर्थ्यते । विशेषः सामान्येन यथा तत्रैव :—

यावदर्थगतां वाचमेवमादाय माधवः ।

विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥ (ठ)

पूर्णिमाप्रतिपत्सन्धिकालमिदं बृहत्कलुषेन्दुमण्डला गृहेण राहुणा कलुषितं यत्तम् इन्दुमण्डलं चन्द्रमण्डलं यस्यां सा तथाभूता कथं भविष्यति ? न कथमपीत्यर्थः । तत् कथय । पूर्णिमायामेव राहुणा चन्द्रमण्डलं ग्रस्यते किंतु इतरस्या निशयां तत् कथयेत्यर्थः । अत्र मुखस्य विभावर्थायाश्च साधर्म्येण प्रतिविम्बनात् दृष्टान्तोत्पत्तिरिति ।

(ट) क्षोदीयानपि अतिक्षुद्रोऽपि बृहत्सहायः महासहायः सन् कार्यान्तरं गच्छति, नगापगा गिरिनिर्गच्छिणी महानद्या सम्भूया मिलित्वा अभ्योधिं समुद्रम् अभ्येति प्राप्नोति ।

(ठ) माधवः कृष्णः एवम् उक्तप्रकारा यावन्तोऽर्था इति यावदर्थं साफल्ये-

अत्र द्वितीयाहंगतेन सामान्येनार्थेन प्रथमाहंगतो विशेषोऽर्थः समर्थ्यते । वैधर्म्येण यथा कुमारे :—

इत्यमाराध्यमानोऽपि क्लिप्नाति भुवनत्रयम् ।

साम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥ (ङ)

अत्र द्वितीयाहंगतेन सामान्येनार्थेन प्रथमाहंगतो विशेषोऽर्थो वैधर्म्येण समर्थ्यते ।

यत्र प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा एकधर्म्मसम्बन्धस्तदा तुल्य-  
तोगितेत्याह विश्वनाथः—

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।

एकधर्म्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥

यथा कुमारे :—

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं

मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।

भास्वन्ति रत्नानि महौषधौघ

प्रथूपदिष्टां दुदुहूर्धरित्रीम् ॥ (ङ)

व्ययीभावः यावदर्थवदानि यस्याः ता वाच्यम् आदाय उक्त्यर्थः विवरान्, महौघाच्च महत्तरा प्रकृत्या स्वभावेन मितभाषिणः अल्पवादिनो भवन्तीति शेषः ।

(ङ) इत्यम् अनेन प्रकारेण आराध्यमानोऽपि सेव्यमानोऽपि स तारक इति पूर्व्वेणान्वयः । भुवनत्रयं त्रिभुवनं क्लिप्नाति तापयति, दुर्जनः प्रत्यपकारेण साम्येत् उपकारेण न । अत्र क्लेशप्रशमने विरुद्धधर्म्माविति बोध्यम् ।

(ङ) सर्वशैलाः सर्वे पर्व्वताः दोहदक्षे दोहनकुशले मेरौ दोग्धरि दोहके स्थिते

अत्र हिमवद्वर्णनस्य प्रकृतत्वात् तद्गतौषधिरत्नानां द्रव्याना-  
मपि प्रकृतत्वम्, तेषां दोहनक्रियारूपैकसमानधर्मसम्बन्धात्  
केवलप्राकरणीकविषयोऽयमलङ्कारः । तत्रैव च :—

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वा-

देकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः ।

लब्धापि लोके परिणाहि रूपं

जातास्तदूर्वोरूपमानवाह्याः ॥ (ण)

अत्र नागेन्द्रहस्तानां कदलोविशेषाणाञ्च द्रव्यानामप्यप्रसु-  
तानां परिणाहिरूपलाभक्रियायाः समानधर्मस्य, सम्बन्धात्  
प्रकरणीकविषयकमिदमुदाहरणम् ।

अप्रस्तुतप्रस्तुतयारेकधर्माभिसम्बन्धो दोषकम् । यथाह  
विश्वनाथः—

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दोषकन्तु निगद्यते ॥

यथा माघेः—

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्

प्रवाध्यते तेन जगज्जिगोषुणा ।

सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला

पुमासमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥ (त)

सतीत्यर्थः । यं हिमालयं वत्सं परिकल्प्या पृथुना राज्ञा उपदिष्टा निर्दिष्टा धरिणीं  
मासन्ति प्रमापूर्यानि रत्नानि महौषधीश्च दुर्दुहः ।

(ण) नागेन्द्रहस्ता गजशृङ्गादृष्टा इत्यर्थः, त्वचि कर्कशत्वात् काठिन्यात्,  
कदलीविशेषाः एकान्तशैत्यात् अतयोतलत्वात् लोके वर्ज्येति परिणाहि विशा रूपं  
लब्धापि तदूर्वोः तस्याः पार्वत्याः ऊर्वा उपमायते अनेनेति उपमानं तस्मात् राज्ञः  
परिस्थिता जाताः प्राप्तेत्यर्थः ।

अत्र प्रसुतायाः प्रकृतेरप्रसुतायाः पतिव्रतायाश्च जन्मान्तरेऽपि स्वकीयपुरुषानुगमनरूपैकक्रियासम्बन्धः ।

एकाधिकायाः क्रियायाः एककृत्तृत्वे क्रियादीपकमाह च एव यथा :—

अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।

यथोत्तरचरिते :—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा

प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।

तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिभूढेन्द्रिग्रगणो

विकारश्चेतन्यं भ्रमयति च सम्मोलयति च ॥ ( थ )

वस्तुसादृश्यात् कविप्रौढोक्तिसमुद्भूतो या बोधः स भ्रान्ति-

मान् । यथाह विश्वनाथः—

साम्यादतस्मिंस्तद्वुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्यतिता ॥

( त ) त्रिगौपुणा तेन शिशुपालेन बलावलेपात् बलदर्पात् अधुनापि इदानीमपि पूर्ववत् प्राक्तनजन्मनीव जगत् प्रवाध्यते प्रपीड्यते । सती साध्वो योषित् रमणो निश्चला प्रकृतिः स्वभावश्च भवान्तरेऽपि अन्यस्मिन्नपि जन्मनि पुनस्त पुनश्च अभ्येति आप्नोति ।

( थ ) हे प्रिये, तव स्पर्शे स्पर्शे प्रतिस्पर्शे सुखमिति वा दुःखमिति वा प्रमोहो वा निद्रा वा विषविसर्पः विषेण आच्छन्नता किमु ? मदः मद्यपानजनितावस्था किमु विनिश्चेतुं विशेषेण निर्धारयितुं न शक्यः, हि यतः परिसूढ- विषश्च इत्यर्थः, इन्द्रिय- गणो येन तादृशो मम विकारः चैतन्यं भ्रमयति च सम्मोलयति च आह्वयति च ।

प्रतिभोत्थितेति 'शुक्तिकायां रजतम्' इति भ्रान्तिर्नामान-  
लङ्कारस्य विषयः । यथा—

महाराज, श्रीमन्, जगति यशसा ते धवलिते

पयः पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते ।

कपर्दी कैलासं करिवरमथार्यं कुलिशमृतं

कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ॥ (द)

अत्र भोजराजस्य यशसा धवलीकृते जगति सर्वत्रापि  
परमपुरुषादीनां समुद्रादिभ्रान्तिः कविप्रतिभोत्थितेति भ्रान्ति-  
मानलङ्कारः ।

प्रसृतं निषिध्याप्रकृतस्य स्थापनमपङ्कतिः । तदुच्यते  
विश्वनाथेन :—

प्रकृतं प्रतिषिद्धान्यस्थापनं स्यादपङ्कतिः ॥

अत्रापि कविप्रौढोक्तिसिद्धमेव । यथा—

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नेताश्च तारा नवफेनमङ्गाः ।

नाथं शशी कुण्डलितः फणौन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो

सुरारिः ॥ (घ)

(द) हे श्रीमन् महाराज, ते तव यशसा जगति धवलीते मृलीकृते अधुना  
अं परमपुरुषः पयः पारावारं चौरसमुद्रं कपर्दी हरः कैलासम् अयं कुलिशमृतं  
इन्द्रः करिवरम् ऐरावतं राहुः सैद्धिक्यः कलामाव चन्द्रं चन्द्राय षोडशभागैकभागः  
मित्यर्थः । कमलभवनः ब्रह्मा 'सं' मृगयते अन्विष्यति ।

(घ) इ' नभोमण्डलम् आकाशमण्डलं न, अम्बुराशिः समुद्रः, एताश्च ताराः  
नक्षत्राणि न, नवा नवीनाः फेनानां मङ्गाः जेदाः । अयं शशी चन्द्रा न, कुण्डलितः  
अम्बुलाकारेण स्थितः फणौन्द्रः शेषः, असौ कलङ्कः, शयितः सुरारिः नाथः ।

अत्र हि प्रकृतानां प्रस्तुतानामित्यर्थः, नभोमण्डलादीनां प्रतिषेधेन अम्बुराशिप्रभृतोनामप्रस्तुतानां स्थापनम् ।

समसनं समासः वाक्यानां सञ्क्षेपः । यत्र सञ्क्षेपेनोक्तिः सा समासोक्तिः । यथोच्यते आग्नेये :—

यतोक्ताङ्गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।

सा समासोक्तिरुदिता सञ्क्षेपार्थतया वृधैः ॥

अत्र यत् तत्समानविशेषेण इतुरक्तं तदुपलक्षणम् ; तेन तत्समानकार्यः, तत्समानलिङ्गश्च गृह्यते । यत्र समैर्विशेषणैः कार्यैर्लिङ्गैश्च उक्तात् प्रस्तुतादप्रस्तुतादवान्यो यथाक्रम-मप्रस्तुतः प्रस्तुतो वार्थो बोध्यते सा सञ्क्षेपोक्तिस्वरूपत्वात् 'समासेन सञ्क्षेपेनोक्तिः' इति व्युत्पत्त्या समासोक्तिः कथिता । सञ्क्षेपश्च एकस्य वचनेनोभयप्रतिपत्तिरिति । अदर्शे, अप्रस्तुताद-वाच्यात् प्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिरित्यभिहितम् । नव्यास्तु तद्वेपरित्येन प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतौ समासोक्तिः, अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतावप्रस्तुतप्रशंसेत्याहुः । वाचे प्रस्तुतेऽप्रस्तुत-व्यवहारसमारोपः समासोक्तिरिति विश्वनाथादयः । वस्तु-तस्तु उभयत्रापि समासोक्तेरेवाभुवपगमस्यौचित्यात्तदनुगुणमेव प्राचोनरोत्या लक्षणमुक्तमस्माभिः । क्रमेणोदाहरणं यथा रघौ :—  
श्रुतिखुश्रमरखनगीतयः कुसुमकामलनन्तरुचो बभुः ।

उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः मलयैरिव पाणिभिः ॥(न)

(न) श्रुतिखुश्राः श्रवणानन्दिनः भमराणां खना गुञ्जनानि गीतय इव यासां ताः तथा कुसुमानि कीमला दन्तागा रुचः प्रभा यासां तथाविधाः उपवनान्तलताः ।

अत्र विशेषणसाम्यात् कार्य्यसाम्याच्च प्रस्तुताइनलता-  
रूपार्थादप्रस्तुतो नर्त्तकीरूपोऽर्थः प्रतीयते ।

घातकस्त्रिचतुरान् पयःकणान् याचते जलधरं पिपासितः ।

सोऽपि पूरयति भूयसाभ्रसा चित्रमत्र महतामुदारता ॥ (प)

अत्र अप्रस्तुताच्चातकाज्जलधराच्च कार्य्यसाम्यात् प्रस्तुतो  
याचकः उदाराशयो घनपतिस्र बोध्यते ।

यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः प्रशंसा क्रियते, तामप्रस्तुतप्रशंसा-  
माह दण्डी यथा—

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादपक्रान्तेषु या स्तुतिः ।

तन्मुखेन प्रस्तुतस्य निन्दा यत्र प्रतीयते ॥

अप्रक्रान्तेषु अप्रस्तुतेषु अप्रस्तुतानामित्यर्थः, षष्ठ्यर्थेऽत्र  
सप्तमौ । यथा माघे—

पादाहतं यदुत्थाय सूर्धानमधिरोहति ।

स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥ (फ).

पवनाहतैः अनिलताडनैः किसलयैः नवीनपल्लवैः मलयैः लघाख्यसङ्गीताङ्गहस्तचालन-  
सङ्घटैः पाणिभिः करैरिव वस्तुः सुशोभिरं ।

(प) घातकः सारङ्गः मेषवारिप-पक्षिविशेषः, पिपासितः सन् जलधरे मेष-  
त्रिचतुरान् तत्संख्यकान् पयःकणान् वारिविन्दन् याचते प्रार्थयति, सोऽपि जल-  
धरोऽपि भूयसा प्रचुरेण अभ्रसा वारिणा पूरयति तत्प्रार्थनमिति शेषः ।

(फ) यत् पादाहतं चरणताडितं यत् पादाहन्तुरिति शेषः, सूर्धान् मस्तकम्  
अधिरोहति आक्रामति, तत् रजः अपमाने अत्र परामर्शेऽपि स्वस्थात् देहिनः वरं ननाक्  
प्रियम् भवतीति शेषः ।

अ अप्रस्तुतस्य रजसः प्रशंसामुखेन प्रस्तुतस्य अपमान-  
सहिष्णोर्निन्दा प्रतीयते । यथा वा—

स्वैरं विहरति स्वैरं श्रुते स्वैरञ्च जल्पति ।

भिक्षुकः सुखी लोके राजचोरभयोज्झितः ॥ (ब)

कोऽपि दुःखी चिन्तार्तः सन् यतिं सन्तोषसारं दृष्ट्वैव-  
मुवाच । अत्र तेन दुःखिना भिक्षुप्रशंसा तावत् प्रारब्धा ।  
कोऽपि नास्ति परं दुःखदग्ध एवं विचारयामास इति अप्र-  
स्तुतप्रशंसा ।

स्तुतिमुखेन निन्दा, निन्दामुखेन वा स्तुतिर्वाजस्तुतिः ।  
यटाङ्गुर्भट्टचरणाः—

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रुद्धिरन्यथा ॥

निन्दायाः स्तुतिरूपेण, स्तुतेर्निन्दारूपेण वा पर्यवसाने  
व्याजरूपा स्तुतिरिति व्याजस्तुतिः । मुखे आपाततः, अन्यथा  
यथाक्रमं तुल्यां निन्दायां वा रुद्धिः पर्यवसानम् । क्रमे-  
णोदाहरणम् यथा—

त्यक्त्वा राज्यं गिरमनुसरन् श्लोवशान्मूढबुद्धे-

राज्ञी भ्रान्त्वा गहनविपिने हारयन् मुग्धकान्ताम् ।

(ब) लोके समस्तं राजचोरोज्झितः राजा च चोरस्य राजचोरी तयोर्मध्यं  
तस्मादुज्झितः त्यक्तः भिक्षुकः यतिः सुखी, कथं सुखी ? यतः स्वैरं स्वाधीनं विहरति  
क्रोडति स्वैरं श्रुते स्वयति, स्वैरं लसति भावति । कोऽपि नास्ति परं दुःखदग्ध एवं  
विचारयामास ।



सख्यं बद्धा कपिभिरसमं लङ्घयन् कीर्त्तिरयां  
पूर्वेषां वो विलयमनयो हेमलङ्कां किमेतत् ॥ (भ)

अत्र स्त्रीवशवर्त्तिनो मूढधियो नरपतेर्वचनप्रतिपालनम्,  
पूर्वेषां सगरसुतानां कीर्त्तिलङ्घनादिकक्षापाततो निन्देव  
प्रतिभाति, चरमे च पितुः प्रतिज्ञा संरक्षिता, दुस्तरं तोय-  
निधिमुत्तीर्य दुःसहप्रतापो वनितापहारो दशाननो विजितः  
समूलमुन्मूलितश्चेत्यहो दुष्करं कृतमिति सर्वमेव सुत्यां  
पथ्यं वस्यतीति निन्दायाः सुतिरूपेण पथ्यं वसाने व्याजस्तुतिः ।  
प्रशंसामुखैर्निन्दा यथा—

युक्तं तवैतत् रघुवंशभूपतेः

सतां हि सख्युः परिपालनं व्रतम् ।

इतः स्तुतिः का जगदीश, निर्मला

भवान् यदर्थं न्यवधौन्निरागसम् ॥ (म)

(भ) रामं प्रति कस्यश्चिदुक्तिरियम् । हे राम, स्त्रीवशात् स्नेहत्वात्, मूढबुद्धेः  
दुष्टमतेरित्यर्थः, राज्ञः अयोध्याधिपतेर्देशरयस्त्वर्थः, गि 'वाक्यं 'लं वन गच्छ' इति  
वाचम् अनुसरन् राव्यं त्यक्त्वा गच्छन्विपिने घोरारण्ये भुग्धकान्तां सुन्दरीं वनितां हारयन्  
निकषात्मजेनेति शेष, कपिभिर्व्यानरैः असम्यग् अतुलनीयं सौख्यं सौहृदं बद्धा  
सम्पाद्य कालेत्यर्थः, व. युष्मत्कं पूर्वेषां पूर्वपुरुषाणां सगरवंशीयानामित्यर्थः, अयां  
महती कीर्त्तिं सागरमित्यर्थः, लङ्घन् सेतुबन्धनेन तरन्नित्यर्थः, हेमलङ्का स्वर्णलङ्कापुरी  
विलयं विष्यंसम् अनयः प्रापितवानसि किमेतत् ?

(म) रामं प्रति वालिराजस्योक्तिरियम् । हे रघुवंशभूपते, तव एतत् सुखी-  
प्रीतिकरणमिति भावः । युक्तम् सङ्गतं हि अतः सतां साधूनां सख्युः सौहार्दस्य परि-  
पालनं परिरक्षणं व्रतम् अवश्यकर्तव्यमित्यर्थः, हे जगदीश, इतः अस्मात् परं निर्मला

अत्र प्रियवन्धोः संरक्षणमुचितमेवेति तव सुग्रीवसहायत्वं  
युक्तमेवेत्यागाततः स्तुतिरपि मित्रकार्यार्थं निरपराधस्य जोष-  
कलेवरस्य शाखानृगस्य मे हननं सर्वथा गर्हितमेवेति चरमे  
निन्दायां पर्यवस्यतीति स्तुतेर्निन्दायां प्रत्यवसाने व्याजस्तुतिः ।

यत्नेकमेव वाक्यं तैरेव पदैर्भिन्नैर्वा पदैरनेकमर्थं वक्ति स

एव श्लेषः । यथाह वाग्भटः—

पदैस्तैरेव भिन्नैर्व्वा वाक्यं वक्तव्येकमेव हि ।

अनेकमर्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा—॥

आनन्दमुक्तासयतः समन्तात् करैव सन्तापकरैः प्रजानाम् ।

यस्योदये क्षोभमवाप्य राज्ञो जग्राह विलां किल सिन्धुनाथः ॥ (य)

अत्र यस्य राज्ञश्चन्द्रस्योदये क्षोभमवाप्य सिन्धुनाथः समुद्रः  
विलां मर्यादां जग्राह । शीतकरैः करैः किरणैर्लीकानां  
समन्तात् हृषमुत्पादयतः इत्यर्थः, एव श्लेषः । भिन्न-  
पदैर्यथा—

कुर्वन् कुवलयोल्लासं रम्याभोजश्रियं हरन् ।

रेजे राजापि तस्मिन् निशान्ते कान्तिसत्तया ॥ (र)

अतिविश्रुता स्तुतिः का ? यदर्थं श्रव्याः श्रुत्याः कृते इत्यर्थः । भगन् निरागसं निरपराध-  
मामिति शेषः, व्यवधीत् निहतवान् ।

(य) यस्य राज्ञा चन्द्रस्योदये क्षोभमवाप्य किलितं श्रुयते, सिन्धुनाथः सिन्धुदेश-  
धिपो विलासमङ्गलच्छेदादिका जग्राह । तदासा गृहीतवानित्यर्थः, कीदृशस्य असन्ताप-  
करैः करैः प्रजानां समन्तादानन्दमुक्तासयतो वईयतः ।

(र) चित्रं यो राजा चन्द्रो निशान्ते प्रभाते कान्तिसत्तया कान्तिसत्तेन रराज ।

समानस्थोपमेयत्वकल्पनं प्रतीपमाह विश्वनाथः—

प्रसिद्धस्योपमानस्थोपमेयत्वप्रकल्पनम् ।

निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥

क्रमेणोदाहरणं यथा—

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्द्रीवरं

मेघैरन्तरितः प्रिये, तव मुखच्छायानुकारौ शशौ !

येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-

स्तत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैव्रेण न क्षम्यते ॥ (ल)

मुखं यदि किमिन्दुना यदि चलाञ्चले लोचने

किमुत्पलकदम्बकैर्यदि तरङ्गभङ्गिभ्रुवौ ।

किमात्मभवधन्वना यदि सुसंयताः कुन्तलाः

किमम्बुवहङ्गस्वरेर्यदि तनुरियं किं श्रिया ॥ (श)

कुवलयोल्लासं भ्रूवलयोल्लासं कुर्वन् रम्या शोभना भोजश्रियं भोजराजलक्ष्मीं हरन्  
गङ्गन् रंजि अत्यधिकां शोभां विकाशयतीत्यर्थः ।

(ल) उद्धृतां शीतां प्रति रामस्योक्तिरियम् । 'हे' प्रिये, तव नेत्रयोः समाना-  
कान्तिर्यस्य तादृशं यत् इन्द्रीवरं नीलोत्पलं तत् सलिले जले मग्नं विनष्टम् । तत्  
मुखच्छायानुकारौ त्वन्मुखसदृशद्वीप्तिरित्यर्थः, शशौ शशधरः मेघैरन्तरितः तिरोरिः,  
येऽपि तव गमनानुकारिणो गतिर्येषा तादृशाः राजहंसाः, तेऽपि गताः मानसमिति  
शेषः । मानसे हंसानां वर्षासु गमनं कविसमयप्रसिद्धत्वादिति भावः । अतः दैव-  
प्रतिकूलविधिनेत्यर्थः, तव सादृश्येन यो विनोद कश्चपि चक्षुसन्तोषः तन्मात्रमपि  
न क्षम्यते न सञ्जते । सादृश्यदर्शनादयो हि विरहिणां विनोदा इति लोक-  
प्रसिद्धत्वादिति भावः ।

(श) यदि मुखं तस्या विद्यते इति शेषः, 'तदा' इन्दुना चन्द्रस्य किम् ? न  
किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । तस्मिन्नेव इन्दुकार्यस्य समाधानादिति भावः । यदि चलेः

प्रथमे प्रसिद्धानामुपमावस्तुनामिन्द्रीवरादीनामुपमेयत्वप्रकल्प-  
नम्, द्वितीये इन्दुप्रभृतीनां निष्फलत्वकथनम् ।

सहोक्तिलक्षणमाह वाग्भटः—

सहोक्तिः सा भवेदत्र कार्यकारणयोः सह ।

समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम् ॥

अर्थात् यत्र हेतोः कारणस्य तज्जन्मशक्ततां कार्योत्पत्ति-  
शक्ततां वक्तुं कार्यकारणयोः सह समुत्पत्तिकथा समकाल-  
मुत्पादनवार्त्ता भवति सा सहोक्तिर्भवेत् । यथा—

आदत्ते सह यशसा नमयति सार्द्धं मदेन संग्रामे ।

सह विहिषां श्रियासौ कोदण्डं कर्षति श्रोमान् ॥ (घ)

चक्षुर्लोचनं अपाङ्गवित्यर्थः ययोः, तादृशे लोचने विद्यते तस्या इति शेषः, तदा-  
उत्पन्नानाम् इन्द्रीवराणां कदम्बकैः समूहैः किम् ? न किमपीत्यर्थः, तत्कार्यस्य  
लोचनाभ्यामेव समाधानादिति भावः । यदि तरङ्गस्त्वेव भङ्गः कौटिल्यं ययोः,  
तादृशो ध्रुवो विद्यते तस्या इति शेषः । तदा आत्मभवस्य अनङ्गस्य धन्वना धनुषा-  
किम् ? नैव प्रयोजनमस्तीत्यर्थः, कामकार्मुककार्यस्य तद् ध्रुयुगलाभ्यामेव समा-  
धानादिति भावः । यदि सुसंघताः सुष्ठुवद्वाः कुन्तलाः केशाः विद्यन्ते तस्या इति  
शेषः, तदा अन्तुवद्वाः मेघानां डम्बरेः बिसरैः किम् ? नैव प्रयोजनमस्तीत्यर्थः ।  
अवापि पूर्ववदेव हेतुर्द्रष्टव्यः । यदि इयं तनुः शरीरं विद्यते तस्या इति शेषः ।  
तदा श्रिया लक्ष्म्या किम् ? नैव प्रयोजनमस्तीत्यर्थः, अवापि पूर्ववदेव हेतुर्वर्द्धः ।

(घ) असौ श्रीमान् वीरः कोदण्डं धनुः विहिषा मदेन सह नमयति ।  
बिहिषा श्रिया लक्ष्म्या श मया वा सह कोदण्डं धनुः कर्षति । विहिषा यशसा सह-  
आदत्ते वृद्धातीत्यर्थः ।

अत्र यश आदत्ते इति कार्यम् । कोदण्डग्रहणन्तु यशो-  
ग्रहणकारणम् । कारणस्य कोदण्डस्य तज्जन्मनि कार्योत्-  
पत्तौ यशोग्रहणरूपाया शक्तिर्नास्ति ।

वाक्यस्य पदार्थस्य वा हेतुरूपेणोक्तौ काव्यलिङ्गम् । यथाह  
विश्वनाथः—

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम् ।

यथोत्तरचरिते—

रे हस्त दक्षिण, स्रुतस्य शिशोर्द्विजस्य

जीवातवे विस्मज यूद्रसुनौ क्लृपाणम् ।

रामस्य गात्रमसि दुर्भरगर्भखिन्न-

सीताप्रवासनपटोः करुणा कुतस्ते ? ॥ (स)

अत्र करुणाया अभावे 'रामस्य गात्रमसि' इति वाक्यम्,  
'दुर्भरगर्भखिन्नमीताप्रवासनपटोः' इति पदार्थश्च हेतुः ।

यत्र कारणसङ्गावं विना कार्यस्य दर्शनं दृश्यते सा  
विभावना । यथाह विश्वनाथः—

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिं यदुच्यते ॥

(स) रे दक्षिणहस्त, स्रुतस्य द्विजस्य शिशोः जीवातवे जीवनाय यूद्रसुनौ यूद्र-  
पुत्रे क्लृपाणम् अस्मिं विस्मज यूद्रसुनि प्रहर इत्यर्थः । कथमहमीदृशमकार्यं करवा-  
णीत्याशङ्क्य तवाकरणीयं नास्तीति प्रवेष्ट्याह—रामस्येति, दुर्बलेण कोदुःमशक्तेन  
गर्भेण खिन्ना क्लान्ता या सीता तस्याः प्रवासने निर्वासने पटोः दक्षस्य रामस्य गात्रम्  
अत्रमसि, ते तव करुणा कुतः ?

कुमारे यथा—

अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम् ।

अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥ (ह)

अत्र मेघोदयकुसुमरूपकारणयोरभावेऽपि वर्षफलरूप-  
कार्ययोरभिधानम् ।

उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता, अचिन्त्यनिमित्ता चेति  
त्रिधा विशेषोक्तिरुच्यते यथा—

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्त्रिधा च सा ।

उक्तानुक्तोर्निमित्तस्याप्यचिन्तत्वे च कुत्रचित् ॥

क्रमेणोदाहरणं यथा—

धनिनोऽपि निरुन्मदा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।

प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥ (घ)

अत्र धनादिरूपहेतुसत्त्वेऽपि उन्मादादिरूपफलाभावः  
महामहिमशालित्वञ्चात्र निमित्तमुक्तम् । अत्रैव चतुर्थपादे  
'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे निमित्तमनुक्तं भवति ।

(ह) यः युष्माकम् अतर्कितोपपन्नम् अभावितोपस्थित दर्शनं मे मम अपगतौ  
सैवानामुदयो यत्र तादृशं वर्षं तथा न दृष्टं कुसुमं यस्य तथामूर्तं फलं प्रतिभाति ।

(घ) तैः जनाः धनिनोऽपि धनवन्तोऽपि निरुन्मदाः उन्मादरहिता अप्रचण्डा  
इत्यर्थः, युवानोऽपि तरुणा अपि न चञ्चलाः चापल्यरहिता इत्यर्थः । प्रभवः निगूढा-  
नुग्रहसमर्थाः अपि अप्रमत्ता अवहिता इत्यर्थः, यतः महामहिमशालिनः महाप्रताप-  
युक्तस्य इत्यर्थः ।

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥ (क)

अत्र तनुहरणेऽपि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् ।

विषमलक्षणमाह वाग्भटाचार्यः—

वस्तुनो यत्र सम्बन्धमनौचित्येन केनचित् ।

असम्भाव्यं वदेद् वक्ता तमाहुर्विषमं यथा ॥

यत्र केनचिदनौचित्येनानवसरतया वस्तुनः पदार्थस्य सम्बन्ध-  
मसम्भाव्यं वक्ता वदेत्, कवयस्तु विषमालङ्कारमाहुः । यथा—

क्वदं तव वपर्वत्से कदलीगर्भकोमलम् ।

क्वायं राजीमति क्लेशदायी व्रतपरिग्रहः ॥ (ख)

यत्र वाक्ये आरम्भे शब्दार्थकृतं विरुद्धत्वमाभाति तत्त्वतो  
न स एव विरोधः । यथाहुर्भट्टचरणाः—

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ॥

(क) स प्रसिद्धः कुसुमायुधः एकः एकाकीत्यर्थः, स्त्रीणि जगन्ति स्वर्गमर्थ-  
पातालानि जयति । शम्भुना शिवेन तनुम् अङ्गं हरतापि यस्य कुसुमायुधस्य बलं  
सामर्थ्यं न हृतम् शिवनेत्राग्निना दग्धोऽपि स सकलं जगत् मोहयतीति भावः ।

(ख) हे वत्से, धाले, इदं राजीमति कदलीगर्भकोमलं रम्भाफलवत् पेलवं तव  
वपुः क्व ? अयं क्लेशदायी दुःस्वार्पणकारी कठोरनिग्रहमानुषादीत्यर्थः, व्रतपरिग्रहः  
इन्द्रियादिनिग्रहनिग्रहमाङ्गीकारः क्व ? उभयोर्बहुदन्तरित्यर्थः । अत्र सुकोमलस्य  
तव पपुषो दीक्षानुचिता । दीक्षासम्बन्धः, तथासम्भाव्यं कथं वदसि गृहीयसि  
अनयोऽन्यत्कामन्तरमिति फलितायः ।

व्यधिकरणयोरिव धर्मयोः सामान्याधिकरणेन निर्देशो  
विरोधः । अयमेव विरोधाभास इत्युच्यते । यथा रघौ—

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।

स्वपतो जागरुकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ (ग)

जगद्योनिरयोनिस्रवं जगदन्तो निरन्तकः ।

जगदादिरनादिस्त्रवं जगदीशो निरीश्वरः ॥ (घ)

प्रथमे भगवतः प्रभावस्यातिशयित्वादापाततः प्रतीयमानस्य  
विरोधस्य समाधानम्, द्वितीये नञ्जतत्पुरुषसमामे विरोधः,  
बहुव्रीहिणा परिहारः ।

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात् दर्पणकारसम्भता ॥

यथा—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं

गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

(ग) हे देव, को जनः अजस्य जन्मरहितस्य अथ च जन्मगृह्णतः जायमानस्ये-  
त्यर्थः, निरीहस्य निश्चेष्टस्य अथ च हता द्विषः शत्रवो येन तथोक्तस्य स्वपतः निद्राणस्य  
अथ च जागरुकस्य तस्य याथार्थ्यं तत्त्वं वेद ज्ञानाति न कोऽपीत्यर्थः । विष्णु प्रति  
देवानां श्रुतिरियम् ।

(घ) हे देव, त्वं जगतां योनिः प्रभवः, स्वयम् अयोनिः नास्ति योनिः प्रभवो  
यस्य यथाभूतः । जगताम् अन्तरास्ति अन्तः नाशक इत्यर्थः । त्वं जगताम् आदिः  
मूलकारणम् स्वयं नास्ति आदिर्द्यम् तथोक्तः । जगताम् ईशः स्वामी प्रभुरित्यर्थः,  
स निरीश्वरः स्वामिरहितः इत्यर्थः ।



गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते

जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ (ङ)

यत्र निर्धारितात् सारात् ततस्ततः सारं सारं निर्धार्यते  
तत्सारमाहुर्भट्टपादाः—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः ॥

यथा—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम् ।

सौधे तल्यं तल्ये वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥ (च)

यत्र पूर्वं पूर्वं परवाक्येन निषेधात् स्थापनं तदैकावलौ-  
माह विश्वनाथः यथा हि—

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ।

स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावलौ द्विधा ॥

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो विशेषणत्वेन यत्  
स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावलो कथ्यते ।

तयोरादिमाया विशेषणेनोदाहरणं यथा—

(ङ) जितेन्द्रियत्वम् इन्द्रियायात्तं विनयस्य शिष्टाचारस्य कारणं हेतुः, विनयात्  
गुणप्रकर्षः गुणानां प्राधान्यम् अव्याप्यते लभ्यते । गुणप्रकर्षेण जनः लोकः अनुरज्यते  
सम्पदः जनानाम् अनुरागः प्रभवी यासा तथाविधा हि लोकानुरागेणैव सम्पदो लभ्यते  
इति भावः ।

(च) राज्ये राज्यमध्ये वसुधा लोकवासभूता धरणीत्यर्थः, स्वारं ग्रंथ इत्यर्थः,  
वसुधायां पुरं नगरं पुरे नगरे सौधं इत्यर्थः सौधे तल्यं शय्या तल्ये शय्यायां  
अनङ्गसर्वस्वं वराङ्गना उत्तमा रमणी सारमित्यनेन सर्वत्र सम्बन्धः ।

सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।

भृङ्गा यत्र ससङ्गीताः सङ्गीतं मधुवर्षि च ॥ (क)

अत्र 'अम्भोजं तस्य भृङ्गम्' इत्यादिक्रमेण विशेषणं विधीयते-  
अपरं यथा भट्टी—

न तल्ललं यत्र सुचारुपङ्कजं

न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम् ।

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं

न गुञ्जितं तन्न जहार यन्ननः ॥ (ज)

अत्र क्रमेण पूर्वं पूर्वं वाक्यं परवाक्येन निषेधः ।

दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ॥

‘मूषिकेण दण्डो भञ्जितः’ इत्यनेन तत्सहचरितमपूप-  
भञ्जणमर्थादायातं भवतीति न्यायो दण्डापूपिका तयार्था-  
नन्तरबोधनमर्थापत्तिः । यथा रघी—

(क) यत्र यस्मिन् सर, तडाग विकसितानि प्रफुटितानि अम्भोजानि सरोरुहाणि  
रम्यानीत्यर्थः, यस्मिन् तत् तथोक्तम् । अम्भोज भृङ्गः धमरः सङ्गत युक्तं भृङ्गाः  
समङ्गीताः गुञ्जनकारिणः । सङ्गीतं गुञ्जनञ्च मधुवर्षि मधुस्रावि अतिमधुरमित्यर्थः ।

(ज) तत् जलं न आसीदिति शेषः । यत्र जलं सुचारुपङ्कजं न, सुचारुणि  
पङ्कजानि यस्मिन् तत् तथोक्तम् । तत् पङ्कजं पद्मं न, यत् अलीन षट्पदं लीन निषण्णः  
षट्पद, धमरः यदेति लीनषट्पदं धमराभिहितं तथा न भवतीति तथोक्तम् अनिषण्ण-  
मपन्नतम् । सर्वेष्वेव कमलीषु मधुव्रता निषेधुरित्यर्थः । असौ षट्पदः धमरः न,  
यः कलं मनोहरं यथा स्थात् तथा न जुगुञ्ज न कदापि कृतवान्, सर्वतः धमराः सुष्ठु  
गुञ्जितवन्त इत्यर्थः । तत् गुञ्जितम् अव्यक्तमधुरञ्च न, यत् मनः श्रोतुश्चित्तं न जहार  
बिबशीचक्राव तन्मथमकरोदिति यावत्, सर्वसैवान्वित मनोहरमभूदित्यर्थः ।

विललाप स बाध्यगदगदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।

अभितसमयोऽपि माह्वं भजते कैव कथा शरीरेषु ॥ (भ)

अतिकठिनं लोहमपि तापेन गलितं भवतीति तदपे-  
क्षयातिमुकुमारस्य मनुष्यहृदयस्य गलनं सुतरामायातीति  
अर्थापत्तिः ।

यत्र प्रश्ने कृते तदुत्तरं व्यक्तं गुढमुभयमपि वा स एव  
प्रश्नोत्तरालङ्कारः । यथाह वाग्भटः—

प्रश्ने यत्रोत्तरं व्यक्तं गुढं व्याख्यायवोभयम् ।

प्रश्नोत्तरं तथोक्तानां संसर्गः सङ्करं विदुः ॥

यत्र यथोक्तानां शब्दार्थानामलङ्काराणामुक्तानामेकत्र एकदा  
संसर्गो भयनं स सङ्करालङ्कारः । प्रश्नोत्तरोदाहरणं यथा—

अस्मिन्नपारसंसारसागरे मज्जतां सताम् ।

किं समालम्बनं साधो ! रागह्वेषपरिचयः ॥ (ज)

(भ) सः अजः सहजा स्वाभाविकीमपि धीरता धैर्यम् अपहाय त्यक्त्वा बाध्यगद-  
गदं बाध्येण नेत्रजलेन गदगदम् अस्पष्टध्वनियुक्तं यथा स्यात् तथा अतिजडितकण्ठ-  
स्त्ररेणेत्यर्थः, विललाप वक्रन्द । तथा हि अभितसम् अव्यधिकीणम् अयोऽपि लोहमपि  
माह्वं सदृतां कोमलतामित्यर्थः भजते प्राप्नोतीत्यर्थः, शरीरेषु देहधारिषु का एव  
कथा ? न कापीत्यर्थः । इन्द्रमतीविरहे अजस्र विलापोक्तारियम् ।

(ज) हे साधो, अस्मिन् इह जगतीत्यर्थः, अपाः पाररहित एव संसारसागर-  
समुद्रः तस्मिन् तथोक्ते निमज्जतां मग्नानां सतां साधूनां समालम्बनम् आश्रयभूतं  
किमिति प्रश्ने व्यक्तमुत्तरम् रागह्वेषपरिचयः रागह्वेषोर्विनाश इत्यर्थः ।

क वसन्ति त्रियो नित्यं भूभृतां वद कोविदः ।  
 असावतिशयः कोऽपि यदुत्तमपि नोद्यते ॥ (८)  
 किमेभं श्लाघ्यमाख्याति पक्षिणं कः कुतो यशः ।  
 गरुडः कीदृशो नित्यं दानवारिविराजितः ॥ (९)

प्रयोगिका एते तावदलङ्काराः लोकव्यवहार्याः ; इतोऽ-  
 धिकालङ्कारज्ञानमिच्छन्तां दर्पणादिग्रन्थाः अनुसन्धानीया इति  
 दिक् ।

(८) हे कोविद, विद्वन्, भूभृतां राज्ञा त्रियः सीमाग्यानीत्यर्थः, क कुत्र वसन्ति  
 -इति वद । असौ अतिशयः कोऽपि यत् उत्तमपि व्यक्तार्थमपि न उद्यते न ज्ञायते ?  
 “अर्था” खड्गे, इत्युत्तरं गृह्यम् ।

(९) एभं करिणं श्लाघ्यं स्पृहणीयं किम् ? दानवारि मद्गलम् । पक्षिणं  
 क आख्याति वि. पक्षी । यशः कुतो भवति ? अजितः सञ्जामात् । गरुडो नित्यं  
 कीदृग् भवति ? दानवारिविराजितः, दानवारिः नारायणः तेन विराजितः  
 अभितः । अत्र प्राग् अनुक्तत्वात् पश्चादुक्तत्वाद् गृह्यमाणः ।

## प्रबन्धविषयाः—

इह तावत् कथितेषु त्रिविधप्रबन्धेषु चेतनाचेतनभेदेन विवरणात्मकरचनाधोलिखितानुक्रमेण विभज्यते विद्वद्भिः । तत्र चेतनपदार्थाः मानवादयः ; ते च जातिधर्मैर्बहुविधाः यथा पाश्चात्य-प्रतीत्य-हून-मागध-पौण्ड्रप्रभृतयः । तत्रापि च ब्राह्मण-चण्डाल-धीवरादयः उत्तमाधमभेदेन संख्यातोताः ।

अपरे हौनप्राणिनः स्थूलतः भूचर-खेचर-जलचरभेदेन त्रिविधाः । हस्ति-महिष-सिंहादयः भूचराः । पीक-मयूर-सारस-शुकाश्च खेचराः । मीन-कच्छप-नकादयः उदकान्त-स्वारिणः । भेक-वृश्चिक-सर्पादयः संरौच्यपाः । पिपीलिका-मच्छिकादयः कीटाः, प्रजापतिमधुमच्छिकाप्रभृतयः पतङ्गाः ।

## प्रबन्धानामाभाषाः (Hints)

एषु च मानवजातीयप्रबन्धरचनायाम्—प्रथमतो मानवः कस्मिन् देशीयः, का तस्य भाषा, कं वा धर्मैः पुरावृत्तञ्च किम्, कीदृशो वा सामाजिकावस्था, कीदृशं नैतिकं मानसिकविशेषत्वञ्च इत्यादि विषयान् विषदोक्त्य व्याख्यातव्यम् । अपि नाम यदि तस्य श्रेणीविषयिणौ रचना तद्धि विभिन्नदेशेषु तत् तत् श्रेणीयाः केनोपायेन स्वस्वजीविकां निर्वाहयन्ति, उत आचारपद्धतिः तेषां कीदृशीति सविशेषं वर्णितव्यम् ।

**द्वितीयप्राग्विषयकरचनायाम्—**को जातीयः सः, तस्याकृति-प्रकृतिस्वभाववर्णयुष्कालावासाहारप्रणाली-प्रभृतीन् विषदोक्त्य लिखनीयम् । सोऽपि मानवानामुपकारी चेत् कं कमुपकारमेव विदधाति सः । यद्यप्यनुपकारी तर्हि वा किं नामानुपकारं घटयतीति सर्व्वं सुसम्पादनौयम् ।

**एवञ्चापरस्यामचेतनविषयिणीरचनायाम्—**कुरु-पाञ्चाल-काशी-काञ्चीप्रभृतयः जनपदाः । नैसर्गिकदृष्ट्यानि पर्व्वत-नदी-प्रस्रवण-वनोपवनानि, शिल्पजातवस्तूनि—चीन-प्राकारकाचकाचन ( गान्ता ) निर्म्माणप्रणालीप्रभृतीनि । खनि-जानि—लोहाभ्र-हेम-गन्धकादौनि । स्वभावजानि—भू-कम्पादित्यग्रहणप्रचण्डवायुप्रवाहप्रभृतोनि ।

**एतेषु पुनः स्थानविषयकरचनायाम्—**किमभिधेयं तत्स्थानं कुत्र तस्यावस्थानं, सीमा चापि का, दैर्घ्यं विस्तारः, परिमाणफलञ्च किमिति सर्व्वमुल्लेखणीयम् । अपि तु केन पथा तदभिगन्तुं प्रभवन्ति जनाः, तत्रत्यानामधिवासिनां का संख्या का वा जातिः, किमपि च शारीरिकगठनं, कोऽपि धर्मः, किमपि वा नैतिकविशेषत्वं, का वा सामाजिका रीतिः, शासनप्रणाली वा का, तत्रत्योत्पन्नानि द्रव्यानि कानि, प्रधानानि द्रष्टव्यानि कानि, तत् संचितविवरणं संचितैतिहासिकतत्त्वञ्च यथायथं व्यहर्त्तव्यम् ।

**पण्यवीथीविषयिणीरचनायाम्—**कियत् परि-

माणमायतनं तस्याः, कति कति द्रव्यानि तत्रोपनश्यते, कस्माद्वा तानि समागतानि, केन कस्मिन् समये सा स्थापिता, प्रत्यहं तत्र क्रयविक्रयिणः समागमोऽभवत् किं न वा, अस्ति चेत् प्राङ्गे किमु पराङ्गे, कति आपणाः ते च स्थायिनः किं न वा, कियत् परिमाणशुल्कस्य तत्र कार्यमास्ते तत्रत्यानां लोकानां कोयानुपकारो घटते तेनेत्यादि सविशेषं वर्णनीयम् ।

गिरिविषयिणारचनायाम्—कुत्र तस्यावस्थानम्, आयतनञ्च किम्, किंवा तुङ्गातुङ्गत्वं तस्य, कति विधाः पशवः पक्षिणश्च तमधिवसन्ति, किमपि देवायतनम् अस्ति न वा, अस्ति चेत् तस्येतिवृत्तं, मनुष्याः यदि तमध्यासते तर्हि ते कति सभ्याः कति वासभ्याः, गिरिशिखरात् को देशः, का का नदी किमपि वा नगरं दृष्टिपथे संपतन्ति किं नवा, अपि गिरिशङ्कटं किमु प्रस्रवणञ्च विद्येते चेत् तदुल्लेखनीयम् । इतिहासेन सह शैलस्य सम्बन्धा यदि वर्तन्ते तर्हि कदा कस्मिन्नेव तद्दृत्तमुपपन्नं तत्सर्व्वं सविशेषं वक्तव्यमिति ।

नदीविषयिणीरचनायाम्—कस्मात् सा उत्पन्ना, कौयती विस्तृतिस्तस्याः स्रोतसा गतिश्च कौटुशी, ततः शाखा-नदीप्रादुर्भूता चेत् क तस्याः सीमा, तदुभयरोधसि समुद्रतो ग्रामः किमु नगरं वर्तते चेत् जनवर्त्तना तत्र सार्थवाहा वाणिज्यार्थं पण्यसम्भारं नेतुं प्रभवन्ति नवा इत्यादिकं सर्व्वं वर्णनीयम् ।

शिल्पजातवस्तुविषयकरचानायाम्—( अर्थात् ताजमहलस्य वा चीनप्राचीरादीनां सम्बन्धे रचना चेत् ) वस्तुनः परिचयः, अवस्थानस्थानं, आयतनं, निर्माणस्योपादानादिकञ्च यथायथं वर्णनीयम् । एवमपि च कथा प्रणाल्या केनोद्देशेन किमर्थं कदा कस्याज्ञया वा निर्मित-मासीदिति सर्व्वमुपस्थातव्यम् ।

काचविषयिणीरचनयाम्—काचस्योपादानं निर्माण-रीतिः, व्यवहारस्य प्रकारः, कस्मिन् कस्मिन् स्थले प्रदेशे वा तस्य कति कति कार्यालयाः वर्त्तन्ते इत्यादि विवृतव्यम् ।

खनिजद्रव्यविषयकरचनयाम्—वस्तुनः आकृतिः, तस्य वर्णः, कति गुणाः, क्व केनोपायेन तत् लभ्यम् । अवि-शुद्धरूपेण किमु संशोध्य व्यवहार्यम् । आकरतः कथा प्रणाल्या समुद्धारणीयमित्यादि सविशेषं लेखनीयम् ।

नैसर्गिकविषयिणीरचनयाम्—सूर्य्यस्य तथा चन्द्रस्य वा ग्रहणे किं वीजं, कदा कस्मिन्नेव समये तत् घटते, आर्य्यपादानां तत्र कौटुम्भी धारणा, तदा किं किं कार्य्यं कर्त्तुमुपदिशन्ति ते । अधुनातनानां ग्रहणविषयकं मतं पूर्व्वतनाः जानन्ति किं न वा इत्यादि यथायथं वर्णनीयम् ।

भूकम्पसम्बन्धिरचनयाम्—कम्पनस्य हेतुः, तत्कार्य्य-धर्मावलम्बिनां साधारणजनानां वा कौटुम्भी धारणा, कम्पनाद-ग्रतः कोऽपि शब्दः समुत्पद्यते न वा, अस्ति चेत् कौटुम्भी सः,



तस्मादपि कियदनिष्ट', कियती वानुभूतिः, कौयानप्युपकारश्च प्रभवन्ति जगतामित्यादि समुल्लेख्यम् ।

उद्भिज्जसम्बन्धिनोरचनायाम्—के ते उद्भिज्जाः का तेषां श्रेणी, तैर्लौकाः कानि कानि कार्याणि कर्त्तुं प्रभवन्ति, उद्भिज्जानामङ्कुराः कया रौत्या शाखाप्रशाखया काण्डरूपेण च परिहृताः सन्ति, एवं कैरुपायैर्व्यवहारोपयुक्ताः क्रियन्ते सम्यै-रिति विवरणात्मकरचनायां समासतः समावलम्बनीयं । सन्दर्भरचनासु रचयितुर्नवनवोद्भाविनी प्रतिभैव हि सर्व्वोपरि-वरिवर्त्तीत्यास्तां विस्तरया गिरा । अत आदर्शप्रबन्धो यथा—

कोकिलः—

विश्वेऽस्मिन् निखिलपतत्रिनिकरेषु पिकस्तावत् हि कविजनानां किमु तेषां पांशुपादनिरक्षरहालिकानामपि प्रियो विहङ्गमः । अस्य वर्णः प्रगादश्यामः ; चरणौ धूम्र-वर्णौ ; सुगोले च रक्ते चक्षुषौ ; संख्येपतः काकसादृश्योऽस्मिन् वर्त्तते बाहुल्येन । अतएवोच्यते कविना—“काकः कृष्णः पिकः कृष्णस्त्वभेदः पिककाकयोः । वसन्ते समुपायाते काकः काकः पिकः पिकः ॥” इति अपि हि काकविषये वर्त्तते जनश्रुतिः कविवाक्यञ्च यथा—“नराणां नापितो धूर्तः पक्षि-धूर्तश्च वायसः” इति तदन्वर्थ एव काके परिलक्ष्यते अति-मात्रम् । वस्तुतः पक्षिकुलेषु वायस इव चञ्चलो धूर्तश्च नापरः कोऽपि दृश्यते समवगम्यते च क्वचित् । किन्तु तमपि

चटुलं पिकवधूः चागुर्येण पराजित्य तस्योपरि सर्व्वथा वरि-  
वर्त्तते । सा हि प्रसववेलायां काककुलायमुपगम्य तस्य  
डिम्बानि भ्रष्टः पातयित्वा तस्मिन्नपि च नोडे द्वित्राणि स्वाण्डानि  
सूते । ततः पिककैतवानभिज्ञा काको निजडिम्बमवबोध्य  
तानि दोर्वदिनमात्मशरीरतापेन परितापयति । तदनु च  
प्राप्ते काले तस्मिन्नण्डे स्फुटिते तदुगतशावकान् स्त्रोयशिशून्  
परिवोध्य आत्मानमपि वञ्चयित्वा आहार्यादिदाने स्नानपि  
पिकपोतान् परिपोषयति, अवतिष्ठते च च्छायेव तेषामनु  
सततम् ; प्रमाद्यति च जीवनं रात्रिन्दिवं सपत्नेभ्यः रक्षति च  
तान् नितरामाहुः कोकिलपर्यायमधिकृत्य आर्य्यमिश्राः—  
“वनप्रियः परभृतस्ताम्राक्षः कोकिलः पिकः । कलकण्ठः  
काकपुष्टः—॥” इति यदप्ययं जातिः बाहुल्येन काकपालितः  
तथापि कदा काकमध्यं कदर्थ्यं भोक्तव्यं हेतुया निजभक्षाय न  
परिकल्पयते । संप्राप्ते आत्मवयसि उपमातरं वायसीं वञ्चयित्वा  
स्वजातिधर्म्येण वनोपवनं विलसति । तर्हि प्रधानतोऽस्य  
भक्ष्यानि रम्भाविस्वफले लतिकाजातानि च कानिचित् वन्य-  
चद्रूपफलानि ।

अपि नाम एष खलु विद्वगः शुकादिवन्न शिवरामनामो-  
चरति । तथापि नियम्येनं पिच्छरे परिपोषयन्ति अनेकश  
एव विलासिनः पण्डाङ्गनाम् ; केवलमस्य सुकण्ठोत्पत्तिकाकलि-  
माकलनार्थम् । अतएवाहुः पण्डिताः “कोकिलानां स्त्रो-  
रूपम्” वस्तुतः यदप्ययं कुरूपः तथापि सुस्त्रेण तोषयति

सर्वान् पर्याप्तेन । वसन्ते यर्हि सुतमुकुलसंग्रीयमानानिल-  
कम्पनसमुत्पन्नवान्तरोष्णो भूत्वायं भीतो भीतः सञ्चर्य कथा-  
यितकण्ठेन रीति तर्हि मनस्विनामुत योगिनामपि मनश्चाञ्चल्य-  
मुपपद्यते । सुतरामाह । कविराजकुलमुकुटमणिः श्रीमान्  
कालिदासः कुमारसम्भवे काव्ये—

सुताङ्गु रखादकषायकण्ठः पुंकोकिलो गन्धधुरं चुकूज ।

मनस्विनीमानविघातदत्तं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥

अपि च तत्रैव । अकालवसन्तसमागमे यद्यपि ध्यान-  
निरतस्य शम्भोः कोकिलकुजनेन ध्यानचुरतिघटते इति संमन्यः  
अङ्गुलिसङ्केतेन तान् स्मरानुचरान् वारयति—

लतागृहशरगतोष नन्दी वामग्रकोष्ठार्पितहेनवेधः ।

सुखापिर्तैकाङ्गुलिसंज्ञयैव सा चापलावेति गथाम् जनैषीत् ॥

इति । अथमेव हि पक्षी षट् स्वपि ऋतुषु पुष्पसमये एव  
बाहुल्येन कूजति । तत्रत्यः स्वरोऽस्य जनाद्वादकरः कविजन-  
वर्णनोयश्च नितरामुच्यते कविना—

"भद्रं कृतं कृतं मौन कोकिलैर्जलदागमे ।

ददुर्गं यत् वक्तारस्तव मौनं हि शोभनम् ॥ इति

नूनं वसन्तेतरकालेष्वयं मौनमवलम्ब्यते इति यत् कवि-  
वाक्यं जनश्रुतिश्च प्रसिद्धिरस्ति तन्नास्माकमभिमतम् । सम-  
गम्यते सर्व्वत्रास्माभिः पिच्छरावहोऽयं विहगः सर्व्वेष्वपि हि  
कालेषु शब्दायते किन्तु वसन्तकालोचितचित्तोन्माद्यस्वरः तत्र  
तत्र कथं कथमपि न वर्त्तत इति विशेषः । भवतु तद्यथा अस्य

पुष्पसमयोचितकण्ठस्वरतः ऋषभादौनां पञ्चमः स्वरः समुप-  
जायते इत्याह नारदः—<sup>१</sup>

“निषादं कुञ्जरो रीति गौर्धमं किल ।

अञ्जी रीति च गान्धारं पण्डज रीति मयूरकः ॥

‘मध्यमं’ रीति क्रीञ्जोऽसौ धैवतं रीति चाश्रकः ।

पुष्पसाधारणे काले कौकिली रीति पञ्चमम् ॥

इति । अहो ! धन्यः पक्षी धन्यं ते जन्म ! यन्निविड्वन्य-  
तरुकोटरान्तरेषु जन्माभिलभ्य सुधाधवलितप्रासादादितल-  
वासिनां तथाजोवनवाणौचरणसंसेविनां पर्णकुटीरोदरतल-  
वासिनां कवीनां च दृष्टिं तुल्यमूल्येन संचिनोसि त्वमित्यलं  
पर्याप्तेन ।

### अनुशोलनी Exercises

१ । श्रुतपक्षिविषये—(१) प्राप्तिस्थानम् । (२) आकारादीनां वर्णना (३) स्वभावः । (४) संवहनाया नियमः ।

२ । ऋषभविषये—(१) वासस्थानम् । (२) आकारादीनां वर्णना । (३) स्वभावः । (४) मनुष्याणां कश्चिन् विषये उपकारी अयम् ? सततं श्रमसत्वेन भूख्यवायोर्ग्लि-  
नतासपाकरोति । (५) प्रकारभेदः । (६) कथं लोकाः न पालयति ।

### वर्षा ( ऋतुः )—

भारतेऽस्मिन् वर्षनिर्द्धारणे षट्सु ऋतुषु वर्षा आषाढ-  
श्रावणाख्यं मासद्वयं परिकल्पयन्ति पूर्वार्चायाः । एताः किल  
शुक्रकठोरक्लेशदाः जनानाम् । अस्मिन्नेव समये सदैव  
नभस्तलो निविडतमिस्त्रान्धकारवन्नीलजोमृतमालयावृतोऽस्ति ।  
न तावदत्र प्राय एव लोकलाजसभया कुलललनेव चपला ।

नभसि भीता भीता समन्तात् सञ्चर्य नयनपथवर्त्तिनो भूत्वा  
भूयस्तस्मिन्नेव लोयते अत्यतितराम् । एवं तदन्तरिते मुहूर्त्ताप-  
चिते तुमुलवत् स्तनितनिर्घोषः समुद्भूय भूयोभूयो विभी-  
षयति जन्तुनतिमात्रम् ।

अप्यत्र हि नियतनीरधरनिस्थान्दितधारया सदैवाऽद्रेमुप-  
धरणीपृष्ठम् । तेनैव हि पिच्छिलितानि राजवर्त्तानि ; पक्षो-  
पन्यासश्च निरत्यतिशयकद्मक्लिन्या जाताः । एवमपि तत्र  
जीर्णपर्णकुटीरोदरवासिनामुदजाच्छादनमन्तरेण भूयसैव कन्या-  
दिवस्तुचथाः जलसिक्ताः समाजाताः । विशेषतो निखिलेऽस्मिन्  
तपनकिरणविरहेण विमुह्यन्ताः खलु तावन्तश्चराचराश्चातिशयेन ।  
केवलं निपानाविलोदकान्तधारिणो मण्डूकान् अन्तरेनैकोऽपि  
स्त्वचित्तशुद्धिमनुभवन्ति लेशतोऽपि, किन्तु ते हि स्वजातीयैः  
समं गोष्ठीसुखमनुभूय मोदमानाः रात्रिन्दिवं मक्मकायन्ते  
परमाद्भुतम् ।

जातु अन्तरान्तरा प्रवाति प्रबलं किल प्रमच्चनो हिवा-  
ख्यहानि व्याप्याविरतम् । नियतवर्षणेन आकोर्णो ह्रदः, उद्दे-  
जिता नदी, प्रवाति च पयःप्रणाली ; वारिपूर्णोऽपि निम्ना धरित्री ;  
तस्मादेव हि क्लमिव्यालादीनामधःस्थामावासावनीं जलप्लावन-  
तया ते आयान्ति गृहिणां गृहम् । तेन हि समयेऽस्मिन्  
कति जनास्तेषां दशनस्पर्शनेनाकालिकमहायात्रामवलम्बन्ते ।

नूनमिदानीं नष्टोद्भिजादितः समुत्पद्य मग्नकाः यत्र तत्र  
मित्योभूय सन्ध्यायासुत प्रातः किमिव विचित्रं क्वन्तीति

विदितवन्तोऽत्रत्यजनाः । प्रमाणयन्ति संप्रति शारीरिकतत्त्व-  
विशेषज्ञाः मशका एव विविधसंक्रामकरोगाणून् सञ्चोय जीव-  
शोणितैः समं मिश्रयन्ति ; तेन च देशेऽस्मिन् वसन्तादयो-  
दुर्हमनीयाः इतरे च कति रोगाः शतं महत्त्वमपि जीवं  
प्रमुधर्मेण सुशास्य कृतान्तपुरमुपस्थापयन्ति इमे किल नष्टाः  
धूर्त्ताः नगण्याः कौटाः । एवमपि प्रतिनियतजलपातेन मानव-  
पोतास्तेषां स्वभावजानि कुर्हन्नलम्फनादिकार्याणि विधातुम-  
समर्थतया भग्नस्वास्थ्याः ; प्रैक्षाः सन्ततं जलेन प्रतिबुद्धमानाः  
दैनन्दिनं कर्म कथं कथमपि कष्टैरुपपादयन्ति ; वृक्षाश्च  
स्नानाहारकर्मणि प्रतिचरणं प्रपाद गणयन्ति । नितरामिदानीं  
गृहान्तरासीनाः भवितुमर्हन्ति सर्वे ते हि जनाः । तस्माच्च  
प्रायशः कार्यहीनतया वृथामादः किमु नगण्याचक्रोडादिभिः  
दिवसमुद्यापयितुं समोदन्ते ।

अपरञ्च निदाधतापदग्धाः क्षुद्रमहत्तराः घासाः विविधाश्च  
वक्त्र्यः पङ्क्तिभूमिमासाद्यास्मिन् समये शाखाप्रशाखैराच्छा-  
दयन्ति प्रायश एव श्यामलां भूमिम् । तत्र च वृक्षिकादिगर-  
लिनः सुखेन उषित्वा कस्मिन् कस्मिन्नपि उद्देजयन्ति दंशन्ति  
वा तत्रत्यान् जनान् । इत्यादि भूयिष्ठदोषयुष्टा अपि वर्षा  
जगतामुपकारमपि समासादयन्ति ।

दृश्यते तावदेता धरणीष्टविलग्नानि पूतिगन्धमयानि  
दीर्घदिनपर्य्युसितजीवदेहमांसीनीनि, अन्यान्यान्यपि च  
दूषितवस्तूनि जलेः संग्राह्य दूराद्दूतरमपसारयन्ति एवमाका-

शाकीर्णमपि नष्टं वायुराशिमपर्याप्तवारिप्लावनैः संगोध्य-  
जगतां स्वास्थ्यं जनयन्ति । विशेषतोऽन्यर्त्तुज-खुरतरसूरकरै-  
रूपरीकृतभूमेरपि सरसतामापादयन्ति । तेन हि समयेऽस्मिन्  
क्षौबलाः ओषध्यन्तमं धान्यं वपन्ति । यदेव जगतां प्रधान-  
खाद्यरूपं परिकल्पयन्ति सभ्याः । शास्त्रवाक्यमपि यथा—

धान्यानां संयष्टौ राजन् सर्वं 'यहमुत्तमम् ।

निगृहीतं हि मुखे रवं न कुर्यात् प्राणधारणम् ॥ इति

वस्तुतः धान्यसदृशमपरं किमपि खाद्यं विश्वेऽस्मिन्  
अस्ति किं नवेति महानेव सन्देहः । भवत्वेतत् वितथमवि-  
तथं वा वचः, तन्न मामकानां विचारसहं ; परन्तु समयेऽस्मिन्  
यर्हि नौपकिशलयगुच्छान्तरान्तरा विजृम्भितानि शतसहस्रशः  
शुम्भकिञ्जल्कमयानि कुसुमानि, आपिङ्गलोन्मत्तपरागाङ्कुरित-  
वर्त्तुलदेहाः कोरकाश्च दिशं मुखरोक्तस्य समन्तात् सौरभ-  
मातन्वन्ति किमु काननावनौ 'प्रबुद्धानि कनकप्रतिमकण्टकित-  
काय-केतकप्रसूनकुलानि स्वसूक्ष्मपरागान् मरुत्सहायेन एक-  
स्मादन्यं ततोऽपि परं देशं वाहयन्ति । शालिक्षेत्राणि च  
अनन्यसुलभां स्निग्धश्यामतामासाद्य अननुभूतामानन्दरस-  
धारामुपनयन्ति जनानां चेतसि अत्यतिमात्रम् । तर्हि क एव  
प्रत्यभिलषितुमर्हन्ति यत् प्रावृषमन्तरा एतादृशीं त्रिय-  
मभिधत्ते अन्य ऋतुरिति ।

अन्यच्च—पुरा विविधकारणकूटेन समयेऽस्मिन् यादृशं  
क्लेशं समनुभवन् जनाः । सम्प्रति महोदारचरितेर्देशहितै-

प्रिभिर्म्महानुभवेः राजपुरुषैश्च लौहवर्त्ताऽर्णवयानसेतुप्रभृतिं  
 निष्ठाया तादृशं क्लेशं बाहुल्येनोपसमयन्निति नातिरञ्जितं वचः  
 वक्तुं समोहन्ते केऽपि सभ्याः । नापि वा तेषामेषा स्तुतिरित्यपि  
 च समभिज्यक्तुं प्रभवन्ति सहृदयाः । यथा तत्र प्रावृट्वा-  
 रिसंक्षोभितां महापूरप्रसविणीं सरितमुपतत्तुं नौरेव प्राधान्ये-  
 नावलम्बनसासोत् जनानाम् । तेन च प्रायश एव वात्या-  
 भिक्षुष्वथा स्रोतस्त्रिन्या भग्नतरोतया आरोहिणः जलनिमग्नाः  
 जाताः, किन्तु तादृशेषु प्राणहानिसम्भवेषु कर्माणि सम्प्रति  
 वैदेशिकसार्थवाहाः वाष्पपरिचालितं जलयानं नियोज्य तादृशात्  
 सङ्कटात् परिरक्षन्ति, जनयन्ति च त्वरितगमनेन जनानां  
 कार्यसौकर्यमशेषविधं सौख्यञ्च । एवं लौहवर्त्तना वाष्पोय-  
 शकटं व्यवस्थाप्य सर्वेष्वपि ऋतुषु समानभावेन दूराद्दूरान्तरितं  
 देशं कार्यञ्च सुगमयन्ति । महावर्त्तविद्यमानायां नाविक-  
 चित्तक्षोभजनन्या नदीकुलप्रधानायां पद्मायां तथा अन्यान्यायाञ्च  
 लोकविस्मयकर सेतुं निष्ठाया मासकानां गमनसौकर्यं विद-  
 धति बाहुल्येन, किं बहुना प्रधानेषु राजमार्गेषु इष्टकोपल-  
 खण्डान् विन्यस्य कर्हमजनितक्लेशात् गोमहिषपरिचालित-  
 शकटान् तथा पादचारिणो जनान् उचृत्य सुखयन्ति अति-  
 मात्रम् । नितरां पुराकालसदृशं वर्षावारिजनितक्लेशमिदानौ-  
 मनुभवन्ति कथञ्चिदिति वक्तुं न प्रभवन्ति केऽपि सहृदयाः ।  
 यदिच्छ्रया हि एतादृशो मतिर्जायते देशहितैषिणां तं महा-  
 महीयसं सर्वान्तःकरणेन प्रार्थयामहे यदुत्तरोत्तरेण ते



इतोऽपि भूयिष्ठं भद्रं विदधीरन् धरित्रीदेव्या इति कृतं  
विस्तरेण ।

### अनुशौलनो Exercises.

१ । शीतकालविषये । (१) संज्ञा, प्राकृतिकं दृश्यं तस्य वर्णना । (२) कश्चिन्  
शीताधिक्यो भवेत् । (३) किं सुखकरं । (४) किमसुखकरं वा । (५) उपसंहारः ।

२ । वसन्तकालविषये—(१) स्वभावदृश्यं तस्य वर्णना । (२) दृश्यतादयः  
पल्लविता भवन्ति । (३) शस्यस्य कर्तृभसंगृह्य । लोकानां किं सुखकरं, असुखकर  
वा । (५) साधारणानां मानसिकावस्थान्वयनम् ।

### इराजजातिः—

पुरा किलाधिवसन्ति कति क्षुद्रजातीयाः नराः विभिन्ना-  
शेन ब्रीटनद्वीपम् । ते हि अन्योऽन्यं कलहं समुत्पादयन्तः सुचिरं  
कालं नयन्तिस्म । ततो बहुतिथावचिते रोमानीयाः ब्रीटनं विजित्य  
स्वप्रभुधर्मेण तत्त्वान् शासितुमारेभिरे । तेषां शासनसमये ते च  
द्वीपवासिनः विजितृणामाचारधर्मादिकमनुकृत्य शनैः शनैरुन्नति-  
पदवीमधिरोहन्तिस्म ; एवं विजेतारोऽपि राजवर्त्तादिप्रभूतदेश-  
हितकराणि कार्याणि विधाय सभ्यजनपदवाच्यत्वेन तद्देशमनयन् ।  
ततो गच्छता कालेन तेषामधिकारसमये एलोसाक्सनजातीयाः  
ब्रीटनीयान् विजित्य स्वीयभुजवीर्य्येणाशमुर्ध्वीपवासिनो मनुजान् ।  
अनन्तरं ते ब्रीटनस्य इंग्लण्डं नाम विधाय परस्परदानप्रदानादि-  
विवाहक्रियया, दृढबन्धनबद्धाः समवजायत । परं पूर्वप्रवर्त्तित-  
शिक्षायाः क्रमविकाशेनेदानींतनैराजजातित्वेन परिणतिरघटतेति  
संक्षिप्तं पुरातनम् इराजानाम् ।

समवलोक्यन्ते इह तावदेते जातीयाः कर्त्तव्यतत्पराः कार्य-  
कुशलाश्च । परम् एषां कर्मसमयजीवनमार्गेषु निखिलबाधाविप्रति-  
पत्तिसमुपस्थितेष्वपि व्यक्तिगतस्वार्थपरतासङ्गावेषु च न कदाचिन्नि-  
जकर्त्तव्यतोऽत्यतिलवापि विच्युतिर्घटते । अपि नाम ते निष्कर्म-  
जीवनं तथा आलस्यपरतन्त्रं जनं निरतिशयं घृणास्पदमामनन्ति,  
एवमपि यानि कानिचित्कार्याणि कर्त्तमपि न समीहन्ते कदा-  
चित्किञ्चिन्मात्रम् । नितरां कर्मबहुले वर्त्तमाने जगति शाश्व-  
तिका कार्यकुशलता तेषां करतलाधिगतामलकवत् चिरायत्त्व-  
मिति निःसन्देहं वचः तात्त्विकमेवानुकीर्त्तनञ्च ।

नूनमहो ! कार्यसौकर्याय यादृशं नियमानुवर्त्तित्वं युक्तं  
मानवानां तत् सविशेषं विज्ञानमस्ति इन्द्राजानाम् । तस्मादेव ते  
दैनन्दिननग्न्यकार्यनिर्व्वाहार्थमपि निर्दिष्टसमयं विधाय कृत्स्न-  
जीवनव्याप्तानि यावन्ति कार्याणि नियमानुप्राणितानि विहि-  
तानि ; परमनन्यसाधारणाध्यवसायमहिम्ना सम्यजगति परमविधे-  
येभ्योऽपि संप्रति अग्रेसरत्वमुपगम्यते ।

हन्त ! निखिलजनपदेषु ये तावन्तः सन्ति स्वदेशवत्सला-  
स्तोऽपिमे सुख्यतमाः । एषामल्पशिक्षितानां क्षुद्रजनानामपि सदृशाः ।  
अपरे केऽपि सङ्गदयाः निजावासभूमिं स्वजातीयं नगण्यं महान्तं  
वा तुल्येन प्रीतिप्रवणचक्षुषा द्रष्टुं प्रभवन्ति । परं स्थितेऽपि तेषां  
परस्परविद्रोहे वह्निःशत्रुता निजदेशस्य तथा जातीयस्वाधीनता-  
याश्च पुष्कलत्वं विधातुं शत्रोर्भिन्नस्य च समवायो जायते ।  
जगतामितिहासे एतेषां तुल्याः नान्ये, केऽपि जातीयाः अमशीला

समवलीक्यन्ते । नूनं बाणिज्यार्थमेते एकतोऽपरं ततोऽन्यं तस्मा-  
दपि च परं देशमटित्वा भूखण्डस्य प्रतीचखण्डात् प्राचभागं  
यावत् अमानुषिकपरिश्रमेण कृयविकयकार्यं विधाय ग्रीतोष्णादि-  
नैसर्गिकं लेशं सहन्ते । परं वर्तन्ते तत् देशे शतशः अपरिमितार्थ-  
पतयः, विद्यन्ते च तेषामगणितदासदासीजनाः तथापि ते तान्  
प्रति कार्यभारं समर्प्य न लभन्ते स्वल्पमात्रामपि तुष्टिम् । नितरां  
बहून्यपि कार्याणि स्वहस्तेन निर्व्वहयन्तः, प्रभूतानि चेत् धनानि  
स्वयं पर्य्यवीक्षणेनान्यान्योपायेन च स्वायत्तानि कुर्वन्ति । तत्रत्याः  
स्त्रियः पुरुषाश्च तुल्येन शारीरिकेन तथा मानसिकेन च श्रमेण  
आत्मनः स्वजातीयानाञ्चाभ्युदयं सततं कामयन्ते । अध्यवसायेन ते  
यादृशं दुष्करं गुरुकठोरञ्च कर्म सम्यक् निर्व्वहयन्ति, मन्यामहे  
तानृते नान्ये कोऽपि वर्तन्ते वसुधायां कापि संप्रति तत्सदृशा  
जातय एवं हि बहुशोविघ्नैः पुनः पुनर्निर्व्वार्य्यमाणा अपि लोक-  
लोलितवाद्विचुद्धहृदयाश्च ते स्वाभीष्टान् प्रति अबाधमव्याहतञ्च  
यत्नमास्थायात्मनः कर्म सततं समुत्पादयन्ति निरन्तरम् । ।

‘किन्तु हा कष्ट’ ! मामकानां दुर्भागधेयानामतिमात्रम् ;  
यदेषामनन्यसाधारणं गुणग्राममपहाय निरुद्धेषु बहिर्ललितेषु  
आपातमधुरदर्शनेषु भारतीयानामनुपयुक्तेषु चटुलविषयेषु वस्तुषु  
वा नितान्तरसिका वयमिदानीमुपगताः । अतः प्रार्थयामहे  
भगवतश्चरणारविन्दे कायमनोवाक्यैरतिशयम् ; येनाचिरेण  
सर्वमव्याहितमपहाय स धाता भारतीयान् तत्सादृशान् विदध्यात्  
भटिति बाहुल्येनेति कृतं विस्तरेण ।

## अनुशीलनीः—

अधोलिखितमाभासमवलम्बा प्रबन्धो रचितव्यः—

- १ । राजपुतजातीनाम्—साधारणवर्णना, दैहिकगठनं, परि-  
च्छेदधारणप्रणाली, भक्ष्यं, भाषा, धर्मः, प्रकृतिः,  
जीवनोपायः, सामाजिकावस्था, पूर्वतनानां वीरत्वम्,  
स्वदेशप्रीतिविषयिनी कापि आख्यायिका ।
- २ । शिखजातीयानाम्—शिखानां भारते कुत्र निवासः, देह-  
गठनं, वस्त्रग्रहणप्रणाली, खाद्यादि, भाषा, शिख-  
धर्मस्य प्रवर्त्तकः, सामाजिकावस्था, वीरत्वम् ।
- ३ । चीनदेशीयानाम्—वासस्थानं, दैहिकगठनं, वस्त्रग्रहण-  
प्रणाली, खाद्यादि, भाषा, सामाजिकावस्था, धर्मः,  
आचारः ।

## गौः—

गृहपालितेषु पशुषु गौरैव मानवानामतिप्रयोजनीयो जन्तुः ।  
अयं किल प्रायशः पूर्णं वयसि त्रिहस्तपरिमितोर्ध्वः पञ्चहस्तदीर्घश्च  
महत्तः । अस्य तावत् हनुतः आरभ्य कण्ठतलं यावत् गलकम्बलः,  
अंसीपरि ककुद्, दीर्घकोशाग्रयुक्तः पुच्छः, नातिङ्गस्त्री कर्णौ,  
हेचापि शृङ्गे, चत्वारंश्वरणाः, तेषां मध्यविभक्ताः, वेदसंख्याकाः  
खुराः प्रतिक्षणमेवायं कर्णलाङ्गुलताडनैः तथा गात्रचर्मसन्दनेन  
रचना—७क

च मञ्जिकायाः मशकस्य च दंशनादात्मानं रक्षति । रोमन्याय ते च भूमिमधिशय्य कृत्स्नं दिवसम् ।

नूनं जन्तुरेषः स्त्रीपुंभेदेन द्विविधौ । पुरुषजातीयं वृष-षण्ड-वलीवर्हादिसंज्ञया, स्त्रियं पयस्त्री-गवीप्रभृत्याख्यया च विशेष्य-न्यार्थमिच्छाः । अपि नाम पुरुषजातीयमिमं मुष्कहोनं कृत्वा सकटोद्बहने हलचालने तथान्येष्वपि प्रभूतकार्येषु नियोजयन्ति कृषीबलाः ।

अपरा स्त्रीजातीया गौः दशमासं गर्भं विगृह्य सकृत् सावक-मेकं प्रसूय किञ्चिद्नववर्षमेकं दुग्धमर्पयति अर्थिभ्योऽतिमात्रम् । मानवशिशूनां तत् प्रधानं खाद्यम् । ऋते च तद् ग्धं केवलं मातृ-स्तन्यपानेन स्वल्पसंख्यका एव बाला जगति प्रवर्द्धिता आसन् । एवमपि हि बलहीनस्य तथा रोगिणश्च परमहितकरं पथ्यमेव दुग्धम् । आयुर्वेदे तथार्थशास्त्रे चास्य प्रभूता प्रशंसा आचार्य-सुश्रुतादिभिर्महर्षिभिः संगीर्यते । यथा हि—“अन्नादष्टगुणं पिष्टं, पिष्टादष्टगुणं पयः” इत्यादि । पाश्चात्यचिकित्साशास्त्रेऽप्यस्य गुणः निरतिशयं कीर्त्तते तत्रत्यैः शास्त्रकारैः ।

नूनमयं जन्तुः श्वेतकृष्णादिविभिन्नवर्णसङ्करेणागनितवर्णो धरणोपृष्टे सर्वत्र समवलोक्यते । कुत्र जलवातानुकूलैर्दृष्ट-पुष्टाङ्गः, कुत्र वा प्रतिकूले तेषां क्षीनाङ्ग इति । प्रधानतः पशुरयं शस्य-कल्काहारेण धारयति प्राणान् । प्राग्देशेषु भयालपुराभिधेय-स्थानस्य गौः दृष्टपुष्टाङ्गत्वेन प्रसिद्धः, स्त्रीगौरपि च तत्रत्या सम-धिका दुग्धवती सातिशया सुदर्शना च ।

भारतेऽग्निन् गोदुग्धतो दधि-नवनीतादीनि नानाविधानि  
द्रव्याणि समुत्पाद्य तेषु शर्करादिमुखाद्यवस्तुनिकरमिश्रणैः परमो-  
पादेयानि खाद्यानि समुत्पादयन्ति तत्तदुद्रव्यनिर्माणाः गोपा-  
दयो मिष्टान्नकारकाः ।

एवं हि दृश्यते तावत् गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिरिति  
पञ्चगव्यानि देवस्नानपूजनादिमङ्गलकार्येषु नियुक्तानि सनातन-  
धर्मप्रतिष्ठकैराचार्यवर्यैः । आयुर्वेदादिविविधशास्त्रेषु च बाहु-  
लेनैषामेकैकशोऽपि बहुगुणोऽस्माभिः समवलीक्यते । न केवलं  
तेषु तेषु शास्त्रेषु प्रशंसा श्रुतावापि चास्ते—‘आयुष्कं घृतम्’  
इत्यादि । लौकायतिके वेदविरुद्धवादे च—‘यावज्जीवित् सुखं जीवे-  
दृणं कृत्वा घृतं पिवेत्’ इति वादोऽस्ति ।

लोकव्यवहारे च दृश्यते कलुषितां भूमिं विशोधयति गोम-  
येन । तच्च विविधोपायेन पुनर्वरवहरन्ति सभ्याः, एके शुष्कं कृत्वा  
वह्निना सन्दीप्य अन्नं पचन्ति अन्ये क्षेत्रे प्रक्षिप्य शस्यानामुत्-  
कर्षमातन्वन्ति, अपरे पृथिगन्धमपाकुर्वन्ति च । गोमूत्रं नानारु-  
जाभिव्याप्तस्य परमौषधम् । तच्च विविधोपायेन भेषजैः समं रोग-  
शान्तये परिकल्पयन्ति चिकित्सकाः । निर्णेजकाश्च वस्त्रादीनि  
तेन परिष्कर्वन्ति । गोचर्माणा पादुकादीनि तथा हयनियमन-  
रश्मिप्रभृतीनि विविधद्रव्यानि समुत्पादयन्ति चर्माकाराः । एवं  
। गोः शृङ्गं खुरञ्च द्रवीकृत्य शीरिशनाम संयोजकद्रव्यम्, अस्थना  
खड्गकर्तृकादीनां करग्रहणस्थानं निर्मायन्ति निर्मातारः । श्रूयते  
समवगम्यते च संवादसमवाहिनीपत्रिकातः वैदेशिकाः गोलो-

मानि प्रासादप्राकारादिनिर्माणसंयोजकद्रव्यैः समं संमथ्य तेषामुपकरणानामतिदृढत्वमानयन्ति । नृतस्य गोः मांसास्थीनि स्थानस्योर्वरत्वं वितन्वन्ति । अतएवेष्टगुपकारकं जन्तुं लक्ष्मीकृत्य गायन्ति जलदगम्भोरनिर्घोषेणार्थपादाः—

‘गवी धात्री तथा पृथ्वी ब्राह्मणी राजपत्नीकाः ।

आत्ममाता गुरोः पत्नी समैता मातरः स्मृताः ॥’ इति

हंहो ! कष्ट !! कष्टमतीवात्याहितं दग्धभागधेयानामस्माकम् । मातृसदृशीमतुलनीयामपि तां पाश्चात्यास्तथा स्तेच्छाः व्यापाद्य सोदरं पूरयन्ति । तेन हि वर्त्तमानेऽस्मिन् भारते गोसमजाः क्रमेण विरला भवितुमुपसर्पन्ति । विद्यते चास्यापरो हेतुः— पुरा सङ्घट्टयाः गोचारणार्थं प्रभूतां भूमिं तथा वापीतडागञ्च नियोज्य गोकुलानामायतिं समुन्नयन् ; किन्तु संप्रति गोचारणभूमेरभावात् गवां स्वेच्छाहारविहारविरहृतया क्रमेण तत्कुलानि क्षीणानि यान्ति । अतः प्रार्थयामहे भक्तिपूर्णेन चेतसा गोमातरं येनाचिरेण तेषां क्षैत्रपतीनां पालकानाञ्च तादृशीं दुर्भतिमपाकृत्य विदधातु भद्रं गोदेवतेति कृतमधिकवाग्बाहुल्येन ।

### अनुशीलनीः—

अधोलिखितमाभासमवलम्ब्य प्रबन्धो रचितव्यः—

- १ । महिषविषये—आकारः, स्वभावः, प्राप्तिस्थानञ्च, गृहपालितस्य, तथा वन्यस्य च स्वभावः, दलवद्देन विच-

- रन्ति, जलमयं, पङ्क्तिस्थानमेषां प्रियः, दुग्धात् घृतमुत्पद्यते, चर्मस्थिशृङ्गेभ्यः विविधानि द्रव्याणि प्रभवन्ति ।
- २ । मेषविषये—आकारः, सर्वत्र सुलभः, शीतप्रधानदेशेऽस्य लोम्नः बहुविधानि, राङ्गवदस्त्रानि समुत्पद्यन्ति, तेषामुत्तमाधमक्रमेण तारतम्यम्, स्नेहदेशे तथा पर्तंगाले च मेरिणोनाम मेषः उत्तमलोमत्वेन प्रसिद्धः, लोम्नः कम्बलादीनि जायन्ते, पूरकपिण्डदानि लोम्नः च प्रयोजनमस्ति, चर्मनः पादुका वाद्ययन्त्रादीनि प्रभवन्ति, दुग्धं मुखक्षतस्यौषधम् ।
- ३ । अश्वविषये—प्राप्तिस्थानं, प्रकारभेदः, शटकवाही, मृगयार्थिनां परममहायः, आकारः, उपकारिता, द्रव्यवाही, सैनिकानां तथा राजपुरुषाणां त्वरितगमनाय व्यवहारः, वसायाः 'सावान' नामकवस्तु जायते, कङ्कालात् दात्रादीनां करग्रहनस्थानमुत्पद्यते ।
- ४ । गर्दभविषये—कष्टसङ्घिणः, गृहपालितः, अरण्येऽपि सुसुलभः, अश्वाल्लतितुण्डः, कर्णौ दीर्घौ, दृढा एव चरणाः, अश्वखुरवत् खुराः, दीर्घं शरीरं, धूसरोवर्णः, कर्कशशब्दः, शान्ता प्रकृतिश्च, भारवाही, सर्वत्र गमनशीलः, सदयव्यवहारेण सर्वकार्योपयोगी, निर्दयव्यवहारेण किमपि कारयितुं शक्नोति ।



## पिपीलिका :—

इह किल वसुधायामगणितप्राणिगणगणनायां पिपीलिकाति-  
क्षुद्रकाया कीटजातीया प्राणी । इयं तावत् श्रेणीवर्णविभेदेन  
बहुविधा । कति क्षुद्राः कति तदपेक्षया स्थूलाः कति वा न  
स्थूलाः नापि कृशाः, एकाः कपिलवर्णाः, अपरा धूम्राः, अन्या  
वा धूसरवर्णा इत्यादिविविधयोगिकवर्णमिश्रणेन बहुरूपाः ।

अपिनाम तासु का गृहभित्तिविलग्नविलशायिनी, कापि  
पादपपादगर्ते, कोटरे वा; अन्या च तरुपत्रसम्युटं निर्माय तत्र  
निवसति । पिपीलिकाबधूः सितान् बहुडिम्बान् प्रसूयासीमयत्नेन  
रौद्रवृष्टिप्रभृति नैसर्गिकापद्मस्तथा प्रतिकूलाचारिसपत्न्यभ्यश्च  
रन्ति तान् निरतम् । कस्मिन् कस्मिन्नपि पापशङ्क्याण्डानि  
तुण्डेनाकृष्य एकतः परत्र ततोऽन्यत्र पंक्तिक्रमेण वाहयति ।

प्रकृतिरासां स्वजातीयान्प्रति प्रीतिप्रवणा; यदि च कस्मादपि  
कारणात् कस्याः गृहविवादो वर्तते, तथापि विपक्षपक्षमभिभ-  
वितुं तमविगणय्य रिपुणा सार्द्धं तुल्यविक्रमेण युद्धमवतारयत् ।

नूनमप्रासामपरिसौमा शक्तिः । दृश्यते तावदेका क्लृप्ताकाया  
स्वतः समधिकं गुरुभारं शस्यं मुखे कृत्वा हेलया समन्तात् परि-  
क्रम्याधत्त जडं ततश्च नीचदेशं तस्मादपि च यं कमपि देशं यदि-  
च्छाक्रमेण भ्रमति । कृत्स्नं दिनं गुरुकठोरपरिश्रमेण आहार्यं  
संगृह्य दुर्घटाहारवर्षासमयं सुखेनापचितुं विलदुर्गं परिपूर्णतामान-

यन्ति । एवममूषु नैकापि मुहूर्त्ताहंसमयमप्यालस्येनातिक्रामति । घ्राणशक्तिश्चासामतुलनीया, तेनातिदूरस्थान्यपि वस्तूनि प्रत्यक्षवदुपलभ्य पंक्तिक्रमेण भक्ष्याय तत्रोपसर्पति तरान् । संसारेऽस्मिन् गलितश्वमांसादारभ्य सर्वाण्यपि खाद्यानि भक्ष्यत्वेन परिकल्पयन्ति । अपिच दृश्यते कदाचिदासामुदगमायेति पक्षौ । तत्र विला-  
न्निर्गत्य पतत्रिवलेन नभस्तलमुत्प्लव्य परितः परिक्रामितुमारेभिरे । किन्तु क्षीणपक्षवलतया नाधिकक्षणं सञ्चरितुं समर्थाः अतएव हि का गगनतलविहारिणः पक्षिणो भक्ष्या कापि जले अग्नौ वा स्वदेहं समर्प्य पिपीलिकाजीवनं परिहरति । जनश्रुतिरप्राप्तिः—

“पक्षौ पिपीलिकायास्तु तस्याः संहारहेतवे” इति

इयमत्यतिक्षुद्रतमापि सर्वथा आभ्यो निरालस्यमेकताध्यवसा-  
यादौन्यस्माकं शिक्षणीयानि । दृश्यते तावदासु एकस्यां कार्यासमर्थ-  
तायामपरा तस्याः साहाय्यार्थं सविशेषं यतते, तस्यामपि विफलौ-  
भूतायामन्या ततोऽपरा इत्यादिक्रमेणान्योन्यं साहाय्यमासां  
जातीयानां शारीरिको धर्मः । समवलोक्यते च अत्यतिगुरुभारमेका  
नेतुमममर्था चेत् द्वित्राः एकीभूय तस्याः साहाय्यं कुर्वन्ति ।  
इत्यादिक्रमेण ताः गुरुकठोरकार्यमपि निरतिशयं लघीयत्यति-  
तरान् । नितराममूस्मिन् जगति सर्वेषामेव प्राणभृतां निरालस्यादि-  
प्रधानगुणत्रयमाभ्यः शिक्षणीयमिति कस्तत्र सन्देहः । आशंसामहे  
नवनीतकोमलहृदयाः प्रियबालकाः ! यद्यपेनामनुकुर्वीष्वं,  
तर्हि दुःखदेन्यादिं तभारतभूमेरौदृशोऽसहनीयल्लेशश्च नाचिरेण  
महाजलनिधेरपरदेशसमुपगच्छेदिति मुधा बहुवागुपन्यासेन ।

## अनुशीलनी :—

अधोलिखितमाभासमवलम्ब्य प्रबन्धो रचितव्यः—

- १। वल्मीकविषये—वासस्थाननिर्माणप्रणाली, आहारः.  
मानवानां किमनिष्टं कुर्वन्ति, पक्षिप्रभृतिप्राणिनामिमे  
भक्ष्याः, केनोपायेन मानवानामनिष्टं कुर्वन्ति ।
- २। मत्कुणविषये—आकारवर्णना, वर्णः, वासस्थानं, कथं  
मनुष्याणां विरक्तकरः, केनोपायेन विनाशं कर्तुं  
प्रभन्ति नराः ।

—०—

## नक्रः—

इह किल निखिलजलचरजीवनिवहेषु नक्रोऽतिभीषणतमो  
जन्तुः । अस्य तावत् गृहान्तश्चारिण्याः गृहगोधिकायाः सदृशमङ्ग-  
गठनम् । गृहगोधिकायास्तु चतुःपञ्चाङ्गुलिपरिमितायतिः, किन्तु  
जन्तुरयं द्विहस्ततः आरभ्य सप्तदशाष्टादशहस्तपर्यन्तदीर्घः  
संवृत्तः । एवं तस्य सर्वावयवस्तावत् कर्कशकठीनचर्मणा आवृतः ;  
तच्च शल्कसदृशैश्चिह्नैश्चिह्नितम् । एवमपि चतुर्षु चरणेषु प्रखरनखर-  
निकराः सैन्यानां समरसहायकास्त्राणीव सततं तस्य सहायाः  
भवन्ति । विरगारितास्यो तीक्ष्णदशनसमूहा ऊर्ध्वोऽधोभावेन घन-  
श्रेणीनिबद्धाः शङ्खव इव वर्तन्ते । स्त्रोतस्त्रिन्धाः अगभीरे अभ्रसि  
सततं सञ्चर्य पुलीनविहारिणो गोमहिषादीन् आक्रम्य प्रायश एव

आहार्यं कल्पयति तराम् । कस्मिन् कस्मिन्नपि च तटभूमिमागत्य  
तत्रत्यान् जन्तून् पुच्छप्रहारेण विताड्य दशनमध्यवर्त्तिनो विधाय  
जले निमज्जति ।

अस्ति तावदस्य श्रेणीवर्णविभेदेन द्विसंख्यका जातिः । एकः  
क्विल कृष्णाम्, स पञ्चहस्त उत षट्हस्तपरिमितो वा दीर्घः  
सम्बृतः ; वापीतरागादिषु सञ्चर्य तत्रत्यान् मत्स्यान् भक्षयित्वा  
प्राणान् धारयति अतोऽस्य मत्स्याशितकुम्भीरसंज्ञा ।

अपरः कपिशवर्णः मत्स्याशितनकात् विपरीतः, अमितशक्ति-  
सम्पन्नः हिंस्रप्रकृतिश्चेति । नूनमस्य महत्यामपि बाधासमुपस्थि-  
तायां कदाचिदपि निजलक्ष्यतो विचुरतिर्न घटते । दूरस्थं निज-  
टस्थं वा लक्ष्यं नरं महिषं वा सक्तत् दृष्ट्वा अभ्यसि सर्व्ववयवान्  
निमज्ज्य द्रुतमुत्पत्य तं तुण्डेनाकृष्य गभीरजलमुपसर्पति । तस्माच्च  
द्वित्रिक्रत्वः समुत्प्लव्य भूयो निमज्ज्य गृहीतस्य आमरणं सलिल-  
तलदेशे अवतिष्ठते । ततो नरादिपिसितं पर्य्युश्रितं कृत्वा चर्व्वण-  
मन्तरेण कङ्कालसहितं गलाधःकरोति । प्रवादवादस्तावहीदृशः  
कुम्भीरजठरवज्जिर्जीवमांसानि पचति, परं तेन सह भक्षितान्  
कङ्कणाद्यलङ्कारान् न प्राचितुं समर्थोऽस्ति; नितरां प्रायश एव  
तदुदरे तान् लभन्ते व्याधवृत्तिगृहीतारो जनाः । नूनं तत्र वय-  
मुदासीनाः सर्व्वतस्तत् प्रमातार एव प्रमाणम् ।

अपि जानोमहे जन्तुरयं शीतागमे आहारमपहाय सर्व्वं दिनं  
वायुकामात्रसनाथे नदीसैकाततले आतपतापेन तापयति तनुम् । तत्र  
भये समुपस्थितेऽपि सहसा जले निमज्जितं नाभिकाङ्क्षति, एवं निम-

जितेऽपि अचिरेण भूयः पूर्वस्थानमधिकरोतीति जातेरस्य चिरन्तनो  
 देहधर्मः । शीतात्यये पुनरेष निजभावमासाद्य पात्रापात्रम-  
 विवेच्य हिनस्ति जलस्थलचरान् जीवान् । तत्र क्षणे च नक्षी गर्भं  
 गृहीत्वा प्रसवकालसमुपस्थिते नदोक्कुलादारभ्य तटभूमिः कियन्तं  
 यावत् गतं कृत्वा निर्जले देशे सक्तत् पञ्चदश षोडश वा अण्डानि  
 प्रसूय नक्तं दिनं क्रुद्धा व्याघ्रीव रक्षति विलमार्गम् । स्फुटिते च  
 डिम्बे शावकान् कियद्दिनं आपदभ्यः संरक्ष्य यावत् तेषां शक्ति-  
 सामर्थ्यं पूर्णत्वं नोपजायते तावत् तैः समं च्छायेव विचरति  
 सलिलान्तरम् । शावकानामात्मरक्षणशक्तिसमुपचिते शनैः शनै-  
 स्तान् अपह्राय यथाभीष्टं देशमुपसर्पति ।

अहोः धन्या मानवानां बुद्धिवृत्तिः, धन्या तेषां शक्तिरीदृशमपि  
 'दुर्वृत्तजन्तुं' विविधोपायेन व्यापाद्य चर्मणा पेटिकोपानहादोनि  
 बहुत्रिलासिजनचित्ताकर्षकाणि वस्यन्ति समुपनयन्ति । एवं केऽपि  
 प्राकृतिको जनास्तस्य दन्तास्थिप्रभृतीनि वातवेदनारोगप्रशान्तये  
 कल्पयित्वा धारयन्ति कटिकण्ठादिदेशेषु देशेऽस्मिन् । किन्तु वयं  
 तेभ्यः पूर्णा विभिन्नाः, भिन्नाः प्रकृतयश्च नितरानुदासीनाः । परं  
 सविनयं प्रार्थयामहे भगवन्तम् ईदृशं जीवानिष्टकारिणं जीवं  
 संसारात् दूरीकृत्य स विदधातु अयेः जलस्थलचारिणं प्राणभृता-  
 मिति किमधिकावाक्प्रपञ्चेन ।

## अनुशीलनी :—

अधोलिखितमाभाषमवलम्ब्य प्रबन्धो रचनीय :—

१ । कर्कटविषये—आकारादिवर्णना, प्रकारभेदः, प्राप्तिस्थानं गृहणनियमः, व्यावहारस्य प्रकारः, मांसस्य गुणकौर्त्तनम् ।

२ । जलहस्तिविषये—स्थूलशीर्षः, चतुष्कोणश्च नासिका, स्थूलौ कर्णौ, हृदे चक्षुषो च, गुरु स्थूलञ्च शरीरं, लाङ्गूलं क्लृप्तं, तैलाक्तं सच्छिद्रं चर्म, खर्वेषु चतुर्षु चरणेषु चतस्रः अङ्गुल्यः, जलस्थलचरः, आफ्रिकादेशस्य हृदे तथा महत्यां नद्यां निवासः, हणपत्रादिभोजी, जले द्रुतगामी स्थले सम्यक् चलितुमसमर्थः ।

—\*—

## प्रजापतिः—

जगत्पद्मिन् समस्तपतङ्गजातिनिकरेषु प्रजापतिरत्यतिमधुर-दर्शनो नभस्तलविहारो हृद्रवपुमान् प्राणी । अस्य तावत् षट्-चरणाः चत्वारः पक्षाः देहतुलनया सुगौले महती चक्षुषी, शृङ्गाक्षतितुण्डम्, तस्य तत् कामनामात्रेण क्लृप्तदीर्घत्वं जातम् । पतत्रेषु कुसुमकिञ्जल्करेणुपेलवाः केऽपि पदार्थाः सन्ति । स्वीय-प्रभया दीप्यन्ते ते महार्घपरत्नवच्चाक्चिक्येनातिमात्रम् ।

नूनं दृश्यते तावदिमे जातीयाः श्वेत-कृष्ण-कर्पूर-पाण्डुरादि-नानावर्णैश्चिताः संख्याकरणासमर्थाः क्षुद्रा महत्कलेवराः विचरन्ति यथा तथा धरणीमण्डले सदा सर्वदा । एतेषु एके केवलं कृष्ण-वर्णाः शुभ्रवर्त्तुलचिह्नैश्चिह्नितपक्षाः, अपरे एतदुभयवर्णमिश्रणेन

पीतपाण्डुरादिवर्णैरुपचितवर्णाः क्षुद्रैर्महत्तरैर्वा तिलचिह्ने-  
रङ्गिताङ्गाः, अन्येऽपि वा सप्तवर्णसङ्करजातमुग्धदर्शनाः परस्परं  
सम्भूय विचुरतिक्रमेण वा वसन्ते इतस्ततः सञ्चर्य पुष्पं पुष्पान्तर-  
मुपविश्य तस्य रसकोषे निवेश्य मुखशुण्डं विधुनोति मुहुर्महुः  
पक्षौ । पीते चापि रसे माध्वीकरसोन्मादनया उन्माद्य  
द्वित्वाः ऊर्ध्वोऽधोभावेन परिक्रामन्ति चलन्ति च हेलया एकतः  
अपरस्थलम् ।

किन्तु कष्टं ! प्रसूनचारि-शिलीमुखप्रभृतीनां यथा मधुसञ्चय-  
कोषमण्डरक्षणक्रमञ्च वर्त्तते, परमेषां तत् किमपि न विद्यते,  
नितरां तरुपल्लवसंस्तरे प्रसूननिकारे वा निवसन्ति ह्यत्नं  
जीवनम् । तेन च प्रायश एव विहङ्गमा आहारं कल्पयित्वा  
धातुरपूर्वसृष्टिं जीवसेनं विलोपयन्ति क्लेशपरिशून्यया चेष्टया ।

एषु च स्त्रीप्रजापती पादपत्रे काण्डे वा सक्तदतिसूक्ष्मान्  
बह्वन् डिम्बान् प्रसूय यत्र तत्र विहरति लीलाचञ्चलविग्रहेण ।  
ततो द्वित्वाहमन्तरेण ते चापि डिम्बाः स्फोटित्वा कीटतनु-  
मासाद्य क्षुधया दंदद्व्यमानाः तरुपत्राणि प्रयोजनतया वल्क-  
लान्यपि च आकण्ठं भक्षयित्वा अष्टौ घत दशदिनपर्यन्तं वा  
सुप्तिमासाद्य मृतवत् संतिष्ठन्ते । तस्मिन्नपि च क्षणे तेषां मुखतः  
केऽपि पदार्थाः निर्गत्य कीटानां प्रावरणीभूय क्षौमसूत्रपरि-  
विभ्रमाः वर्त्तन्ते । ततःपरं पक्षमध्येन तदावरणं संक्षिद्य  
सप्तत्रयाः ते कीटाः प्रजापतिरूपेण बहिरागत्य विचरन्ति देहधर्मेण ।

ईदृशं जीवमपि तथा तेषां नयनमनोन्मादनं सुरम्यं

पक्षचित्रं संविधाय विमोहयति यो मामकानतिनात्रमिह  
जगति स लोकोत्तरातिशायो परात्परपरमेश्वरोऽनुक्षणं किं  
नु स्मरणीयः प्राणभृतमिति कृतमधिकवाक्येन ।

### अनुशीलनीः—

अधोलिखितमाभाषमवलम्ब्य प्रबन्धोरचनीयः—

१। अलिविषये—षट् पदाः, स्वर्णाभिः, कृष्णचिह्नैश्चिह्नितं-  
शीर्षम्, सूचीमुखं, भारते, स्पेने, इटालीदेशे, मिशर-प्रभृतिदेशे  
च बाहुलेन अस्य प्राप्तिः, परिश्रमी कार्यकुशलौ नौडनिर्माण-  
कोशलं तस्याकृतिश्च मधुक्रमस्य प्रतिकोदरे डिम्बान् प्रसूयते, एक-  
स्मिन् मधुचक्रे चतसृभिः श्रेणीभिर्मक्षिका विभक्ताः, मधुसंग्रहस्य  
प्रणाली, मधुनः व्यवहारः, मधुस्य प्रयोजनीयता, अस्मिन् देशे  
कुत्र मधुनः प्राचुर्यम् ।

२। मशकमक्षिकायोः—आकारवर्णनाः उत्पत्तेर्विवरणम्,  
प्रकारभेदः, मनुष्याणां किमनिष्ठमुत्पादयति, केनोपायेन सञ्चार-  
यन्ति रोगान्, मशकमक्षिकाभ्यां केनोपायेन परित्राणमसमर्थः ।

### सर्पः

इह खलु जगति संख्यातीतप्राणिगणगणनासु सर्पोऽति-  
भीषणतमः सरिष्टपजातीयो जन्तुः । नूनमस्य रज्जुवत् वल्लरीः  
वद्वा शरीरगठनम्, गोलाकारे चक्षुषी, ते चात्यति प्रोज्ज्वले, एवं  
ताभ्यां कर्णौ विनापि श्रवणविषयमवधारयति । सोऽयं जीवः  
चतुरङ्गुलितः आरभ्य सप्तदशाष्टादशहस्तपर्यन्तायति युक्तः संवत्तः



एवमस्य श्वेतक्षणाविभेदेन संख्यातोताः जातिवर्णाः धरणात्तले  
समुपट्टश्यन्ते केऽपि शुभ्राः फनहीणाः फनयुक्ता वा, केऽपि कृष्णाः  
आशीविषसमन्विताः फणित्वेन प्रसिद्धाः दंशनमात्रेण प्राणिनः  
प्राण्यान्नापहारकाः ; केऽपि वा पाटलादिवर्णमिश्रणेन विचित्र-  
चित्राङ्गाः, प्रतुष्ट इमे नयनमनोविमोहका एव । किन्तु भगव-  
ज्जगत्पतेर्नियमानुसारेण स्वल्पाधिकमात्रया सर्वेषामेव विषकोषो-  
वर्त्तते आस्थान्तरे दशनमूले । ते तु दशनाः गोस्तनचुचुकानीव  
सूक्ष्मरन्ध्रयुक्ताः ; नितरां दंशनवेलायामाघातेन विषकोषात्  
तच्छिद्रतः विषं स्वरित्वा प्राणिणः रक्तेन सह मिलित्वा सकलानि  
रक्तानि विषरूपेण परिणमयति ।

अपि किमहो ! धातुरपूर्वा सृष्टिः ! एषः खलु जीवः निरा-  
हारेण दीर्घदिनमपि केवलवायुमात्रमक्षणेन प्राणान् धारयितुं  
शक्नोति । अतएवाहम् आचार्यो हेमचन्द्रोऽस्य पर्यायमधिकृत्य “...  
सर्पोऽहिः पशनाशनः” इति । आहार्याणि तावत्साधारणसर्पाणां  
जातिभेदेन विविधानि ; जलचारिणः प्राधान्येन मत्स्याः ;  
वृक्षविहारिणः क्षुद्रकलेवराः विहङ्गमाः ; भूस्थानां मूषिकाः,  
मेकाश्चेति । सर्व एव ते द्विजिह्वाकाः रसनान् प्रसारयन्ति सङ्कोच-  
यन्ति च प्रतिमुह्यन्ति मतिमात्रम् । ये तावदत्यतिशरीराः ते हि  
कपिवराहादीनपि वृहदाकारान् जन्तून् विगृह्य लाङ्गूलेन वेष्ट-  
यित्वा क्रमशः गलाधःकुर्वन्ति । ग्रीष्मप्रधानप्रदेशा हि एतेषामुत्-  
पत्तिभूमयः । तद्देशे हि आवर्जनापूर्णं देशे भृगुर्भेः वृक्षकोटरे  
भित्तिगात्रे वा विलं कृत्वा तत्र सक्तं बहन् डिम्बान् प्रसूय सर्पो

यथा तथा चरति । कालक्रमेण तानि अण्डानि स्वतः स्फोटित्वा सर्पशिशुरूपेण परिणमन्ति ।

ततो जातु सर्पी स्वशिशून् अनुसन्धाय भक्षयतीति जनश्रुति-  
वर्त्तते । अपरं हि स्वरिष्टपप्रधानाः इमे भूजगाः शोतागमे भूगर्भं  
भग्नगृहतलं वा उपगम्य कृत्स्नं हिमत्त्वं विश्रमन्ति । तत्र  
महत्यामपि बाधासमुपजातायां तस्मान्नोपसर्पन्ति । शीतात्तये  
च धरणीतलात् वहिरेत्य जोर्णं त्वचं विहाय आहारान्वेषणार्थं  
समन्तात् विचरन्ति तस्मिन्नेव एते भौषणतमाः जाताः रात्रौ  
दूरात् दूरतरं देशं पर्थ्यन्ति । त्रिंशत् ततोर्द्धतनं वा वर्षं  
जीवन्तीति ।

आहितुण्डिकाः हि विविधोपायेनेतान् तीव्रहालाहलिकानपि  
विगृह्य विषदन्तमुत्पाद्य दर्शकेभ्यः विविधक्रियाकौतुकं दर्शयन्ति  
आहरन्ति च ते विषकोपतो विषम् । तस्मात् च आयुर्वेदोक्तसूचि-  
काभरणप्रभृतौनि, वैदेशिकान्यपि कोत्रा (Cobra) नामकानि  
भेषजानि समुत्पादयन्ति शारीरिकशास्त्राभिज्ञाः ।

आमेरिकाप्रदेशे विद्यते कश्चित् शिञ्जनकारी (Rattle snake)  
भुजगः । तस्य पुच्छाग्रे किङ्किनीव शब्दकारिणी वर्त्तते कापि  
घण्टिका ; तस्मात् तस्य गमनवेलायामुत्पद्यते कोऽप्रव्यक्तशब्दः ।  
तेन तत्रत्यजनाः सतर्कतामवलम्बितुं प्रभवन्ति तत्तीव्रहालाहलि-  
कात् भुजगात् ।

अपि नाम एतेषु व्यालेषु वर्त्तन्ते अनेके ये हि वंशीरवश्रवणेन  
मुग्धा भवन्ति । तस्मादेव हि मर्पजीविकाः वंशीवादनेन तैः

समं यथेच्छं क्रीडितुं प्रभवन्ति । नूनमेते अत्यतिक्रूराः  
 कृतघ्नाश्च, ये हि यत्ने नैतान् परिपोषयन्ति पालयन्ति च तान्  
 प्रत्यपि च कथं कथमपि स्वदौर्त्यन्यमभिव्यक्तुं न समीहन्ते किञ्चि-  
 न्मात्रम् । अस्ति तारदेतद्विषयिनी कापि विचित्रा कथा, यथा—  
 कस्मिंश्चित् शीतकाले तुषारावृते पथि हिमानीसिक्तं मृतकल्पं  
 क्षुद्रमेकं पद्मगण्डिशुं निपतितं पश्यतः कस्यचित् कृषीवलस्य  
 तस्मिन् कर्णाम्बुजात् । ततः स तं गृहं नीत्वा यत्नेन वज्रि-  
 सन्तापहारदानेन जीवयामास । अथ सोऽहिपोतः लब्धजीवनः  
 स्वोद्यदौर्जन्यात् कर्षकस्य पुत्रदारान् प्रत्यधावयत् । तस्य  
 तत्कन्दभावमभिज्ञाय स क्षेत्राजीवः तमुवाच—रे रे सरिसृपाधम !  
 क्रूरपिष्ठ ! एष ते प्राणदातुः पुरस्कारः ? अतः गृह्यताम्  
 स्वकर्कफलमित्युक्त्वा हस्तस्थितेन लगुडेन तं ताडयामास,  
 तेन स सर्पाभक्तः पञ्चत्वं गतः इति ।

भवतु तद्यथातथा, ईदृगनिष्ठकारिभ्यो यदिष्टत्वमस्माभिरुप-  
 लभ्यते, तेन वक्तुमुपयुज्यते ; धन्यो हि परमकारुणिकः स्वष्टा !  
 यदीदृशेऽपि सद्यःप्राणनाशके विषे आसन्नमृतपुरोपगतस्य  
 जीवनाय पीयूषरूपेण तत् कल्पितमिति किं विस्तरेण ।

### अनुशीलनीः—

१ । अधोलिखिताभासवलम्ब्य प्रबन्धोरचनीयः । कच्छपविषये,  
 साधारणवर्णना, आकारः, अवस्थानं, आहारादयः, व्यवहारः—  
 अनेके अस्य भासं भक्षयन्ति । उपाख्याणं—हितोपदेशकच्छपकथा ।

## श्रीश्रीदुर्गापूजा

अस्मिन् किल भारतभूमौ सर्व्वेच वेदानुगते वर्णाश्रमे  
श्रीश्रीदुर्गापूजामहोत्सवः केवलं वङ्गेषु वर्त्तमानः समुपदिश्यते ।  
वङ्गान्तरितप्रदेशेषु रूपान्तरितेनास्मिन्नवसरे देवौपूजनं विद्य-  
मानमपि न वङ्गोयार्चनवत् प्रदेशव्यापिमहोत्सवरूपेण समनु-  
ष्ठोयते ।

वङ्गदेशेभ्योऽन्यत्र आश्विनशुक्लप्रतिपदमारभ्य महानवमी-  
पर्यन्तं नवरात्रानुष्ठानवार्त्ता श्रूयते । तदचनं प्रधानतो जयाख्य-  
मार्कण्डेयपुराणान्तर्गतमस्यतौश्लोकात्मकदेवीमाहात्म्यस्य प्रत्यह-  
मेकावृत्तिपाठरूपं साधारणप्रकारदेवौपूजावसानकमात्रम् । तन्नव-  
रात्रानुष्ठानं निर्दिष्टसंख्यकपुरोहितमन्त्रेण नगरवासिनां  
केषामपि नयनगोचरं स्यात् । यद्यपि च महर्द्धिमतां गृहेषु  
जातु भवनद्वारि नववताभिधानस्य नवरात्रं यावत् त्रिसन्ध्यं  
समनुष्ठानमवलोक्यते । तथापि तादृशतीर्थत्रिकालनिमन्त्रेण  
न तत्रान्यत् सधारणजनाह्लादकरं किमप्यनुष्ठानं वर्त्तते ।

इन्त ! खलु ॥ भारतोयवर्णाश्रमिणो यान्येव धर्म्मशास्त्राणि  
पुराणोपपुराणोदितानि महर्षिर्मुखनिःसृतशासनानि महत्वा-  
ग्रहेण प्राणविनिमयेन च श्रद्धया समनुष्ठोय निश्चं नैमित्तिकञ्च  
स्वस्वधर्म्माचरणं प्रत्यहमनुतिष्ठन्ति ; यस्माच्च स्वल्पमपि स्वत्वानं

महापातकचरणमिव ते सम्यगनुमन्यन्ते, तान्येव पुराणादि-  
धर्मशास्त्राणि प्रमुक्तकण्ठं वार्षिकशरत्कालोनदुर्गादेवौमहोत्सवं  
विदधुः, किन्त्वहो वङ्गवासिनो विहायापरि किल भारतवासिन-  
स्तद्विधानानां श्रुतौ वधिरा इव, दशने त्वन्वा इव, तदनुसरणे  
निमर्यादा इव स्थिताः ।

किमहो ! न केवलं तेषामस्यायामेवंविधव्यवहारः ; वङ्गेषु  
प्रचरन्तीनां शास्त्रानूदितानां देवपूजादिधर्माचरणानामनुष्ठान-  
विषये तेषामेवमेवं व्यवहारोऽस्माभिरुपलक्ष्यते । महर्षिमुखाप्ता-  
नाहं शास्त्रोक्तश्यामाजगद्धात्रीसरस्वतोप्रभृतौनां पूजाविधौ अपि  
तेषां हतादरो ताच्छ्रित्यभावश्च परिदृश्यते ।

केऽपि मन्यन्ते वङ्गान्तरितेषु प्रदेशेषु इस्लामधर्मीणां  
तदानीन्तनसर्व्वमुखौनप्राधान्यमेवैतत् कारणमिति । कथयन्ति  
च ते वङ्गेषु तदा महम्मदधर्मानुसारिणां प्रावल्याभावात् गौडीय-  
ब्राह्मणास्तदानीं शास्त्रविहितान् सर्व्वानेवाचारान् यथायथं  
सुनिर्व्विधञ्च परिपालयितुं समर्था आसन्निति । अपरे त्वाहुरसीम-  
प्रतिभाविमण्डितविग्रहाचार्य्यशङ्करप्रवर्त्तिताहैतवादस्यार्थ्यावर्त्ता-  
दिप्रदेशेषु शिष्टजनेषु प्रधानतः प्रचरणात्, पृथग्जनेषु तत्रत्यैः  
प्रोक्तमतच्छायानुगतकवीरादिमतानामुपरि साग्रहसमादराच्च  
न तत्र तत्र प्रदेशेषु मूर्त्तिपूजा प्रधानपुराणादिशास्त्रानुगत-  
वर्णाश्रमाचाराणां तावत् सम्यक् प्रचारोऽवस्थित इति, तत्रत्यो-  
षितानां भूदेवानां मध्ये भूयसामेव सन्ध्यावन्दनादि नित्यक्रिया-  
विषयकयथोचितज्ञानाभावमुपन्यस्य च ते मतमात्मनः समर्थ-

यन्ति । अपि नाम यद्वर्णोत्तमानां ब्राह्मणानामपि धर्मा-  
चरणे न प्रवृत्तिर्वरोवर्त्ति, तर्हि का कथा तदितरेषामिति,  
रोचते यस्मै यत् तदेवान्न कारणतया परिकल्पितं मनोषिणा ।  
वस्तुतोऽत्र कस्यापि कारणविशेषस्य सत्तामन्तरेण वर्णाश्रमिणां  
मध्ये कथमिव तद्वर्गमूलोभूतपुराणादिधर्मशास्त्रप्रोक्तसदाचार-  
पराङ्मुखतेवमभवत् । सन्ति हि नाम तत्तत्प्रदेशेषु तत्तद्वर्ग-  
शास्त्रनिबन्धा अविकला एव धर्मचारिणां गृहेषु, नापि वा  
विरला तत्रत्यप्रदेशेषु महामहोपाध्यायादोनां विद्वद्वरेणानां  
भूसुरवर्याणां वसतिः, किमु सनातनधर्मशास्त्रद्वेषिण एव  
प्रायशः ? तथापि तेषु तेषु प्रदेशेषु वर्णाश्रमाचारस्य यदङ्गविशेष-  
वेकल्यं समुद्भूतं, तत्तु केनाप्यनोर्ध्वचनोयकारणेन भवितव्यमिति  
कस्तावदत्र सन्देहस्यावसरो लवोऽपि ।

अस्या. पूजायास्तावत् क्षणनवम्यादि प्रतिपदादि षष्ठ्यादि  
सप्तम्यादि महाष्टम्यादि केवलमहाष्टमी केवलमहानवमौपूजा-  
रूपाः सप्तकल्पाः । यथा हि देवीपुराणे—

“इषे मास्यसिते पक्षे कन्याराशिं गते रवौ ।

नवम्यां बोधयेद्देवो क्रौड्राकौतुकमङ्गलैः ॥

ज्येष्ठानक्षत्रयुक्तायां पठ्यां विल्वाभिमन्त्रणम् ।

सप्तम्यां मूलयुक्तायां प्रतिकायाः प्रवेशनम् ॥

पूर्वपदाद्युक्ताष्टम्यां पूजाहोमाद्युपोषणम् ।

उत्तरेण नवम्यान्तु बलिभिः पूजयेच्छिवाम् ॥

श्रवणेन दशम्यान्तु प्रणिपद्य विसर्जयेत् ॥” इति

कृष्णनवम्यादिकल्पेषु आश्विनकृष्णनवम्यामाद्रानक्षत्रयुक्तायां  
देवीं पूजयित्वा बोधयेत् । तथा च लिङ्गपुराणम्—

“कन्यायां कृष्णपक्षे तु पूजयित्वाद्रमे दिवा ।

नवम्यां बोधयेद्देवीं महाविभवविस्तारैः ॥” इति

अपि पूजैषा पुनरेकस्यामपि शरदि वारद्वयमेकयैव विधानेन  
भवति । चेत्त्रे क्वापि वैशाखे च चान्द्रमासगणनया या पूजा सा  
वासन्तीसंज्ञया, आश्विने कदा कार्तिके च मासि तादृशगणनया  
येव पूजा सा शारदीयाञ्चनाव्यया व्यपदिश्यते सद्भिः । अनयो-  
र्मध्ये शेषाभिहितायां पूजायां यादृशीं प्रीतिं समनुभवन्ति जाति-  
धर्मनिर्विशेषेण जना मन्ये तादृशीमानन्दधारां पुत्रकन्या-  
विवाहेऽपि कथं कथमपि नाप्नुवन्ति क्वचित् समग्रप्रदेशेषु ।

विद्यते तावदेतद्विषयिणोरचनायामनेका वक्तव्या कथा,  
किन्तु प्रबन्धगौरवभिया ग्रन्थस्य च कलेवरवृद्धित्वशङ्कया च  
स्थूलतः इयन्तमेवोक्तास्माभिरिदानीं विरम्यते इति शम् ।

अनुशीलनो—EXERCISE.

१ । अधो लिखितमाभाषमवलम्ब्य प्रबन्धो लेखनीयः । सरस्वती-  
पूजाविषये—समयः, कालाणां कौटुश आनन्दः, पूजाया पूर्वदिने तेषां  
सनीभावः ।

२ । दोलीस्तवविषये—तस्याः पूजायाः पूर्वदिनकार्यजातम्,  
छत्सवदिने गोविन्दार्चनं, परदिने फलोत्सवः । आर्यावर्त्तादिदेशेषु  
वङ्गदेशापेक्षयानन्दाधिकः ।

## वृत्तान्तात्मकः प्रबन्धः

( *Narrative Essays.* )

पूर्वोक्तेषु त्रिविधप्रबन्धेषु वृत्तान्तात्मकः प्रबन्धो द्वितीयः । स तावत् घटनाविशेषस्य विवृतिरूपतया वृत्तान्तात्मकः । घटना हि वाम्बुव उत काल्पनिकोऽपि भवितुमर्हति । इतिहासस्य कोऽप्यंशः ; अपि वा कस्य जीवनचरितमथवा भ्रमणवृत्तान्तः पौराणिकेति वृत्तञ्च तदन्तर्गतमेव श्रेणीविभागावसरे निर्दिश्यते परमविधेयैः पुरुषैः । ऐतिहासिकप्रबन्धे—वर्णनोपघटनायाः समयः, इतिहासेन सह तस्य सम्पर्कः, घटनायाः कारणं, विशेष-विवरणं, फलमिष्टमनिष्टञ्च वर्णनोपमम् ।

### महावीर आलेकजन्दारः \*

आसीत् पुरा यूरुपस्थले मेसिडोनियान्तःपातिपोलानामक-नगरं फिलिपनामधेयः कश्चिन्नरपतिः । तस्याङ्गजो हि महावीरः सेकेन्दरः । स हि ख्रिष्टजन्मनः प्राक् पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशत- ( ३५५ ) वत्सरादूर्ध्वं किमु षट्पञ्चाशदधिकत्रिशत- ( ३५५ ) वत्सरे जन्मपरिगृह्य वीरवरेण्योऽभूत् ।

बाल्ये च वयसि स खलु महाभागः प्रोक्तादर्शनिकमुख्यात् परिष्ठलनामधेयात् साक्षात् ज्ञानकल्पात् नानाविषयिनीं शिक्षा-

---

\* अस्यापरो नाम सेकेन्दर ।



मभिलभ्य स्वल्पेनैव कालेनातुलनीयामात्मोन्नतिमाससाद । द्वाविं-  
शतिवर्षवयःक्रमवेलायाम् एसियानामकभूभागस्य जयार्थं महती  
प्रवृत्तिरेव तस्याभिजाता । तेन हि चत्वारिंशत्सहस्रमनोकिनी-  
मादाय एसियास्थलमेत्यादम्योद्दमेन एसियामाइनरस्थलं पाले-  
ष्टाइनभुवं पारस्यं मिसरञ्चाधिकृत्य खृष्टजन्मनः प्राक् सप्तविंशत्य-  
धिकविंशत-(३२७) वर्षे भारतीयपञ्चनदभूमावाजगाम ।

तदागमनमाकर्ण्य तत्रत्यः शिलराजः स्त्रोयदौर्व्वल्यात्  
भौतो भौतो हस्तिघोटकप्रभृतिनानाविधान्यगणितवस्तुचयानि  
तस्मै वीरकुलकुञ्जरायोपढौकनान्यपकल्प्य तेन सह मैत्रौमुप-  
स्थापयत् ।

तस्मिन्नेव च क्षणे पुरन्दरप्रतिमप्रतिपक्षक्षयसम्पादकः पञ्च-  
नदाधिपः पुरुरगणितचमूवलमभिगृह्णन्तं शूरशौण्डं सेकेन्द्रं  
जानन्नपि समरे समाह्वयातिभौषणमाह्वं समवतारयत् । तत्र  
चागणितप्रतिपक्षसैन्यवले स्त्रोयवाहुवलमात्रसहायिनानेकानो-  
किनीः कृतान्तपुरातिथिमान्नीयावशेषेणादृष्टप्रतिकूलतया परा-  
जितोऽभूत् ।

अनन्तरं विजयगर्व्वगर्व्विता ग्रीकवैराः सेकेन्द्रमनयन्नाहतं  
पुरमावहयानिदम्नेन । तमवलोक्यातिविस्मितः सेकेन्द्रोऽभा-  
षत,—“भो वन्दिन्, मत्तः कीदृशमेव व्यवहारमामंशसे ?” तदु-  
त्तरं पुरुः “यद् भूभृदभिकाङ्क्षितुमर्हति” इति वीतभयमुवाच ।  
किन्तु विजितुस्तादृशं वचः श्रुत्वाभ्योनिधिरिवाविचलितः गिरि-  
रिवातिकठोरः नवनीतमिवातिशयपेलवचेताः स एव महामना

स्वयं तद्वन्धनमुन्मुच्य यथोचितराजसम्मानेन सम्मानयत् । एवं सौहृद्यं प्रतिपाद्य कतिदिनं तत्र गोष्ठीसुखमनुभूयानेकजनपदं विजित्य च तस्मै उपायनमुपकल्पयत् ।

अत्रावसरे चैकदा मगधाधीशं चन्द्रगुप्तमभिवितुं तस्य महतो सृष्ट्वा समवजायत । किन्तु वलानां तत्रासम्मतितया कृतोद्योगेऽपि तस्मात् प्रतिनिवृत्त्य तानि त्व द्विधाविभज्य भागैर्कं जलपथेन स्वदेशं प्रेषयित्वावशिष्टेन भागेन सह वेलुचिस्थानाभ्यन्तराध्वना पारस्थाभिसुखं समुपाययौ ।

तत्र च त्रयविंशदधिकत्रिंशत्-(३२३) खलुपूर्वशरदि “वाविलन्” नामकनगरं त्रयत्रिंशत् वर्षे-(३३) वय क्रमवेलायां स खलु महापुरुषो वीरवरेण्याद्भूतकर्मा विनश्वरं पाञ्चभौतिकं विग्रहं परिजहार ।

हाहा ! कष्टमपि कष्टम् ॥ ईदृशमपि दोष्यभावानुदितं पुरुष-धीरेयं महामहिमकालोऽनुपयुक्ते खलु वयसि संगृह्य महान्तमेवाभावं जगति समुपस्थापयत् । परं नास्य विजेद्वत्वेन ख्यातिः नापि वा राज्यविस्तारेण ; यत् यूरोपीयैः सह एतद्देशवासिनां परस्परं सौहृद्यं बाणिज्यश्चावाधेन सम्यग्नं भवितुमर्हेति तदर्थमेव महान्तं यत्रमस्य प्रकटयन्ति तदागमनमार्गप्रतिष्ठितानि नगराणि । अद्यापि च तदुपस्थापितम् “अलेक्जान्द्रिया” नगरम् आफ्रिकायूरोपेसियाखलवर्तिनां सार्थवाहबाणिज्यकेन्द्रभूमितया तस्यातिमहतीभविषद्दृष्टेरुपस्थापनमुक्तार्थस्यापि च समाधानं प्रापयतीति किं बाहुल्येन ।

## अनुशीलनी—EXERCISE.

१। अधोलिखितविषयमवलम्ब्या प्रबन्धो लेखनीयः । नेपोलियान्  
 वीनापार्टिविषये-१७६६ खृष्टाब्दे कसिकाद्वीपे जन्म, पिता साधारण-  
 गृहस्थः, दशवर्षात् पञ्चदशवर्षपर्यन्तं युद्धविद्यामभ्यस्य सैनिकश्रेणीभुक्तः  
 १७८५ खृष्टाब्दे पारिसनगरस्य विद्रोहदलनम्, १६८६ खृष्टाब्दे अष्टोय-  
 सेनाविजयः, १७८७ खृष्टाब्दे मिशरदेशजयः, १७८८ खृष्टाब्दे फ्राञ्च-  
 देशस्य शासनभारग्रहणम्, १८०४ खृष्टाब्दे तस्य राजा, १८१२ खृष्टाब्दे  
 पञ्चलक्षसैन्यैः सह रुषियाविजयार्थगमनम्, तस्मिन् युद्धे बहुबलविना-  
 शात् पञ्चसहस्रमात्रावशिष्टेन सह स्वदेशगमनम्, १८१४ खृष्टाब्दे एलवा-  
 द्वीपे अवस्थितिः, तस्मात् भूयः राज्यग्रहणं ओयाटारलुयुङ्गे डिउक्  
 अब अयेलिंटनेन प्रारम्भः ; सेण्टहेलेनाद्वीपे त्रयसहस्रः १८२१ खृष्टाब्दे  
 तत्र मृत्युः ।

## महामहोपाध्यायश्चन्द्रनारायणन्यायपञ्चाननः

अस्ति वर्तमानफरिदपुरमण्डलान्तर्गतधानुकाख्यसमवसथः ।  
 स च यागयज्ञाद्यनुष्ठानेन स्वाध्यायाध्ययनेन विद्यार्थिनां शास्त्रा-  
 लोचनया देवविग्रहायतनतया च चिरन्तनमाश्रमपदमिव प्रति-  
 भाति । तत्रानेके भगवदन्निगोत्रसम्भूता महासूरिसत्तमा भूसुर-  
 सुख्या विद्यया ब्राह्मण्येन च संप्रत्यपि भागतप्रसिद्धा आसन् ।

तेषु कविरालङ्कारिको न्यायशास्त्रप्रवीणश्च कश्चित् कृष्ण-  
 जीवनन्यायालङ्काराख्यस्तेजसि भृगुरिव, शास्त्रार्थे गोतम इव,  
 कवित्वे काव्य इवासीत् । तस्य तावद्विसप्तत्यधिकसप्तदशशत-

(१२७७) खृष्टशके चन्द्रनारायणो नाम पुत्रोऽभवत् । स च बालचपलताननन्तरितेऽपि वयसि पितृतो व्याकरणं काव्यमलङ्कारश्चाधीत्य तेषु तेषु परं प्राबोध्यमलभत । तस्य तु तदानो तादृशो प्रज्ञामभिज्ञाय प्रज्ञावानपि सातिशयं विमुग्धा आसन् । परं परिणतं वयसि स एव ज्ञानवृद्धो बालो जनकाध्यायादिदर्शनशास्त्रमधीत्यालौकिकप्रतिभामसामान्यञ्च पाण्डित्यमासाद्य न्यायपञ्चाननोपाधिं परिजग्राह ।

ततोऽष्टाविंशतिवर्षवय क्रमवेलायां पितुरनुपरने हि तस्य मठके छात्राणामध्यापनमारभ्य त्रिंशद्वर्षं यावत् सातिशयनैपुण्येन तानध्यापयत् । अपीतोऽभ्यन्तरे तु तस्यालौकिकप्रज्ञामाहात्म्यं सुमनसां सौरभमिव समन्तात् परिव्याप्य ज्ञानमधुलोलुपान् शिष्यमधुपान् एकतोऽन्यतस्ततः परतः इत्यादिक्रमेण काशौकाञ्चो-द्राविड-नेपालादिसुदूरदेशस्थाद्विद्यार्थिनः समाकर्ष्य तदन्तिकमनयत् । ते चाभिनवशास्त्रार्थव्याख्याश्रवणेन कूटार्थ-मौमासावगतेन च परं परितोषमाससाद ।

अनन्तरं विद्यारसरसिको वाराणसोनरेशो लोकपरम्परया तस्य तादृशं पाण्डित्यमवगम्यात्ममभापण्डितपदे तं वरयितुं सुचतुरं सन्देशहरं नियुज्य महामहोपाध्यायपदलाञ्छनस्य चन्द्रनारायणस्य समीपं प्रेषयामास । स च एकत्रिंशदधिकाष्टादशशत-(१८३१) खृष्टशरदीय-सेप्टेम्बराख्यमासोत्तरभागे तत्रागत्य राजाभिलाषमाध्याय तन्पटं ग्रहणाग्रं सातिशयं चन्द्रनारायणमनुनिन्दे ।

ततः स गमनानुकूल्ये प्रातिकूल्ये च प्रथमतो बहुतर्कं युक्ति-  
च्चावतार्य स्वजनानाञ्च मतं परिगृह्य परिशिषे तत् खृष्टशकौय-  
मार्चमासे वाराणसीमेत्य तन्नरपतेः संसदलञ्चकार ।

एवं नाम तत्र गमनादूर्द्ध्वतने काले स्वाङ्गं राधाकान्तं  
सर्वविधशिक्षया शिक्षितं कृत्वा शिरोमणिरित्युपाधिं पितृपैता-  
महिकभावसथञ्चापि तस्मै समर्प्य कथं कथमपि संसारबन्धना-  
दिनिर्मक्त आसोत् ।

परं स खलु पुरुषधैर्यश्वन्द्रनारायणो राजसभामधिस्थाय  
द्वित्रमेव ज्ञायनं राजानमशेषविधया शास्त्रार्थपर्यालोचनया  
स्त्रीयासाधारणचातुर्येण च परितोष्य नानादिग्देशगतान्  
वित्यर्थिनोऽध्याप्य च तदानींतनानां पण्डितमुख्यानां वरेण्योऽ-  
भूत् । तदा तु तस्याविसम्बादितप्राधान्यमवगम्य तत्रत्य-  
राजकौय-कुड्मन्कलेजाध्यक्षेण तद्विद्यालयस्य सर्वप्रधाना-  
ध्यापकत्वपदं प्रदत्तम् ।

तस्मिन्नेवावसरे स खलु महाभागः कुसुमाञ्जलिष्टौकां गादा-  
धरीयानुगमटीकां गौतमसूत्रवृत्तिं जागदीशक्रोड़पत्रटीकां  
जागदीशचतुर्दशलक्षणोपत्रिकां तत्त्वचिन्तामनेष्टिपत्नीं तर्क-  
संग्रहस्य टीकां न्यायक्रोड़पत्रं नृपधचरितस्य टीकां, तथाति-  
विषमं समग्रतर्कसाम्प्रदायतमोऽपहर्तुं चान्द्रौमिव चान्द्रीनाम  
पत्नीं निर्माय विमोहयति प्रज्ञावतां मनांसि बाहुल्येन ।

परतः सप्तचत्वारिंशदधिकाष्टादशशत-(१८४७) खृष्टशके  
प्राक्ततधर्मेण पञ्चसप्ततिवर्ष-(७५)वयःक्रमे सकलजनोपरत-

वाञ्छितास्पदेऽविमुक्तपुण्यपत्तनेऽविश्यमेव नाशं देहमपहाय  
चिरममृतत्वमासदा ।

नूनमवगतास्माभिस्तत्रभवतो विषयिणी काश्यादिप्रदेशजा-  
तया वङ्गीया च नानाविधैतिह्या कथा । सा च प्रबन्धगौरव-  
भयात् तथा पाठार्थिनां धैर्य्यच्युतिशङ्कातश्च परिहृतेति किं  
बाहुल्येन ।

#### अनुशीलनी—EXERCISE.

१ । अधोलिखितमाभाषमवलम्ब्य प्रबन्धी लेखनीयः । पण्डिते-  
श्वरचन्द्रविद्यासागरविषये १८२० ख्रष्टाब्दे मेदिनीपुरे बोरसिंहग्रामे  
जन्म, तत्र पाठशालायामध्ययनं, नववर्षवयःक्रमे कलिकातागमनं,  
संस्कृतकलेजि एकादशर्षाध्ययनं, तस्मिन् सर्वोच्चस्थानाधिकारः,  
अध्ययनादनन्तरं फोर्ट उइलियमकलेजस्य प्रधानपण्डितपदं संस्कृत-  
कलेजस्य सहकारिसम्यादकः, संस्कृतग्रन्थस्य विशुद्धसंस्करणं, तस्य  
वङ्गानुवादश्च, १-५५ ख्रष्टाब्दे विद्यालयसमूहानां परिदर्शनकार्यलाभः,  
नूतन-शिक्षाप्रणालौप्रवर्तनं विद्यालयपाठ्यपुस्तकप्रणयनं, कार्यादवसर-  
ग्रहणं, देशहितकरकार्यानुष्ठानं, बालिकाविद्यालयस्थापनं, मेट्रपलि-  
टन इन्स्टिटुटसनविद्यालयस्थापनं, १८५१ ख्रष्टाब्दे मृत्युः, चरितन्तु,  
परदुःखकातरता, दया, अनाथस्य तथा निराश्रयस्य च पालयिता,  
रिषवाविवाहस्य प्रचलनप्रचैष्टा ।

## ग्लाडष्टोन्महोदयः

अयं खलु प्रथितयशः महामतिग्लाडष्टोन्महोदयः, नव-  
त्यधिकाष्टादशखुष्टाब्दे (१८०६) इंग्लण्डान्तःपातिलिभारपुल-  
नामके नगरे जन्म परिजग्राह । अस्य तावत् पितरौ स्कट-  
जातीयौ । म एव हि महामतिस्त्वयोश्चतुर्थो नन्दनः । नूनमसौ  
इंग्लण्डभूमौ प्रसूतोऽपि यावज्जीवनमात्मानं स्कटजातीयं  
प्रख्यापयति, स्कटजातीयास्तस्यातौव प्रियाश्चावभन् । तस्य  
पिता जन्ग्लाडष्टोननामा बणिगवृत्त्या प्रभूतमर्थमुपाज्य-सार्ध-  
वाहनिवहेषु प्रख्यातनामासीत् ।

अस्य तु विद्यारम्भोपयोगिनि वयसि विद्यारम्भे सञ्जाते,  
क्रमेण स अक्सफोर्डमहाविद्यालयाधीनयोः इटनकाइष्टचार्ज-  
कलेजाख्यविद्यालययोर्विद्याभ्यासं कृतवान् । एकत्रिंशाधिका-  
ष्टादश-(१८३१) खुष्टाब्दे स हि महात्मा सर्वश्रेष्ठोपाधिं प्राप्य  
विद्यालयान्निष्क्रान्तोऽभवत् । शैशवसमये च रक्षणशीलसम्प्रदायं  
सर्व्वात्मनानुजगाम । द्वात्रिंशाधिकाष्टादशखुष्टाब्दे न्यूकनगरस्य  
प्रतिनिधिर्भूत्वा प्रथमं पार्लमेण्टमहासभायाः सभ्योऽभवत् । तत्र  
महासभायामत्यल्पोयस्यवानेहसि स्त्रकीयाऽसाधारणवाग्मितां  
प्रख्यापयामास । जनचत्वारिंशाष्टादशखुष्टाब्दे (१८३६) लर्ड-  
मेकलीनाम्ना वाग्मिना तस्याध्यवसायो द्रढव्रतञ्च भृशं प्रशंसितम् ।  
चतुश्चत्वारिंशदधिकाष्टादशखुष्टाब्दे (१८४४) सार् र्वार्टपोल-

नाम्नाऽसौ कोषागारस्य बालसभ्यपदव्यां नियोजितोऽभवत् । एवं तेन स्वकौयाऽतुल्यवाग्मितादिगुणग्रामप्रभावेण यथाक्रमं पार्ला-  
मेण्टमहासभायाः सभ्यतानुगता नानापदव्यधिरुदा । अष्ट-  
षष्ठप्रधिकाष्टादशशतखृष्टाब्दे (१८६८) प्रथमं स प्रधानमन्त्रिपद-  
मधिकारः । परं क्रमेण वारत्रयं तत्पदवीमधिकृत्य इंग्लण्डस्य  
यशःसौरभं दिगन्तेषु प्रसारयामास ।

ततोऽष्टनवत्यधिकाष्टादशखृष्टशरदि (१८८८) निखिलधरा-  
तलं गाढतमसाऽदृष्टवन्, आयलैण्डवास्तव्यमानवहृदयकुसुदानि  
सङ्कोचयन्, भारतीयप्रजाहृदयचकोरजातमगाधहताशताजल-  
निधौ निमज्जयन्, इंग्लण्डोयप्रजानक्षत्राणि दुःसहवियोगव्यथा-  
निष्प्रभोऽकुर्वन्चक्षुः गतः किल राजनीतिगगनतलात् ग्लाडष्टोना-  
भिधः पूर्णिमाचन्द्रः । तमपहता खलु दुरन्तेनावश्येन कृतान्तेन  
गृह्येतः किल सर्वकार्यसुमन्त्रणावादः प्रधानामात्यः इंग्लण्डभूमे-  
गौरवविवर्द्धकमुखोज्ज्वलकररत्नाभरणरूपो भारतीयप्रजानां  
सर्वदुःखापनोदकामो सुहृदामग्रणीः, समस्तधरणीमण्डलस्या-  
द्वितीयो राजनीतिज्ञः । तस्य परलोकप्रस्थानमाकर्ण्यरुदत्  
समस्तपारावारपरिवृता निखिला धरणी । अमुच्चन्नपि युगपत्त-  
ल्यरूपं शत्रवो मित्राणि चाहर्निशमश्रूनीति किं बाहुल्येन ।

### अनुशोलनी—EXERCISE.

१ । देशबन्धुचित्तरञ्जनदाशः, बाल्यकालः, शिक्षा, विदेशगमनं,  
तत्र शिक्षा, तत्रावस्थानकाले विदेशिनां भारतीयान् प्रति अनुचितव्यव-  
हारस्य तीव्रप्रतिवादः, तेन कर्तृपक्षीयाणां सनन्ददाने कार्पण्यं, ततो



व्यवहारजीवपरौक्षायामुत्तौर्यः, स्वदेशागमनं, कर्मजीवनं, प्रभूतार्था-  
जननं, दानं, राजसंसर्गत्यागः, देशकार्यं आत्मनियोजनं, कारावासः,  
तस्मान्मूर्तिः, परलोकगमनं, देशवासिनां शोकः, तेषां ज्ञानगमनं,  
तदृदृश्यञ्च ।

### चैतन्यः

अस्ति गौडेषु गङ्गोपकण्ठे नवद्वीपाभिर्धं नगरम् । तत्र  
चैतन्यापरनाम गौराङ्गो जगन्नाथमिश्रस्य पुत्रत्वेन शचौदेवीगर्भे  
पञ्चाशीत्यधिकचतुर्दशशतखृष्टाब्दे ( ८८५ ) जन्म परिजग्राह ।  
अयं खलु वंशो वङ्गीयवैदिकभूसुरकुलान्तर्गतः । तदंशधुरन्धरः  
कोऽपि पूर्वजो भागीरथौतोरनिवासमिषेण श्रीहृद्देशतः सपरि-  
वारमागत्य ज्ञानोन्नतिविषये वङ्गानां केन्द्रभूतं नवद्वीपनगर-  
मध्यवासः । तदन्वयपावनीकृतोऽयं गृहीतसत्र्यासविश्वरूपानुजो  
विश्वम्भरो महिमगौरवेण तन्मतानुसारिभिः पराचोनैर्वैष्णवैः  
विष्णुरवतारत्वेन उपकल्पितः तत्रभवतः प्रेमावतारत्वं पुनः  
सववादिसम्मतमिति प्रतिपादयिष्यते परस्तात् । मिथिलातो  
न्यायशास्त्रमधीन्य वङ्गेषु प्रचारको वासुदेवसार्वभौमसकाशात्  
अशेषविधशास्त्रनिचयानधीत्य धर्ममोमांसादिषु युक्त्यतिशयस्य  
परां काष्ठां समालम्बवानयं नवपुरुषावतारः श्रीमान् गौराङ्गो-  
देवः । मैथिलताकिंकधुरन्धरपञ्चधरमिश्रविजयेन यसोधवला-  
यितदिङ्मण्डलः किं पुनर्वङ्गभूमिः रघुनाथशिरोमणिः ; गौडीया-

नामभिनवमीमांसकः स्नातकर्मनानुष्ठानेषु रघुनन्दनभट्टाचार्यः ;  
 तान्त्रिकक्रियासु लब्धप्रतिष्ठकृष्णानन्दस्तदगुरुपादान्तेवासिनो  
 तस्य सतीर्थाः आसन् । परं यस्यान्तरात्मा समाजधर्मयोः  
 पातित्वदर्शनेनानिशं क्रन्दते तयोः संस्काराय च यस्य जन्म-  
 परिग्रहः, एतादृशो महाप्राणस्तदन्तरेणावान्तरविषयालोचनया  
 पृथगजन एव चित्तस्य प्राशस्त्यं परित्यजित्वा लब्धा कथंकारं  
 केवलेन तद्रसेन रसित एव चिरमवस्थातुं शक्नुयात् ? अतएव  
 पठद्दशायामेव संस्कारकार्येऽविचलितलक्ष्यासीदसौ महामतिः ।  
 किं बहुना प्रथमायाः पद्मराः लक्ष्मीदेव्याः आकारालकमहा-  
 प्रयाणान्ते यौवने कृतपादक्षेपां बालतपनविक्रमनोन्मुखाब्ज-  
 सदृशीं स्नानुरूपां रूपसीं बभूव विष्णुप्रिया लब्ध्वापि, अन्तेवासिभ्यः  
 शास्त्रधर्मविकरणजनितयशःसौरभायितदिग्विभागे पूर्णे यौवने  
 स्वयं वर्त्तमानस्यापि संस्कारस्यावश्यसम्पाद्यत्वं तस्य हृदये जाग-  
 रुकमासोदेवः निरन्तरम् । अतः सुविस्तृतं यशःसौभाग्यमाषा-  
 ढीयगङ्गासदृशीं, प्लूततमां मनोरमां रमां, शोकजराजौर्णा-  
 मङ्गजाङ्गगतप्राणां स्निग्धस्नेहप्रतिमां जननीमपि महत्तरकार्य-  
 सम्पादनाशयाऽविगण्य केशवप्रतिमात् केशवभारतौतो लब्धदौचः  
 संस्कारोपदेशकामनयैव गृहीतपारिव्राज्योऽयं नवोनभाववहितो  
 महापुरुषराजः श्रीमान् गौराङ्ग आमथरात् सेतुबन्धं स्वाभिमत-  
 धर्ममतं प्रचारयन् सफलकामतया परिगतचित्तप्रसादः प्लूततमे  
 पुत्रपौत्रमजेद्वतले त्रयविंशदधिकपञ्चदशशतस्त्रष्टशके (१५३३)  
 अवश्यमेव नास्यं नश्वरं शरीरं परिजहारेति कृतं बाहुल्येन ।

## अनुशीलनो—EXERCISE.

१। अधोलिखितविषयमवलम्ब्य प्रबन्धो लेखनीयः। राम-  
मोहनरायविषये—कुल वासः, तस्य मतं, समाजसंस्कारः, शक्तिः,  
विदेशगमनं, तल मृत्युः।

## महात्मा गान्धिः

अस्ति भारतस्यापरं प्रान्ते गुर्जरनामको देशः। तत्राऽरव-  
सागरस्योपकूले पोवरनामधेयं नगरम्। तस्मिन्नेवोनसप्तत्यधि-  
काष्टदशशत-(१८६८) ख्रष्टशके प्रथिते कस्मिन् वैश्यकुले मोहन-  
दासकरमचौदगांन्धिर्जननमाससाद। तस्य पिता पितामहश्च  
तत्रत्यभूस्वामिनां राणोपनामधारिणां वंशपापमर्थ्येण देओयान-  
पदमलं चक्रतुः। तयोरोदार्यस्य प्रभुपरायणताया धर्मानुरागस्य  
च ख्यातिरव्यापि देशे तस्मिन् प्रसिद्धिरस्ति।

एवमपि हि मोहनदासस्य जनयिता लोकेषु तेजस्वितां  
तथा धर्मानुरागं न्यायनिष्ठत्वं शास्त्रज्ञानञ्च यथायोग्ये विन्यस्य  
जनन्यपि च स्त्रौजनोचितविविधगुणेन तथा धर्मप्राणतया मनो-  
षया विशेषतो रुजाभिभूतानां शुश्रूषया च सर्वथा समाकर्षयतां  
तदानां प्राकृतानां मनांसि बाहुल्येन। ईदृशयोरादर्शदम्पत्यो-  
र्नन्दनः स खलु गान्धिः, प्रथमाङ्कुरिते वयति मातृतः पेलवतां  
मनोवृत्तिमत्यतिप्रशस्तां करुणां तथा पितुर्मनस्वितां गुरुगम्भीरं

ज्ञानमुभयत ओजस्वितां धर्मानुरागं भगवद्भक्तिश्चाभिलभ्य  
प्राप्ते द्वादशे वर्षे परिणयमकरोत् ।

परं शैशवे प्राक् सोऽयं मनस्वी स्थानीययोर्वितययोर्विद्या-  
लययोः शिक्षकात् प्राथमिकशिक्षां समाप्य द्वादशवर्षवयःक्रम-  
वेलायामुच्चविद्यालयं प्रविश्य तस्मात् सप्तदशवर्षवयःक्रमे प्रवे-  
शिकापरीक्षातः समुत्तीर्णोऽभवत् । तत्र किलाध्ययनकाले  
कस्यचित् सुहृद उपदेशेन विशिष्टव्यवहारजीवपरीक्षार्थं लण्डन-  
नगरीं गन्तुं तस्य महती प्रवृत्तिरभवत् । किन्तु जननी तदव-  
गम्य प्रथमतो नानाविधचेष्टया तं निवारयत् । किन्तु सा तत्र  
विफलमनोरथतया पुत्रस्याप्याग्रहातिशयश्च ज्ञात्वा कस्यचित्  
जैनक्षपणकस्य सविधे “मद्यं मांसं तथा रमणीयंसंगश्च सर्वथा  
वर्जनैयं तवे”ति तं सत्यं वाचयित्वा परिशिषे विदेशगमन-  
मादिदेश ।

ततःप्रभृति मातृभक्तो हि स लण्डननगरीं गत्वा तत्र वर्षद्वय-  
मवस्थाय प्रतिक्षणमेव जनन्युपदेशं स्मरन् केष्वपि व्यसनेषु संसक्तो  
नाभवत् । ततश्च सम्पाद्य विशिष्टव्यवहारजीवशिक्षणीयविषयं  
तदध्यक्षतोऽनुमतिपत्रमासाद्य प्रत्यावर्त्य च स्वदेशं कियेद्दिनं  
वैदेशिकमोहमदिरोन्मादनयोन्मादितोऽभवत् । अनन्तरमुपरते  
च तन्मोहे स्वप्रकृतिमासाद्य ब्रह्मचारीवद् गुरुकठोरं नियममव-  
लम्ब्य भागवतादिवेदवेदान्तग्रन्थानधीत्य प्रकृतमनुष्यपदवी-  
मुपार्जयत् ।

तदनन्तरञ्च सुखेप्रदेशीयप्रधानविचारालये तस्य प्रथम-

कर्मजीवनस्य कार्यारम्भः एव समुपजायते । तत्र च सार्द्धैक-  
वत्सरे कृते कार्यं त्रिनवत्यधिकाष्टादश-(१८८३) खृष्टशके-  
पोवरवन्दरीयः कश्चित् सार्धैवाहः स्त्रीयाभियोगसमर्थनार्थं दक्षि-  
णाफ्रिकादेशं तं प्रेरयत् । नूनं तदानीं तत्र भारतीयौपनि-  
वेशिकानां क्रमोन्नतिं समौच्य तत्रत्ययूरोपीयाः आत्मप्रधान्यं  
भारतीयैः काले विलुप्तं भवितुमर्हतीति भाविनीं शङ्कां विगणय्य  
सर्वथा तान् निर्यातुमभिमवितुं निग्रहितुञ्च यतमानाः आसन् ।  
परं शिञ्चितमशिञ्चितं भद्रमभद्रं सम्पन्नमसम्पन्नं वा भारतीयं  
सम्भाषयन्ते ते “जुलीति” नितान्तनिकृष्टसंज्ञया । तादृशीं दुर्गतिं  
भारतीयानां संस्मरन्नेकदा पथि गच्छन् महाभागः नगरप्रहरिणा  
चरणेन प्रहृतः । अन्यदा कस्मिन्नधस्तनविचारालये शिरस्त्राणमुन्मो-  
चयितुमादिदेश । परत्र कदा बाष्पीयशकटगमनसम्पादकश्च तं  
प्रथमश्चेणीतो वलेनावतारयत् । इत्याद्यनुचितानुष्ठानं यूरोपीयानां  
स्वयमभौच्य समुपभोग्य च स्वयं निर्यातनं तत्प्रशमनोपायं भाव-  
यन् तत्रैव स्थितः । तस्मिन्नेवावसरे श्वेताङ्गशासकाः गुरुकठोरं  
यावतीयनिर्यातनं सम्भवति तद्राजकीयविधानानुमोदितं विधाय  
तेन नियमेन निर्यातयन्ति भारतीयान् ।

ततः षोडशाधिकोनिविंश-(१८१६) खृष्टाब्दे ड्रान्सभालभूमेः  
राजप्रतिनिधिः बहुप्रतिवादसत्वेऽपि नवौनराजविधानं राजानु-  
मोदितं कृत्वा तत्र प्रावर्त्तयत् । तच्च—“एसियाखण्डवासिनां सर्वश  
एव स्वनामलिखनमङ्गल्यङ्कनञ्च राजद्वारे वन्दितवत् कर्त्तव्य”मिति,  
तच्चाशेषविधप्रतिवादेनापि विफलं कर्त्तुमसमर्थतया परिशिषे

“निष्क्रियप्रतिरोधः” ( प्यासिम् रेजिस्टेन्स ) नामान्दोलनमवलम्बयत् । तदान्दोलनस्य परिणामे सप्ताद्यधिकोनविंश-(१८०७) ख्रष्टाब्दे तस्य मासद्वयं कारावासो घटते स्म । तत्रैव चैकोन-शताद्यधिकाष्टादश-(१८८८) ख्रष्टाब्दे वुयरसंग्रामे आहतानां शश्रूषणार्थं सेवकसमितिं सङ्गठ्याहतं शश्रूषयत् । तत्कार्येणातिशयः प्रीतो राजप्रतिनिधिस्तस्मै पदकमेकमदात् । एवं चतुरधिकोनविंश-(१८०४) ख्रष्टाब्दे भारतीयेषु प्लेगाख्यमहामारिसमुपस्थिते सेवकसमितिं विन्यस्य रोगक्षिष्टानां सेवां कृत्वा सेवाव्रतमुदघापयत् । ततः षडधिकोनविंश-(१८०६) ख्रष्टाब्दे ईराज-राजशक्तेर्विरुद्धवादिनां जुलुलाण्डवासि-काफ्रिजातीयानां युद्धे पुनः सेवाव्रतमवलम्ब्य राजदत्तपदकमेकं प्राप्तवान् । इत्यनया दिश तत्रत्यदेशवासिनां श्वेताङ्गकृष्णाङ्गानां विविधानि हितकार्याणि सम्याद्य तस्मात् प्रत्यावृत्त्य इंग्लण्डमुपगम्य च महासमरे ईराजानां साहाय्यार्थं तत्र भारतीयसेवकदलं संस्थाप्य तेषामशेषविधं साहाय्यं कृतवान् ।

तदनन्तरं भारतेषु सप्तदशद्यधिकोनविंश-(१८१७) ख्रष्टाब्दे सम्यारणाख्ये देशे रायतगणेन सह तत्रत्यनीलकरविदेशीयवणिजां भूसम्बन्धीयविवादोपस्थिते भारतमागम्यासीमयत्नेन तेषां रायतजनानां पक्षमवलम्ब्य सर्वे स्वमीमांसत् । ततः परमाहम्पदावादीयप्रावरणवयनयन्त्रपरिचालकानां अमजीविनां तद्व्यन्वाध्यचैः सह मनोमालिन्योपगते अमजीविपक्षमवलम्ब्य “यावन्तं तेषामभियोगः कर्तृपक्षेर्नोपशमितव्यः, तावन्तमेव मम

प्रायोपवेशन”मिति प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञानुरूपं कर्म कृत्वा परिशिषे स्वाभीष्टफलमलभत ।

परं षोडशाधिकोनविंश-(१८१६) खृष्टशरदि गुर्जरदेशे शस्याजन्मत्वेन राजकरदातुमसमर्थाभ्यः प्रजाभ्यो गुरुकठोरनियमेन करमाग्रहितुमारेभिरं राजपुरुषाः । तच्चानुचितं मन्यमानो महापुरुषः तासु “सत्याग्रहमन्त्रं” प्रचारयत् । तच्च—“वलवतोऽमानुषिनिर्यातनमपि विशिष्टैरेव धैर्यैः सहनीयम्, न पुनः कथं कथमपि प्रतिपक्षत्वेन वर्त्तितव्य”मिति । तन्मन्त्रानुप्राणितास्तथास्तथानुष्ठितेनाचिरेण स्वीयकरभारादुन्मूक्ता आसन् । ततःपरं देशेऽस्मिन् “रौटालविल” नाम्नीं प्रजाप्रतिकूलराजशासनपद्धतिं प्रचारितुमुद्युक्ते राजपुरुषे गान्धिप्रमुखा भारतीयजनमङ्गलाकाङ्क्षिणो महापुरुषाः तत्पद्धतेरनौचित्यमाख्याय तौत्रं प्रतिवादं कुर्वन्तोऽपि तान् न विगणय्य राजपुरुषाः तत्पद्धतिं राजविधानानुमोदितामकुर्वन् । तेन महात्मा भारतेषु सर्वत्र स्वीयासाधारणसत्याग्रहमन्त्रं शनैः शनैः प्रचार्य तत्प्रतिकारकल्पे समुद्बोधयज्जनमानसम् । तस्मादेव हि सम्प्रति पञ्चनदीयज्जालियानवागाख्ये तादृशानां पैशाचिकात्याचाराणामनुष्ठानमभवत् ।

अधुना तत्सत्याग्रहमन्त्रमेव “नन्-को-अपारेशन्” वा सहयोगितावर्जनरूपेण परिणतिरासीत् । तस्य स्थूलार्थस्तु “राजसम्पर्कः सर्वतः परिहर्तव्यः” इति ।

वस्तुतः वर्त्तमानेऽस्मिन् जगति महात्मनोऽमानुषी त्याग एव तस्य देवत्वमुपस्थापयति बाहुल्येन । स हि निर्यातित-

पक्षमवलम्ब्य प्रवलवाधाविपत्तिमपि चाविगणय्य तत्प्रतिकाराय स्वशक्तिमुपस्थापयत् पर्याप्तेन । सन्तोह जगति बहवो धार्मिकाः बहवश्च कर्मिणस्त्यागिनश्च किन्तु एकस्मिन्नेव विग्रहे एतेषामपि त्रयाणां समवायो नितान्तविरल एवास्तां मुधैवाधिकजल्पनेन ।

### अनुशीलनी—EXERCISE.

अधोलिखितविषयमवलम्ब्य प्रवक्तुं लेखनीयः । मनस्वी स्य आशुतोषसुखोपाध्यायविषये—वंशपरिचयः, पाठ्यावस्था, कर्मजीवनं, प्रधानविचारपतित्वं, विश्वविद्यालयस्याध्यक्षता, कर्मशक्तिः, उपाधि-लाभः, चरितम्, मृत्युश्च ।



### व्याघ्रो वानरः शृगालौ च

एकदा काचित् शृगालौ शावकान् आदाय वनं विहरति स्म । अथ विहरन्त्यां तस्यां रविस्ताचलचूडामुपागतः । ततः सन्ध्यासमागमे सा नातिदूरे व्याघ्ररवमाकर्ण्य भौता भौता सन्निहितं कञ्चित् विलदुर्गं प्रविवेश । तत्र घ्राणेन व्याघ्रविवरं परिज्ञाय किं करणीयमिति विचिन्तयन्त्यां तस्यां कञ्चित् व्याघ्रः सपदि एव विवरसमोपमुपागत्य केनापि सत्त्वेनात्र वर्त्तितव्यमिति विज्ञाय सुमृशं ननर्द सुहुर्मुहुर्विजृम्भयच्च । तादृशं



नादमाकर्ण्य सा शावकान् सुहुर्मुहुस्ताडयामास । तेन ते उच्चैः  
क्रन्दितुमारेभिरे ।

ततः शृगाली सान्त्वनाच्छलेन तान् शावकान् उच्चैरकथ-  
यत्—रे पुत्रकाः । मारुदित, दिष्ट्या महाकायः कश्चित् शार्ङ्गलः  
आत्मनात्र समायातः प्रविष्टेऽस्मिन् दुर्गमध्ये व्यापाद्य तेनाशन-  
क्रियां निर्व्वहयामि । यदि वो एतादृशं रोदनमाकर्ण्य पला-  
यते तर्हि निराहारेणानुदिनं वर्त्तितव्यम् । एतदाकर्ण्य स खलु  
व्याघ्रः भीतो महदेव सत्वमत्र वर्त्तितव्यमिति संविज्ञायाति-  
द्रुतं पलायते स्म ।

अथातिद्रुतं पलायमानं तं दृष्ट्वा 'सन्निहिततरुशाखास्थः  
कश्चित् वानरस्तमाह—भोः भोः मामक, हन्त ! कष्टं ॥ त्वं  
शृगालौभिया पलायसे ? प्रत्यावृत्त्य गच्छ पुनस्तत्र अहमपि  
त्वया सह गत्वा दर्शयामि ते भयकारणम् दुष्टां शृगालीमन्तरा  
नान्यत् । तदाकर्ण्य चकितो व्याघ्र आह—सौम्य, अहं तत्र  
गन्तुमर्हामि, परं यदि त्वं दुर्व्वृत्तसत्त्वेन सन्ताडितः मां विहाय  
पादपशाखां समान्नयसि तदा मे किं करणीयम् ? वानरो  
आह यदि मदवचसि ते प्रत्ययो न स्यात्, तर्हि पुरोवर्त्तिन्यानया  
लतया मे शीवां बद्ध्वा भवत्ताडूलेन सह विष्टयित्वा मामपि तत्र  
नय इति स्थिरौकृत्य तथा कृत्वा तत्र गतयोः वानरव्याघ्रयोः  
शृगालौ भूयः कौशलजालं सुविस्तार्य्य पोतकान् आह—भोः  
भोः वल्गकाः, प्रथममसौ प्राणी युष्मत्क्रन्दनमाकर्ण्य पलायितः,  
अधुनातिचतुरो भवन्मातुलः भूयस्तमेव बद्ध्वा समान्यति, येनासौ

उत्प्लवितुं पलायितुमपि नाहंति । विरमत विरमत पुत्रकाः  
क्षणादेवासौ मदीयकरालदशन मध्यवर्ती सम्भविष्यतीति । तदा-  
कर्णं शृगाली स्वरमनभिज्ञातो मन्दबुद्धिः शार्दूलः भटिति दिश-  
मदिशं वा पलायितुमुपचक्रमे । तेन त्वरितं गच्छति तस्मिन्  
दृढबद्धो मन्दधौ वानरः हृक्षप्रस्तराघातेन जर्जरितः अविलम्बेन  
पञ्चत्वमुपगतः ।

इच्छति यः परानिष्टं दुरात्मा कौतुकप्रियः ।

अनिष्टं निश्चितं तस्य स्वयं सोऽपि विपद्यते ।



## ग्राम्य-जम्बुकौ

कश्चित् जम्बुकः लुब्धकैरनुसृतः द्रुतं धावन् पथि स्थितं  
कश्चित् ग्रामीणं दृष्ट्वा सकरुणं प्रार्थयामास । भद्र, लुब्धकैः  
आसितोऽहं देहि मे भवत्कुटीरे क्षणं विश्रामस्थानमिति । स  
ग्राम्यः स्वस्त्युद्धा खगृहकोणं दर्शयामास । अत्रान्तरे व्याधाः  
तस्य अनुपदमेवागत्य तमेव ग्रामीणं पप्रच्छुः । सौम्य, इतो  
यान्तं कश्चित् जम्बुकं दृष्टवान् ? सोऽप्याह—न हि मया दृष्टः,  
इति वाङ्मात्रेण परिज्ञाप्य, परं तस्य निःश्रवस्थानं वारं वारं  
अङ्गुलि-चालनेन निरदिशत् । तदप्यपरिज्ञाताङ्गुलिसङ्केतेषु  
तेषु सुदूरं निर्गतेषु जम्बुकः निश्चितं गन्तुं समुपचक्रमे । तद्-  
दृष्ट्वा ग्राम्य आह—अये, किमेषा रीतिः, येन ते अभयं दत्तं तम-

नादृत्य कथं गन्तुमारभसे ? जम्बूको मन्दं विहस्याह—भद्र, वचनपरिपन्थिनौ ते अङ्गुलिः इदानीमपि श्लथयति मे भव-  
बन्धनम् । न चेत् उपकृतेरानृश्यं नूनमवगच्छेयम् । इत्युक्त्वा  
द्रुतं तस्मादपगतः ।

वचस्यन्यत् मनस्यन्यत् कर्मस्यन्यत् दुरात्मनाम् ।

वचस्येकं मनस्येकं कर्मस्येकं महात्मनाम् ॥

### काकः शृगालश्च

अथैकदा कश्चित् बलिभुक् मांसविक्रेतुर्विपणितः मांसखण्ड-  
मेकं चोरयित्वा चक्षुःपुटेनादाय सुसन्निहित-तरुशाखाया-  
मुपविष्टः । तत्र पादप-च्छायां संसेवमानः कोऽपि जम्बूकाः  
तमवलोक्य कपटप्रबन्धेन वक्ष्यित्वा मांसं लब्धुमिच्छन् बलिभुज-  
मुपेत्य ललितवचनोपन्यासेनाह—मित्र, कुशलं ते ? अहं तावत्  
भवतः सख्यमिच्छन् नानास्थानमुलङ्घ्य इत एवाभिवर्त्ते । परं  
वनोपवनं शैलकुञ्जश्च परिभ्रमता मया भवता सहशः कुचापि  
सर्वाङ्गसुन्दरी विहङ्गमो नाद्यापि विलोकितः । इहो !  
किमिव ते भ्रमर-क्षणौ पक्ष-पुटौ वासुदेवसमप्रभा चक्षुः ।  
इन्द्रीवर-नीले नयने नृत्यकरणचमौ च चरणौ । हन्त ! कष्टं  
तथापि मे द्रव्यत् दुःखं यत् धात्रा सर्वाण्यपि ते चित्ताह्लादकराणि  
अङ्गप्रत्यङ्गानि विधाय परं कृपणतया मूको निरमायि । स्वल्प-  
बुद्धिरसौ काकः स्तावदात्मस्तुतिं समवर्गस्यालोचयत्—“अहो !

पर्याप्तं मद्रूपविमुग्धोऽयं जम्बूको यदि मे कण्ठस्वरं शृणुयात्  
तर्हि महान्तमेव विस्मयमालभिष्यति” इति विमृश्य यावदसौ  
चञ्चू व्याददौ तावदेव मांसखण्डं भूसौ पपात । शृगालः  
आभीष्टमांसखण्डमासाद्य पुलकितमनाः तस्मादपगत्य गभीर-  
तरं वनदेशमुपागच्छत् । काकस्तु परमात्मबुद्धिं निन्दयन् अन्यत्र  
समुपययौ ।

स्वार्थेन भजते धूर्तः सिद्धे कार्ये विरज्यते ।

न कस्यचित् प्रियो धूर्तः कश्चित् धूर्तस्य न प्रियः ॥

## चिन्ताघटितरचना—Reflective essays.

प्रागुक्तेषु द्विविधरचनानिर्माणीषु चिन्ताघटिता रचना तावत्  
तृतीया । तच्च नीति-गुणावस्थाप्रवादमूलतया चतुर्धा विभजितुं  
शक्यते । एषा हि रचनातिकठोरतया विवरण-वृत्तान्तरचनान्तेषु  
लेखनीया । अत्र लेखयितुः स्वमतमेवातिप्रवक्तव्या अन्येषामपि  
मतं प्रथममुद्धृत्यात्ममतं परिशिष्ये प्रकटनीयम् । एतादृशे प्रबन्धे  
विषयविशेषस्य, तस्य संज्ञयाः उत्पत्तेः कारणस्य चोपकारिताया  
उत अपकारितायाः स्वपक्षस्य विपक्षस्य वा मतं समुल्लेख्य सर्व-  
शेषे स्वमतं प्रकटय्य ससाप्तिं नयेत् । एतद्रचनादर्शो यथा—

## कालः

इह तावदेक एव कालः दृग्-सुहृत्ताद्यपाधिभेदेन बहुधा विभज्यते विद्वद्भिः सर्वे खलु प्राणिनः तद्वशेन आविर्भवन्ति, तोरोभवन्ति, संतिष्ठन्ते च । तन्तु कालं वृथा न यापयेत् । यस्तावत् आलस्यात् तं नयति स च जगत्प्रदयमात्योन्नतिञ्च प्राप्तुं न शक्नोति, परं यावज्जीवं दुःखमनुभवति च । एवमपि च संसारेऽस्मिन् न तावदेकोऽपि प्रभुतार्थदानेन मधुरवचन-विन्यासेन जीवन-यौवन-विनिर्भयेन च सुहृत्ताद्यैर्मपि क्षणं तमात्मवशं नेतुं समर्थोऽस्ति । देवा अपि च कालवशेन सृष्टि-स्थिति-संहारादिकार्याणि कुर्वन्ति पुनस्तस्मिन्नेव लीयन्ते ।  
उक्तञ्च—

ये समर्था जगत्प्रदयन् सृष्टिसंहारकारिणः ।

तेऽपि कालेन लीयन्ते कालो हि बलवत्तरः ॥ इति

य एव कालस्य सद्यवहारं विदधाति ; स हि विद्यार्जने धर्मार्जने अर्थार्जने च प्रभवन्ति । जगतामशेषसौख्येन च समन्वित एव स्यात् । नितरामभ्युदयकाङ्क्षिणः प्रेष्टमानवकाः, सुहृत्ताद्यैर्मपि कालं वृथा नातिवाहयेत् । उक्तं हि—

कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ इति

अतएव कालस्य सद्व्यवहारः सर्वथैव समाचरणीयः सर्वेषा-  
मिति किं बहुधा ।

## प्राचीनभारतम्

हंहो ! विद्यावयोवृद्धाः, प्रिययुवानः, सुकुमाराः कुमाराश्च,  
अवगच्छध्वम् ; शतार्धवत्सरादूर्ध्वं अत्रत्ये खलु सम्ये जगति  
शिक्षिताभिमानिनः सभ्या. अस्मद्देशीयाश्च प्रायश एव पाश्चात्य-  
शिक्षानुप्रापीताः सामाजिकाः अत्रभवा रीतिं नैतिं ज्ञानञ्च  
किमन्यत् शिक्षादीक्षाप्रभृतिं यावतीयां प्राचीनकर्तव्यानुष्ठान-  
पद्धतिमपरां विश्वविश्रुतामनुनीयामतीतकीर्त्तिकाहिनीञ्चापि  
तुच्छातितुच्छतरं समवमन्य तद्धितानन्दिता इव प्रतीच्यमोह-  
मदिरासंवशीकृतमानसाः आत्मानं स्वसर्वस्वञ्च दीनातिदीनतर-  
ममन्यन्त । संप्रति हि देवगत्या यथार्थशिक्षितानामदम्य-  
चेष्टापरम्परया कारणकोटिकानां घातप्रतिघातेन च तदेव हि  
हेया धारा प्रसक्तता च कथं कथमपि न्यूनीभूय निद्रालसित-  
जननयनान्तर्पथ्यन्ते बालास्वरमणिमयूखमिव स्वरं स्वरं स्त्रीया-  
सामान्यमतीतगौरवमातनोत्यतितराम् । तच्च सातिशयमेव  
शुभमंसूचकं मन्दभागधेयानामस्मदीयानामतिमात्रम् । यतः  
प्राचीनतमानां ज्ञानविज्ञानाधाराणां शास्त्राङ्गसाहित्यानामध्ययने  
संजायते जातीयता, क्रमोन्नतिश्च शनैः शनैरेवात्र जगति ;  
परं तेषां पूर्वजनानां यशोऽवकीर्णं भास्वरे पथि सञ्चरणेन नूनं

सम्भवति तेषु तेषु प्रवृत्तिप्रेरण निराधारा रतिश्च ; सुतरामात्मो-  
न्नतिसंविधाने तदेवान्यतमं प्रकष्टं वीजमिति किं तत्र  
विचारणानां प्रतीक्षा ?

अप्यहो ! दृश्यते तावत् पर्यालोचितेषु समग्रभूभागेषु  
यद्यपि कापि भूमिः अतोत-गौरवमहिम्ना विश्वमानसं मोहयति  
स्तम्भयति रमयति च सा किलानन्तवसुपर्वतारामनदीचैत्य-  
ग्रामसंधारिणी दन्तुरादिजन्तुसंवहविग्रहा सर्वसौख्यसंप्रोद्धा  
विमलाम्बरचुम्बितमहामहिममहिममौलिविलसिताशेषतुषार-  
सारसञ्चयमुकुटा घनच्छदमहीरुहमेदुरदूरदूरान्तरकुसुमसुसुमा-  
यितकाननश्यामलदीर्घकुन्तला, वज्जोजस्यशृङ्गदोलन् मन्दाकिनी-  
शक्तिमौक्तिकदामविलोला, स्वर्णसाम्यश्यामाकहरितायितामल-  
दुकूलजघनच्छदसङ्कुला, नीलजलधिजलधौताङ्घ्रियुगला, काक-  
लितकोकिलबलाकाबर्हिङ्कुलप्रखरसुखरदिगन्ता, वरण्यार्थ-  
पूज्यान्यस्तसमस्तशर्मकर्मसुख्या, सततविततजीवजीवनधारण-  
कारणशस्यसुसुमायिताख्या, अगण्यपुण्यार्थतीर्थसत्तमपत्तनशत-  
शोऽवकीर्णा, ऋतुषट्कपर्यायितवर्थभोगसाधना, महामहीयसौ-  
मान्यमनःप्रेयसौ मदीयं भारतीय वन्दनीया पुण्या भूमिः ।

अस्यामेव हि भुवनतपनप्रथममयूखसुखरितप्राचकाष्ठाः विश्व-  
प्रेष्टाः वेदाः प्रचारिता जाताः । ते हि कदा कथं किमर्थं वा कैः  
निरमायिषतेति संशयदोलायां दोदुल्यमाना विशालदृशो विच-  
क्षणाः अद्याप्यनाप्तावधयो बहुधासन्त्यन्ते । प्रज्ञायन्ते च वेदाः  
श्रुतिस्मृतिपरम्परया स्वयमेव परमेष्ठिचतुर्मुखपङ्कजविनिर्गताः ।

तथाहि—“स तपोऽतप्यत तस्मात् तपस्तेपनात् त्रयो वेदाः  
अजायन्त” इत्यादि । परं सांख्यवेदान्तप्रमुखदर्शनशास्त्रप्रणेतारो  
महर्षयोऽप्यलोकसामान्येनैव प्रज्ञावलेनैषां पर्यन्तभूमिं नाधिरो-  
हन्तोऽन्तःपातिना पौरुषेणार्पेण चक्षुषा प्रत्यक्षीकुर्वन्तोऽपौरुषे-  
याणि हि वेदवाक्यानीति प्राहुः । तथा हि—“गुरुमुखादनुश्रूयत  
इत्यनुश्रवो वेदः, एतदुक्तं भवति श्रूयत एव परं न केनापि  
क्रियत इति ।” “न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्” इति  
सांख्यसूत्रम् । अपास्तु तदत्यतीता वेदविषयिनी गुरुका कथा,  
अत्यतिक्ता गुर्वी गवेषणा च ; यद् रामायणमहाभारतयोः  
साम्यभावपूर्णम् अत्युदारोपदेशसद्भावसम्भवं लौकिकालौकिक-  
सर्वविषयसम्बलितमहाकाव्यस्य जगतां न कुत्रापि सद्भावः  
समवगम्यते श्रूयते च न घुणाक्षरन्यायेनापि कदाचित् । अपि  
च भवभूतिकालिदासयोस्तुल्यः कोऽपि वा महाकविः जननमभि-  
लभ्यात्मनोजातभूमिं परकीयदेशञ्च काव्यरसपीयूषधारया  
समभ्यषिञ्चयत् प्रोणयञ्च हालिकजनमानसमपि सातिमाचम् ।  
परं कैः कैरेवमेवमालोच्यते यत् “यूरोपीयसेक्सपियरकवेः  
कवित्वं कालिदासकवित्वस्यानुरूपम् ।”

किन्तु निरङ्कुशया दृशा तद्वाचयितृणां वाचि पर्यालोचिता-  
यामेवमेवमवलोक्यते यत् कविकालिदासस्य भावः कवित्वं रचना-  
चातुर्यञ्च तत् यूरोपीयकविकुलकुलपतेः सेक्सपियरस्य भावा-  
दितः कवित्वसौन्दर्येण पदयोजनमहिम्ना प्रसादमाधुर्यादिगुण-  
सद्भावसहस्रेण च सर्वत एव उन्नततरम् अत्युच्चकाव्यमभ्यत्



परिपूरितञ्च । तेनैव च प्रतीच्यभूभागमात्रेषु काव्यान्धेतानि  
 किमुत ज्ञानविज्ञानाशेषग्रन्थान् प्रति सातिशयादरः, प्रवला च  
 अद्वा, गभोरा हि भक्तिरचलैवानुरक्तिः समवलोक्यते प्रज्ञावताम् ।  
 परमिह भूगोल-खगोलादिविषये यादृशीं प्रतिभां प्रस्फुरन्तः  
 वराहमिहिरब्रह्मगुप्तार्थभट्ट-भास्कराचार्यप्रमुखाः मनोषिणः तद-  
 तीव विश्लेषकरं कौतुकावहञ्च जगताम् । तेषान्तु सन्दिष्टं  
 ज्योतिस्त्वमतिक्रम्य नाद्यापि केचन सभ्याः समशङ्कवन् शोभनं  
 नवीनतरं वा तत्तथ्यमाविष्कर्तुम् । अपि च मन्यन्ते तावदनेके  
 यत् पुरा पृथ्वीं त्रिकोणां सर्पादिप्राणिपृष्ठावस्थितां परितः एव  
 प्रभाकरः परिवभ्राम इति प्राचीनार्थ्याणामतम् । तच्चातिहेया,  
 परिच्छिन्ना, लवमात्रा च धारणेति सर्वथा वक्तुमुपयुज्यते । यतो  
 गोलाध्याये भास्कराचार्येणोक्तम् :—“सर्वतः पर्वतारामग्राम-  
 चैत्यवलेखितः । कदम्बकुसुमग्रन्थिः केशरप्रसरैरिव ॥” अपि च—  
 “नान्याधारं स्वशक्त्या वियति च नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे ।  
 निष्ठं विश्वञ्च शश्वत् सदनुजमनुजादित्यदेतं समन्तात् ॥” इति

आर्यभटेनाप्युक्तम् :—“भूपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्त्यावृत्त्य-  
 प्रतिदैवसिकौ उदयास्तमयौ सम्पादयति नक्षत्रग्रहाणाम् ।”  
 किञ्च :—“चला पृथ्वी स्थिरा भाति” इत्यादि ।

आर्यभट्टो भास्कराचार्यश्च नाम पाश्चात्यज्योतिर्विदाचार्या-  
 कोपनिस् महोदयात् बहुपूर्वमेव जननमभिलभ्य भुवो गतिं  
 माध्याकर्षणशक्तिञ्च समनुज्ञाय यथाहतुः स्म—“आकृष्टशक्तिश्च  
 मही यत् तथा प्रक्षिप्यते तत्तया धार्यते” एवमपि च यैव

निखिलाङ्गशास्त्राणां मूलरूपा दशगुणोत्तराङ्गगणनाप्रणाली सा तु भारतीयमहर्षिचरणाराधितेभ्यः आरवोदेभ्यः पाश्चात्त्यैः सभ्यैरधितपूर्वा । उक्तञ्च आरवोयग्रन्थे :—“होक्मा अल् हिन्दु” भावार्थस्तावदस्य यद् भारतीयविद्वद्भ्योऽधीतवन्तो वयमङ्गशास्त्रमिति ।

अन्यच्च नाम भारतं यदा ज्ञानविज्ञानादिविविधविषय-सूक्ष्मातिसूक्ष्मविचारणया दिशा दिग्देशमुद्गापयति, सभ्यान् स्तम्भयति, जगदालोडयति, तदा तावदनेके नाम देशीयाः का कथा शास्त्रचर्चायाम् ? स्वकीयाह्वार्याणामुत परिच्छेदादीनाञ्च मंग्यहेऽपि मत्तवालिशाः किं वानभिज्ञा नग्नबालकप्राया इव जाताः । परमपि यत् यूरोपीयदर्शनशास्त्राणां भित्तिस्थानं ग्रीकदर्शनम् ; तत्तु कपिलादिमहर्षिसमुपदिष्टानां तत्त्वपदार्थ-प्रतिविम्बमन्तरा नान्यत् वक्तुमुपयुज्यते । पिथागोरस्प्रभृतयोऽपि ये नाम ग्रीकदार्शनिकाः ते हि भारतभ्रमणाय समागच्छन्ति प्रमाणमनेकत्र समालभ्यते । नितरां भारतीयैर्भ्यस्तद्दर्शन-वोजं गृहीतं किं न वेति के नाम सन्ति प्रमाणेनावगमयितुम् ?

परन्तु यत् यूरोपीयचिकित्साविज्ञानफलमस्माभिः स्ततः परतो वा नक्तं दिवसमुपभुज्य विस्मोयते प्रसंख्यते च सहस्ररसनया तत्शास्त्रम् फलञ्च । तत्तु आरवोदेभ्योऽधीतवन्तस्त इति चिरप्रसिद्धिः ; स्त्रीकुर्वन्ति च मुक्तकण्ठं प्रायश एव महा-नुभवा विद्वद्दरिद्राः इदानीमपि तथा, किन्तु आरव्याः तत्शास्त्रं भारतीयैर्भ्यः समवच्छन्निति जनश्रुतिः परं प्रमाणञ्च सुलभतरं

तेषां चिकित्साग्रन्थे भारतभैषज्यानां त्रिफलाहरोतकौप्रभृति-  
द्रव्यानां नामसङ्गावं बाहुल्येन समीक्ष्य समुपेकल्पितुम् ।

किञ्च—“विषस्य विषमौषधम्” इति यत् कविजनसुभा-  
षितम्, तत् प्रवर्तमानस्य होमिश्रोण्याथनामकचिकित्सा-  
विज्ञानस्य मूलतत्त्वम् । परमेतद्वचनञ्चापि आम्बूलं कस्मिंश्चित्  
ग्रामाणिके तच्चिकित्साग्रन्थे समुल्लेखदर्शनात् सैव प्रणाली च  
भारतीयानां ज्ञातपूर्व्वेति सर्व्वतः प्रतिपद्यते । अन्यच्च-  
“अपस्वन्तरमसृतम् अप्सु लेषजम्” इति ऋगृगृचा बहुशर-  
दूहंऽपि सलिलचिकित्सात्र प्रचलिता, सर्व्वत्रैव सुसमादृतेति  
स्फुटमनुमातुं शक्यते ।

एवञ्च दृश्यते तावत् स्वकीये परकीये च प्राचीनसाहित्येति-  
हासग्रन्थे यत् पुरा पोताश्रयेण पण्यर्थं वारिधिवारि-समुत्तीर्य्य  
दिग्देशगमनमुत सम्परायेण परकीयदेशविजञ्च भारतीयानां  
बाहुल्येन वर्णितम् । नितरां वक्तुमुपयुज्यते ते हि प्राचीनार्थान्  
न केवलं शास्त्रपारमिताः स्वभुजवोर्य्येण तु परकीयभूमिमपि  
विजित्वात्मप्रतिष्ठाभातन्वन्नतिमात्रम् । रघुवंशे रघोः पारस्य-  
स्थानम् ; राजतरङ्गिण्यां काश्मीरभूपतेर्ललितादित्यस्य भुङ्-  
खारा-( वोखारा )वाह्नीक-( वाल्ख )-तुरस्क-( तुर्कस्थान )  
प्रभृति प्रदेशानां विजयप्रसङ्गं समुपश्रूत्य सर्व्वथैतत् सिद्धान्तं  
मतं स्वीकरणीयं सभ्यानाम् । एवं नाम सुमात्रा-यावा-वालि-  
सुखतर-( सकोद्रा ) प्रभृतिषु द्वीपपुञ्जेषु इदानीमपि सनातन-  
धर्मिणामुपनिवेशनिदर्शनमवेक्ष्य वक्तुमुपयुज्यते यत् पुरा ब्राहि-

ज्यार्थं धर्मप्रचारार्थं वा तैस्तं तं देशं समेत्य उपनिवेशः स्थापितः । यावाद्द्वीपे तु सम्प्रति यदि च माह्वान्मदीयो धर्मो बाहुल्येन वर्तते, तथापि तत्रावलोक्यन्ते दिशताधिकाः देवमन्दिरा अतौ-  
तार्थ्यगौरवमुद्घोषात्मनः स्थितिमातन्वन्त्यतिमात्रम् । तत्रत्ये  
तु देवमठके धातु-पाषाणविनिर्मिताः शिव-दुर्गा-गणेश-सूर्य-  
प्रभृतिदेवविग्रहाः सुप्रतिष्ठिताः सन्ति । परं तांस्तानद्यापि देव-  
विग्रहान् वैधर्मिकाः समभ्यर्चयन्ति सातिशयां भक्तिमभिवर्षयन्ति  
च तराम् । वालिद्वीपे संग्रत्यपि च यद्वर्माः प्रचलितः तं तु सना-  
तनार्थ्यधर्ममन्तरा नान्यत् वक्तुमुपयुज्यते । तत्र ब्राह्मण-क्षत्रिय-  
वैश्य-शूद्राः इति मौलिकवर्णचतुष्टयाः प्राधान्येन निवसन्ति ।  
तेषु च ब्राह्मणाः इदानीमपि आमिषमन्तरा केवलं यव-तण्डुल-  
फलमूलाशनैरेव जीवयात्रां निर्व्वहयन्ति ।

एवं तत्र शवदाहरीतिः सहमरणप्रथा च प्रचलिता स्त्रीणाम् ।  
वर्तते चापि नीति-रामायणाञ्जुनविजयागम-देवागम-सत्त्वागम-  
प्रभृतौनां ग्रन्थानां पठनप्राठनम्, शार्दूलविक्रीडित-वसन्ततिल-  
कादिसंस्कृतकृन्दर्पा पद्ये प्रचलनञ्च बाहुल्येन । ऐतिह्यञ्च यावा-  
वालिद्वीपवासिजनसमाजेषु यत् भारतीयकलिङ्गप्रदेशदेव ते  
तत् द्वीपं समेत्य निवसन्तीति ।

अन्यञ्च यत् प्रसिद्धं लङ्कानाम् द्वीपं तद्भारतवर्षस्याति-  
सन्निकृष्टम् । तत्र च बहुलशरदारभ्य एव भारतीयानां गमना-  
गमनमवस्थितिस्तस्य विजयवार्त्ता च संश्रूयते । यत् पुरा अयो-  
ध्याधिपतिः रामचन्द्रस्तत्राधिवसन्तं भीषणानुशासनं दशाननं

निहत्य स्थलमेतद्विजयमकार्षीत् । तदनन्तरञ्च बौद्धधर्मप्रचारार्थं राजराजेश्वरो महामहिमाशोको नाम राजा स्वमात्मज-  
मात्मजाञ्च तत्प्रदेशं प्राहिनोत् । ततोऽपि बहुलतिथावचिते  
गौरीयराजतनुजो विजयसिंहो भ्रातुष्ववपाण्डवासेन सह तत्  
स्थलीं समेत्य स्वभुजवैर्येण भूपतिं पराजित्य लोकान् प्रशास ।  
ततःप्रभृति लङ्काद्वीपस्य सिंहगोष्ठौशाशिततया सिंहलं नाम  
समुपपन्नम् । परतो नूनं तत्र श्रीमन्तादिश्रेष्ठिजनानां बाणि-  
ज्यार्थं तत्रोपस्थितिवार्त्तया च मामकभाषितानां सर्वथावितथत्वं  
सम्यक् प्रतिपद्यते ।

किञ्च श्रूयते प्राक् भारतभूपालाः रोमौयराजपरिषदि स्त्रोय-  
शन्देशहरं संप्रेष्य तत्रत्यं तत्त्वमवगच्छन् । परं खुष्टौयप्रथम-  
शकमिते फलितज्योतिर्विदस्तत्रोषित्वा शुभमशुभं वा भाग्यफलं  
वर्षफलमुत अन्यत् किमपि वा ज्योतिस्तत्वं निर्द्धार्य प्रतिष्ठां  
समादधिर । अपरतः खुष्टजन्मनो द्वित्रेऽपि शतवर्षोर्द्धं अत्रत्यानां  
श्रेष्ठिनां दीगुच्याऽऽक्रिकादेशस्य-कार्येजप्रदेशे गमनागमनवार्त्ता  
संस्थितिश्चाप्यवगम्यते ।

खुष्टजन्मनः एकपञ्चाशदधिकद्विशतवर्षोर्द्धं (२५१) सिसिलि-  
द्वीपप्रदेशे रोमकाधिपेन सह हासद्रुवालनामधेयस्य कार्येज-  
सेनापतेरतिदारुणे संप्रवर्त्तमाने सम्यराये रोमौयैः प्रतिपन्नवलानां  
कार्येजौथानां बहवो भारतीयसंग्रामकुशलाः हुञ्जराः निजायत्ती-  
क्षताः । परम् आसञ्च तेषां हस्तिपकाः भारतवर्षीयाः सर्वे एवेति ।  
अन्यत् केचन लोनसुनाक्का मिसरदेशीयकविनोक्तं स्मरन्ति

काव्ये, यत् भारतीयानामणवपारापारविषये परं प्राविण्यमुत जलयुद्धे च सकलेभ्योऽप्यधिका शक्तिर्महानैपुण्यञ्च समवलोक्यते ।

उड्डलसन् महोदयेनापि स्वरचिते पुरावृत्ते परिकल्पितम् ; यत् खृष्टप्रथमशकसिते आरवीयाणां भारतवर्षीयाणाञ्च नाविकानां मिसरप्रदेशगमनागमनवार्त्ता प्रमाणञ्चानेकत्र भूरिश एवोपलब्धते । परं तस्मादपि पूर्वतने काले प्राच्याफ्रिकापादावस्थितं सकोद्राक्षीणमधिवसन्तो भारतीयाः स्वकीयाधिकारं हतस्त्रदेशं व्यावर्त्तयन्त इति । अपि च खृष्टपूर्वपष्ठौतमे वर्षे (६०) सिन्दुवहिवमारुह्य कतिशः सनातनधर्मावलम्बिनो बणिजः जम्बेणोदधिसुपगताः । तत्र च दैवगत्या ऋटितयानतया वेलाभूमिमवलम्बितान् तान् सुवेरियाधिपतिः रोमकराजप्रतिनिधिं प्राहिणोदित्युदन्तमन्त्राभिरुपलभ्यते । एवं प्रवृत्तत्त्वविशेषज्ञेन राजेन्द्रलालमित्रमहोदयेन च प्रमाणितमेकदा बौद्धधर्म आसमग्रनरओयप्रदेशे प्रचारः आसीत् । परं यूरोपदेशस्य च बहुतरं प्रदेशं रुद्रोपासना प्रचलिता जाता, रटल्याण्ड-रटर्डीम-राटिस्वन् प्रभृतिजनपटानामौदयनामेव तस्याः प्रकृष्टं प्रमाणम् । एवमासीञ्च पुरा स्कटलण्डस्य हाइल्याण्डप्रदेशे काचित् क्रिया या प्लञ्जलङ्गताग्ने नवनोतं गोधूमादिशस्यञ्च विनि.चिप्य “मां धनं देहि” “मामश्वं देहि” इत्यादि विदोक्तहोममन्त्रेणाग्निं तपयन्ति लोकाः । अतएव तथा सर्वथा प्रतिपन्नोऽस्ति ; जातु नित वेदधर्म एव प्रचलित आसीत् । परमशोकप्रहितग्रमणकानां चीने जापानप्रदेशे च गमनागमनवार्त्ता बहुधोपलभ्यते ;

किन्तु ततोऽपि ऊर्द्धतने काले महर्षीणां तत्र गमनमाचारशिक्षा चापि श्रूयते । नीलतन्त्रे वसिष्ठदेवस्य चीनाचारशिक्तार्थं चीनदेश-गमनम् । देवर्षिर्नारदस्य श्वेतद्वोपाभिधानमित्यादि बहुषु ग्रन्थेषु विदेशप्रयाणमार्थाणामुपलभ्यते । क्षुद्रतमेऽस्मिन् निबन्धे तेषां दिग्दर्शनमेव समवतारितं विस्तरभयात् ।

अपि नाम कलस्वसे संप्रति यद् अमेरिका नाम महादेशवि-ष्कर्तृत्वमारोप्य परमगौरवकुसुमदृष्टिमभिवर्षन्ति पाश्चात्त्यसभ्याः, तत् पयोधिपरिवेष्टितभूमिखण्डं तस्माच्च बहुशरदूर्ध्वेऽपि ज्ञात-मासीदार्थाणामवगम्यते । यतो हि दृश्यते तावत् प्रवर्तमाने कालेऽपि तद्देशान्तःपातिपिकनामकजनपदमधिवसन्तो भूपतयः आत्मानं स्वगोत्रञ्च सूर्यवंशौयत्वेन व्यपदिशन्ति । एवञ्चापि वर्तते तेषां भूभृतां प्रधानमहोक्तवक्तार्यं “रामसीतोया” नाम क्रम् । तत् रामसीताञ्चनं विना नान्यद् वक्तुं सङ्गच्छते । केवलं देशभेदेन तस्य यत् किञ्चिद्विज्ञतिमात्रमन्तरेति । एवमपि सम-वलोक्यते पुरा कतिशो बौद्धग्रन्थकाः स्वधर्ममतप्रचारार्थं वर्तमानसकलजनपदवैभवसुख्यतममामेरिकाभूप्रदेशमभिययुरिति कस्मिंश्चन चैनिकग्रन्थे लिखितमस्ति । सुतरां ज्ञातपूर्वा अमे-रिका भारतीयानां सर्व्वथोपपत्तिः, परमेवंविधस्य बहुशो दृष्टान्तस्य नानाविषये नासङ्गावोऽवलोक्यते स्वकीये परकीये वा पुरावृत्त-सम्बलिते ग्रन्थे ।

संचेपतस्तु स्थूलैर्न सूक्ष्मेण वा दृशा रसायनज्ञाने संगोते स्थापत्ये कलाज्ञाने भास्कर्ये परस्मिंश्च क्वापि विद्याविषये वा

यत्र यत्रैव लोचनवीक्षणं संपतति तत्र तत्रैवातीततमानामार्थ्या-  
णाममानुष्यं नैपुण्यमतुलनीया शक्तिरप्रतिहन्तो प्रतिभा च सम-  
वलीक्यते । किन्तु कष्टं भोः कष्टम् । “ते हि नो दिवसा गताः”  
अस्माकं तानि दिनानि गतानि, भूय एव समेप्यन्तीति कल्पनामपि  
प्रवर्तमाने जगति कल्पयितुं कोटिका बाधा निराधारा होनता  
च सहस्रमूर्त्या बाधयति स्थगयति दूनोति च मदौयमिदं हृदय-  
चेत्यम् । नूनं तादृशान्वयसम्भवित्वेनात्मानं परिचाययितुमधुना  
सर्वथायोग्याः खलु भारतीयाः । नूनं न ज्ञायते कदा कर्हि  
विज्ञानिन्यन्ता तेभ्यः पूर्वाधिकारपर्यन्तभूमिं प्रत्यर्पयिष्यतीति  
कृतमधिकवचसा ।

“जननौ जन्मभूमिश्च सर्गादपि गरौयसौ ।”

हंहो । सामाजिकाः, अधि प्रियपाठकाः, सुकुमाराः कुमा-  
राश्च, संविजानन्तो भवन्तः समग्रेऽग्निं संसारि, प्रोन्नतमानव-  
ममाजे, निरुद्धजनमध्ये च यन्मूर्तिमतौस्तेद्वरूपायाः कारुण्य-  
कुसुमस्तवकितान्तरङ्गकल्पवल्लीप्रच्छाद्यशोतलाङ्गायाः जनन्याः  
मर्व्वेभ्योऽपि समधिकशान्तिस्तौख्यनिधानतया सर्वातिशयित-  
मनोहारितया च निरतिशयितं गरिष्ठं सर्व्वसुखस्थलञ्च न वर्तते  
तदन्यत् किञ्चनात्र जगति ।

अहो रे ! तस्याः परिमलपीयूषप्रतिमवज्जीवरसपानविमली-  
कृतप्रफुल्लमानसाः निखिलज्ञानविज्ञानाटवौसश्चरन्तः सन्तः प्राज्ञ-



सुख्याः किमु पांशूपबद्धकरचरणाः, वर्णस्वरूपाविजानन्तो नितान्तमन्दमतयो वालिशधमाः, अथवारस्थानोविचरन्तो गिरिगुहाश्रयाः पशुपक्षिणोराममांसमात्रमश्नन्तो वन्यवराहसहचराः शश्वद्विकत्यनचयचर्चितचित्तप्रदेशाः मनुजनाममात्रविगृह्णन्तो वर्वराशापि वाढमेव तामनन्यसामान्यामपूर्ववस्तु संविज्ञाय सर्वान्तःकरणेन भृशमभिनन्दयन्ति, अर्चयन्ति च तत्पूतप्रतिमामनन्यसाधारणीं कारुण्यभूमिं मत्वा स्मृत्वा प्रत्यक्षोक्तत्वा च प्रतिक्षणे प्रतिपदे प्रतिकार्यं च सम्यक् ।

हन्त ! तस्याः स्नेहाद्रमूर्त्तिपरिकल्पनेन मन्दाकिनौवारिधाराप्लुतप्रदेशस्थलौव सततं पवित्रोयते सुखायते च सकलदुःखदैन्यैर्मथितञ्चापि द्राक् तनयानां तनुजानाञ्च हृदयतलम् । अपि हि तया तनयतनुजानां सुखे वा दुःखे वा नितान्तदुर्गतदशायां वा कायच्छायेव संख्यायात्मसुख भोग्यं भुज्यञ्च चिरमुपहारौक्यते वरिष्ठस्य लेशस्य सुकठोरे कर्कशे करे ।

परं किं नाल तस्याः सूतवास्तव्यम् ? का नाम वा परा सन्तानार्थपरता, महञ्चापि च कष्टम् ? दृश्यते हि लोके निकृष्टप्राणिमध्ये च आगर्भग्रहणात् प्रसवपर्यन्तं भ्रणार्थं जननो संसहते पुंसोऽननुभवनीयां दुर्विसहां महतीमपि च यातनाम् । जाते च बाले तस्य परिरक्षणे, प्रतिपालने, सुशिक्षायां वा कति कतिशः कायक्लेशाः, कति वा भावनाः ? परं दृष्ट्या प्रमादिते गर्भे बाले वा तस्या वेदनायाः नास्ति पारं नास्ति वा तुलना अवधिर्वा भुवि किञ्चन दृष्टान्तस्थलम् ।

हा हा ॥ देवाद यदा रोगाभिभूतस्य विकलाङ्गस्य नष्ट-  
चित्तस्य चिररुग्णस्यापि वा तनुजस्थान्तिकं तत्पतलं वा सन्ततं  
नंस्थाय सुरभिजधौरसमिराकम्पितनवद्वुसप्रवालोपमैरिवाग्र-  
हस्तैः प्रत्यङ्गं संसार्जयन्तो रावोपराधं सर्वयन्तौ सरलान्तःकरणा  
केयं सा गलदशुप्रवाहमुखो धरातलमभिसंसिञ्चयानन्यचेतसा  
भगवन्तं नत्वा दिवं तच्चरणारविन्दप्रसादककणाकणा प्रार्थयति  
सूतिमन्तरा सूताये काचिदपरात्र जगति ? अतएवाहतुः—

“मातरं पितरञ्चैव साक्षात्प्रत्यक्षदेवताम् ।

सदा गृही निषेदेत सर्वकालमतन्वितः ॥

पृथिव्यां गुरतरा माता गगनादुच्चतरं पिता ।

दृष्ट्वास्तवतरो भिक्षुर्वाताये चलति मनः ॥” इति

एवंविधानां जननीनामपि जननीजन्मभूमिर्जातमात्रमपि सूतं  
प्रसूतितोऽप्यग्रे व्यग्रहस्तौ प्रसार्यान्वेषासलक्षितेन स्वैरं स्वैरं  
स्वीयवक्षसि सन्निधाय प्राणधारणोपकरणं निःश्वासप्रश्वासादि-  
विविधवस्तुजातं समर्प्य तेन सह सर्वाग्रे सखन्वं स्थापयति परि-  
रक्षति च सा क्रमशो भुञ्ज्यभोग्यादिदानेन दशातो दशान्तरे  
जातम् । परं सद्यः समुद्भवस्य तस्य यज्जननीस्तन्यरस एव  
जीवनधारणप्रधानकारणतया विनिर्दिष्टोऽभूत्, तस्यापि च  
भूमिरेव सर्वप्रधानो हेतुरित्यवगम्य मन्दासहं नासीत् पृथिव्यां  
तदधिका कापि प्राणिपक्षे प्रीतिप्रफुल्लसाच्छन्यसूतिरन्यस्य  
काचिदपरात्र जगति । अतएव किञ्चिदुद्धानोन्मात्रोन्नेषि-  
तानां मनुजानां कायवाङ्मनोभिः सैव सर्वथा संसेव्या, संरक्ष-

णीया, संभूषणीया चात्मशक्त्यनुरूपया चेष्टयेति कः सन्देहस्य  
प्रश्नयस्तत्र मनाक् ।

नूनमिह यत् स्वर्गो नाम श्रूयते, स हि सुखसाधनस्यान्य-  
तरादन्यो वस्तु नेति श्रुतिस्मृतिप्रमुखाप्तवाक्यैः सुसमाहितं, नितरां  
तदेकान्तान्वेषणपरैः सबहुमानं नानादिशा प्रपञ्चीयते स्वर्गाधि-  
गमनाय सुमहती प्रचेष्टा । केचिदिन्द्रियादिविनिग्रहणकर्मभि-  
र्दुष्करस्तपोऽनुष्ठानैश्च, केचन दानादिसत्कार्यनिवहैः परोप-  
कारैश्च, अन्येऽपि च अगणितगणनोपायैर्नाकसुखसम्भोगाय  
सर्वथा समीहन्ते, किन्तु तेनैव विगणयन्ति विग्रह-निग्रहकान्  
हिम-मारुत मार्त्तण्डकरादिक्लेशसमूहान् कथं कथमप्यत्र  
जगति । परिशेषे प्रयान्ति हि सहस्रशो गुरुकठोरप्रत्यूहानति-  
क्रम्यासाधारणक्लेशपरम्परयामरौजननिषेवितां वैजयन्तीनाम  
पुरीम् ।

परं हि यस्याः सहजलभ्यप्रभूतप्रसादपारिपाक्यतया सर्व्वत्रा-  
प्रतिहंतप्रेमप्रसरतया निरवद्यपरमहृदयानन्दसम्बिधानेन च  
वाङ्मनसोरप्यगात्ररा शान्तिसंविधायिनी स्वसूतानामशेषसौख्य-  
परम्परायै गृहीतातुलस्नेहराशिर्मातेयं जन्मभूः स्वर्गतोऽप्यति-  
रिच्यते । यतो महतोऽपि महीयस्याः स्नेहकल्पवत्याः शस्यौ-  
षधिभेषजाद्यैः परिपोषिताः परं दिगन्तप्रसारितसौरभप्रसून-  
निकरैः प्रसाधिताः, मलयजोशीरकर्पूरकस्तूरिकादिभिर्गन्ध-  
सम्भूतवस्तुसम्भारैः सुवासिताश्च ; परमेवमेवंविधया परिपोषिताः  
सन्तः सन्तानसमूहाः कमनीयकान्तिसुसमृद्धं कायमासरणमेवा-

दधति, परिपुष्पन्ति च नानोपचारैः सन्ततम् । नितरामेना-  
मन्तरा क्षणभङ्गरेऽस्मिन्नवनीतले न तावदेकास्ति वितरितुमुत्-  
सहते अनाकाङ्क्षितामनन्यसाधारणीं सुमहतीं करुणाधाराम् ।  
केवलं मातैव वसुन्धरा तनयैर्भृशं विप्रकृतापि परं कारुण्य-  
मानसाजीवनं तेषां कल्याणाय सम्पत्तये च समीहते संयतते  
संसहते च सर्वविधामपि दुःसहयातनाम् ।

अपि योक्ता प्रसूतेरपि प्रसूतिर्जन्मभूः सा सुखे वा दुःखे वा  
सम्पत्तौ विपत्तौ वा परं मातृगर्भावस्थितवेलायां वा तद्देहमेव  
द्वारौकृत्य सर्वतः परिरक्षति जीवयति वर्धयति च नूनमेव  
जन्तून् । श्रुतं तावत् शान्तशसने यद् दुश्चरस्तपश्चारिणाश्चर्ये-  
णामरपुरप्रवेशिनामपि पुनः पुण्यक्षयान्मर्त्यलोकाभिगमनं  
निर्दिष्टं विधानं वा विधातुर्यथा :—“चौणे पुण्ये मर्त्यलोकं  
विशन्ति” इति । समवलोक्यते च भारतं नहुषो नाम सोमात्  
क्रमपर्यायिणोत्पन्नः कश्चन नरपतिर्दुष्कारेण तपसा स्वाराज्य-  
समिलभ्य चोणपुण्यात् पुनर्धरणीमेत्य पद्मगयोनिमवाप ।

एवं हि लोकेऽस्मिन् ये तावन्मन्दमतयः पापानुशीलनोत्-  
सुकाः मन्त्रपातकपद्मैरालिप्तकर-चरण-कायाः ते चापि प्रति-  
क्षणं प्रतिपटमेव स्नेहकल्पलतिकाया जन्मभूमेरशेषप्रसादमभि-  
लभ्य निरतिशयं शान्तिसुखं परमाद्यापि प्रोनिमुपभुञ्जते सन्त-  
तम् । एवं श्रूयते तावदास्तिक्यवादिनः प्रमुखात् द्युलोका-  
भिगमनं तस्य निरामयशान्तिसुखञ्चातिकठोराभिस्तपस्याभि-  
रालभ्यं, किन्तु जन्मभूमिस्नेहसम्भोगशान्तिसुधा पुनः सर्वथा

सर्वजनानां समानाधिगम्या प्राप्या च । दृश्यते सर्वत्राविषम-  
दृष्टिश्चापि तस्याः भृशं विलसतितरां जीवजगति । एवमपि  
नाम नहि तावदेवंविधाः केचन सन्ति जन्तुपदवाच्याः यान्  
प्रति कदा कश्चिन्नपि न खलु कथं कथमपि निपतिता जन्म-  
भूमेरपारा स्नेहदृष्टिः । सुरस्थानं तावत् सर्वातिरिक्तमाहात्म्यै-  
र्यतिब्रह्मचारिस्नातकादिभिर्निरन्तरमाराध्यापि भगवन्तत्पनेकत्र  
नोपलभ्यते, किन्तु सर्वदेयं महीयसौ मही ज्ञानतोऽज्ञानतो वा  
सन्तानान् प्रत्यभिवर्षति निरर्गलाः सुपुष्कलाः करुणवृष्टिधाराः ।

इत्यमित्यमेव दिशा यथार्थं विचार्यताम् आर्य्यवर्य्यैः विच-  
क्षणेयं यत् स्वर्गापेक्षया जन्मस्थल्याः कीदृशं गुरुत्वं कीदृशी  
वापूर्व्वाकर्षणशक्तित्वाः विलशति तराम् । यच्च दूरे दूरतरे  
वा राजैश्वर्यभोगनिरतान् किमु पुष्कलविलासोपकरणसुपभुज-  
मानान् विलासिजनप्रधानानपि मनुजान् जाङ्गलिकातिनिहृष्ट-  
स्थानमाहात्म्या विरलपथादिदुर्गता पक्षीभ्यस्तौ तान् तानेव  
प्रसभमाकर्षितुमपि समवलोक्षते । ह्येनप्राणिसध्ये च दृश्यते  
पशुपक्षिप्रभृतयो जीवाः स्वाहारार्थं सुदूरं व्रजन्ति जठरं प्रपूर्य्य  
सौत्सुक्येनात्मावासं प्रति रंहसोपसर्पन्ति, रक्षन्ति च तत् विल-  
दुर्गं नोडं वा विपक्षेभ्यो यथोचितचेष्टयात्र जगति ।

अहो ! किमद्भुतजीवहृदयाकर्षणकारिषु वस्तुनिवहेषु जन्म-  
भूमिरिति नाम भूमिखण्डम् । अतमवगतञ्च भूविवरणात्  
यत्नेरुसखण्डलोपगत-ल्याप्ल्याखण्डनामके देशे मासषट्कमेव  
सूर्य्यस्तत्र समुदेति परार्द्धाद्यापि मासान् मेरुत्विषैव ( Polar-

light) प्रदीप्ता तद्वत्या तुषारोपचिता हिमोषरानिर्वचनीया भूमिः । यदि चेयमप्रचुरालोकसद्भावतया पादपपदवौहीन-  
तया शस्यादिशून्यतया च मादृशानां दृशदि सा आवासाननु-  
पयुक्ता सर्वथा प्रतिभाति, तथापि एस्किमोनामधेयाः कतिशो  
मानवाः सानन्दं तामधिवमन्ति । आमोदाह्लादानिना क्रोडा-  
कौतुकेन च संसारयात्रां संवाहयन्ति, शीलादिसामुद्रिकजीव-  
मांशेः स्त्रोदरं प्रपूर्य अक्षदादिवत् विचरन्ति, सर्वे निर्वाहयन्ति  
च सुखेन । परमेवमभीक्ष्य जन्मभूमितया तेषां तत्रावासा-  
मत्तेः कारणं मिति प्रतिपद्यते । अतः सर्वथैव धन्या जन्मभूमिः,  
धन्या ते च निरुपमा मौम्या सूर्तिः ॥ या प्रत्यक्षशरीरं परिगृह्य  
सर्वानिव जन्तुनुचयति, समाकर्षति, तिभ्यः समर्पयति च स्वर्गा-  
धिकावाससोख्यमत्र जगति ।

नूनं स्फुटतः प्रतिभाति यस्मिन्नेव जन्म परिगृह्य यद्देशजै-  
र्मर्त्यैः प्राणान् धृत्वा जन्तवो जीवन्ति, विश्ववैचित्रं तस्मीक्षन्ते  
ज्ञानविज्ञानानामनुशीलनञ्च विदधति मनोरथानमतं सामग्रो-  
चयमूर्ध्वपुरुषचरणरज्ज्वर समुपलभ्यन्ते, सा सर्वेभ्योऽप्यधिकेति  
पुनर्न कैरेवाद्भीक्ष्णेत सभ्यसुख्यैः वर्णज्ञानविद्वेनेरपि वा मनुजै-  
रिति संविभाव्य महानुभवेरुद्गीतम् :—“जननी जन्मभूमिश्च  
स्वर्गादपि गरीयसी” इति ।

एवं श्रूयते समवलोक्यते च इतिहासस्य पृष्ठातः पृष्ठान्तरे  
यच्चात्मजन्मस्थलीपरिरक्षणे बहुशः क्षणदौराः वीरमर्यादासनति-  
क्रम्य सुरपुरमुपाययुः । साम्प्रतमपि यूरुपस्वर्गं कति कति

योद्धारः स्वदेशार्थं त्यक्त्वा सन् जगति शुभ्रं यशो वितेजिरे । परं दीर्घदिनादारभ्य यदि च भारतादन्तर्हितपूर्वा सेयं स्वदेशवत्सलता, तथापि वर्तमाने कतिशः कृतिवङ्गौयाः युवानः अन्ये चापि च भारतीयाः बहवः स्वदेशहिताय वित्तमर्थं स्वं जीवनञ्च परिजहुः कारावरुद्धाश्च के केऽपि राजविधानेनाजीवनं निर्जनगृहावासदुःसहदुःखं मौलिभिरेव सम्प्रत्यपि वरयन्ते । एवमेवं समोच्चावगम्य च सुधियां कुधियां निधियामपि वा सर्वेषामेव जन्मभूमिं प्रति गभीरा श्रद्धा, सरला च प्रोतिरभिवर्षणौया संस्थापनीया च मातृमर्यादा शाश्वती समात्र जगति ।

ये च मन्दमतयः स्वदेशद्रुहिणोनराधमाः एवंविधायामपि सर्वसौख्याधारभूतायामुद्भवभूमौ सर्वान्तःकरणेन विश्वासमपरां समुचितां भक्तिं नोत्पादयन् । तेभ्योऽधिकाः के तावत् सन्ति सर्व्वराः अधन्या अकृतज्ञाश्च मानवसमाजे द्वित्राश्चैवापरे लोकाः ? मन्ये तेषामननुष्ठेयानि कानिचिदपि न सन्ति किल दुष्कृतानि भुवनत्रये । विधातापि च इहैव तान् प्रति समुचितं निग्रहं विधाय लोकान्तरे वीभक्षनिरयं व्यवस्थाप्य जीवनान्तं हृषिकदंशनज्वालया विदह्य च मरणाधिकां शास्तिं वितरतौति किं बहुजल्पनया ।

“धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलकारणम् ।”

अपि नाम जगत्पञ्चिन् सर्व एव लोकाः अशीतिलक्षयोनिं  
परिभ्रम्य परिशेषे तु मानवजन्म लभन्त इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् ।  
तथा च भागवतम्—

अशीतिलक्षजन्मनः परं मनुष्यतां व्रजेत् ।

न तत्र धर्मचञ्चनं वृथा जनुर्गतं भवेत् ॥” इति

अतएव इदं हि मानुषं जनुः सर्वेभ्योऽपि निरुत्तममिति  
किं तत्र विचारस्यावसरः । नितरां मानुषजन्मनः परमोद्देश्यं  
परमपुरुषार्थसाधनम् । तस्य मूलकारणं पुरुषस्यारोग्यमेव,  
एवञ्च यथा कश्चित् चरणविरही गमनशक्त्यभावेन घनसोपाना-  
वल्यध्वनि विद्यमानेऽपि नयनमनःप्रासादकरं प्रासादतलमारोढुं  
न प्रभवति, तथैव मानुषजन्मरूपे सोपाने सञ्जावे मूलकारण-  
भूतामारोग्यरूपां पुष्कलां शक्तिमन्तरेण धर्मार्थकामरूपभूमिकां  
त्रयारोहणपूर्वकमतिदुरारोहं निर्व्वणपदप्रासादमारोढुमपि न  
शक्नुवन्ति तेषामादिकारणमारोग्यमेवेति तथैव तत् वचन-  
विन्यासः ।

सन्तीह तावदशेषोपतापाः । ते च विविधसंज्ञया विशिष्यन्ते  
परमविधेयैरार्थैर्मिश्रैः । तेषामेवाभावेन शरीरस्य स्वास्थ्यमारो-  
ग्यशब्देनोपदिश्यते । तच्चारोग्यं सुखस्य निदानम्, ज्ञानस्य  
पत्न्याः, परमार्थस्य क्षेत्रम्, उन्नतेः खलु प्रकष्टा भूमिः, सुक्तेश्च  
प्रथमं सोपानम् । तत्तावत् स्वास्थ्यसम्बन्धिनां विविधनियमानां



सम्यक्परिपालनेन सम्पद्यते तेऽपि नियमा व्यायामादिशरीर-  
हितसाधनान्यच्यन्ते । तथा हि—

“व्यायामो हि सदा पथ्यो वलिनां स्निग्धभोजिनाम् ।

स च शीते वसन्ते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः ॥

लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं क्लेशसहिष्णुता ।

दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥

न च व्यायामिनं मर्त्यं मर्दयन्त्यरयो वलात् ।

न चैनं सहमाक्रम्य जरा समधिगच्छति ॥” इति

स च व्यायामो मातया प्रत्यहमेव करणीयः, तस्मात् शरी-  
रस्य स्फूर्तिर्वलस्य वृद्धिर्देहस्य च कान्तिरुत्पद्यन्ते । अपि तद-  
नुष्ठानमतिमात्रं नोचितं तेन शरीरस्य हानिः सम्भवति, सुतरां  
दूषयति चरकसंहिताकारः । यथा—

“शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था वलवर्द्धिनी ।

देहव्यायामसंख्याता मातया तां समाचरेत् ॥

अमः क्लमः क्षयदृष्ट्या रक्तपित्तप्रतामकः ।

अतिव्यायामतः कामो ज्वरः कृद्दिश्च जायते ॥

व्यायामहास्यभाषाध्वग्रास्यधर्माप्रजागराज् ।

नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया ॥” इति

तथा आहारविषयेष्वपि सदा संयमिना भवितव्यम् । यत्  
स्वप्रकृत्यनुसारं पथ्य स्यात् तदेव भोक्तव्यमन्यथा रोगा आवि-  
शन्ति, पथ्याकरणेन भेषजैरपि ते नाशयितुं न शक्यन्ते । अत  
एवोच्यते लोलिम्बराजेन वैद्यकजीवने—

“पथ्ये सति गतार्त्तस्य किमौषधनिषेधनैः ।” इति

अधिकभोजनं सदात्महितमिच्छुर्भिवर्जनोयम् । तथाहि—  
“अतिभोजनं रोगमूलमायुःक्षयकरं तस्मादतिभोजनं परि-  
हरेत् ।” इति वस्तुतः तावदेव भोक्तव्यं यावत् सुखं परिपाकञ्च  
भजेत्, पक्वतां परिगतमन्नं पौयूषप्रतिमफलमातनोति, तथापरि-  
पक्वञ्च विषभावेनाक्रम्य धंसोन्मुखमेव समानयति जिह्वारस-  
रसिकानापातसुखाभिलाषिणी मनुजान् । उक्तञ्च शाङ्गधर-  
संहितायाम् :—

“रसो भवति संपक्वादपक्वादामसम्भवः ।

वक्त्रेर्वलेन माधुर्यं स्निग्धतां याति तद्रसः ॥

पुष्पाति धातूनाखिलान् सम्यक् पक्वोऽमृतोपमः ।

तथा मन्दर्वाङ्गविदग्धञ्च कटुद्यान्तो भवेद्रसः ।

विषभावं व्रजेद्वापि कुर्याद्वा रोगसङ्करम् ॥” इति

परं तथैव सततमतिनिर्मुक्तो देशे स्वच्छो वायुरुपसेवनीयः ।

येन वायुरेव हि सर्वेषां भूतानामाधारः, प्राणिनां प्राणाश्च उच्यन्ते ।  
तेनैव ते जगत्प्राणसङ्गया कोषकारैरुच्यन्ते । स च सुविशुद्धो निषे-  
वितो विकारं तत्त्वं भस्मसात् करोति, नाडीषु सन्निवृष्टं शोणितं  
शोधयति, देहस्य प्रतिभागं सञ्चारयति, मस्तिष्कशक्तिं नवी-  
करोति, चेतस्य प्रमादयति, मनसश्च जाड्यं दूरमपनयति । अपरं  
य एव प्रदेशाऽतिघन्यलोकादिनिवासनिबन्धकश्च तथा विषौ-  
षधिपुष्पादिगन्धद्रवित्वनाविशुद्धवायुनामगन्धद्रुक्तेन च परीतः  
परिव्याप्तः स्यात्तत्र न कदापि कथं कथमपि विहर्तव्यम् । तदुक्तं

सुश्रुतसंहितायाम्—“विषौषधिपुष्पगन्धेन वायुनोपनीतेनाक्रम्यते यो देशस्तत्र दोषप्रकृत्यविशेषेण कासश्वासवमथुप्रतिश्यायशिरो-  
रुग्ज्वरैरुत्तप्यन्ते ।” इति

अतः स्वास्थ्यरिरक्षिषुभिर्यदुक्तं शास्त्रवचनं तत् परिपाल-  
नीयम् । नियमपूर्वकं प्रत्यहं सान्ध्यप्राभातिकसमोरणसेवनम्,  
मात्रानुरूपो व्यायामः, विमलाभिरङ्गिरवगाहनम्, सुपरिष्कृत-  
परिच्छदपरिधानम्, कीटपङ्कधूलिलूताजालादिविवर्जिते सभ्ये  
वेश्मनि वासश्चेत्यादिकानुतिष्ठतां न जातु स्वास्थ्यसम्पदं  
व्याह्रयेत्, रोगाद्यापि न सम्भवन्ति तराम् । आरोग्ये च सति  
पुरषो धर्ममर्थञ्च संसेव्य वशौक्येन्द्रियग्रामः परमपुरुषार्थमपि  
लब्धुं प्रभवति तराम् । तद्देशगमनद्वारमतिक्लेशादिकष्टबहुलं  
योगाचारं हेलयोपवरन् सांसिद्धिकजननमरणादिदुःखमतीत्य  
नित्यानन्दञ्च संलभते । उक्तञ्च गीतायां—

“युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥” इति

रोगाभावे च चिरमस्वास्थ्यदग्धहृदयान्निखिललोकनाथात्  
धूलिधूपरितपलालतत्प्योऽपि निरुजः परमानन्दमास्वदते । किञ्च  
स्वास्थ्यमन्तरेणानेकेऽपि वृद्धस्यतिकल्पाः पुरुषाः न विद्याधिगन्तुं  
नापि वा संसारसुखञ्च भोक्तुं प्रभवन्ति । बहव एव यथेच्छा-  
चारेण स्वास्थ्यभङ्गादकाले कालकवलं यान्ति । इत्यादि बहु-  
कारणकूटपर्यालोचनयावधीयते स्वास्थ्यनियमपरिपालनद्वारा

रक्षितमारोग्यमेव चतुर्वैगसाधने प्रधानतमो हेतुरिति सुष्ठु  
संभाषितम्—

“धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलकारणम् ।” इति

“न लोभादधिको दोषः”

इह किं चणभङ्गरायमाने संसारे लोभो नाम मनुजाना-  
मन्यतमोऽतिभीषणतमो महानजियो रिपुः । स च पुंसां शशिन-  
स्तुल्यवंशम् ; कन्दर्पस्येव - सौन्दर्यम् ; कार्ष्णवैर्यार्जुनप्रतिमं  
वैर्यम्, किमु निखिलगुणास्पदमपि स्थूलं प्रसभं समाक्रम्याधःपात-  
यति । लोभाकृष्टो हि कार्याकार्यं विवेक्तुं न शक्नोति, पूज्यापूज्यं  
न गणयति, मेध्यामेध्यं, गम्यागम्यं, खाद्याखाद्यञ्च न विचारयति  
किमन्यत् मित्रवान्धवजनसम्बन्धमपि परिहरति उक्तञ्च—

“लुब्धः कार्यमकार्यं वा न कौर्त्तिं निरयं न च ।

न धर्मं चापि वाधर्मं वेत्ति नैव हिताहितम् ।” इति

वस्तुतो लोभो हि जगतामशेषविधानर्थस्य मूलकारणत्वं  
परिकल्पितुं शक्यते । स तु संसारस्य यावतीयविषयेषु स्वोयासं  
बाधितमाहात्म्यं विस्तोर्त्य शनैः शनैरात्मवशं नीत्वागणिते दुष्प्र-  
तिके कार्यं निवोच्य परिशिषे अधःपातयति विनाशदशायामापा-  
तयति च प्रायश एव लोभाभिभूतान् नितान्तमन्दभाग्यान् ।

यथा तावदेको भोज्येषु लोभपरवशो रसना-परितृप्तसंविधाय-

कानि वस्तूनि समुपभोज्याचिरेणोदरामयादिदुरारोग्यैः रोगैः  
सुदुःसहं क्षेशमनुभवति । परं ततो मृत्युरपि तस्य भवितु-  
मर्हति । अन्यस्तावत् प्रमदानेषु समाकृष्टोऽनुचितानुराग-  
तयाकालिकमहाप्रयानमिहैव लोकगर्हाच्च लभते । अपरो  
येषु केषु विषयेषु सातिशयमाशक्तः प्रमाद्याते तेषां विषयाणां  
विषमयफलप्ररोहैः क्षोवपङ्गुविकलाङ्गत्वमपि समागच्छति ।

लोभाभिभूतस्य मतिः कदा जनहितकर्मणि किंवा विशिष्ट-  
कार्ये न प्रवर्तते, परं दुर्भावा एव प्रतिनियतं हृदि दृढविलग्न-  
तया पदं निदधति, एवं नामासौ गर्हितादपि 'गर्हितमाच-  
रितुं' न कथं कथमपि विकल्पमनुसरति । तथा प्रवर्त्तमानो  
मन्दभाग्यः एकदा तस्करकर्म कर्तुमपि वदपरिकरो भवितु-  
मर्हति । तस्मिन्नपि च प्रवर्त्तमाने कदा नियुक्तप्राहरिकराज-  
पुरुषैस्तत्क्षणदृष्टनिगडितो राजशासनविधानानुसारेण कारा-  
वासदासतामुपेत्य प्रत्यहं तैलनिरसनयन्मभ्रमणनिरतः, कदा  
चैत्रादिमृदुत्खननलीनः, कदा वातिशयभारोदहनजनितविलुप्त-  
शिरोरुहो भारवहनसक्तः, कदाचिच्च क्षुद्रातिक्षुद्रतमे व्यलीके  
काराध्यक्षकरगृहीतकशाघानोदृप्तप्रसवरुधिरः, किमु नाम  
तत्रोपचितप्रलम्बश्मश्रुकेशपटलसंहतमुखकुहरः, प्रवृद्धकररुहः,  
मलिनवसनो महाभीषणाकारः कदन्नमात्राहारः इहैव नरक-  
वाससमानानि दुःखान्यनुभवति स खलु मन्दभाग्यः ।

हा हन्त ! य एव, प्राकृतिकशीतोष्णरौद्रवृष्ट्यादिदुःसहदुःख-  
मपाकृत्य जठरयन्त्रण्या दंदद्यमानश्च प्रभुसेवासञ्चितार्थेन यं

पुष्पाति । एवं चैव हि विनिद्रयाद्वासनेन निरसनेन वा स्त्रीय-  
रुधिरार्पणेन वा यं प्रवर्द्धयति, प्रवर्द्धयति, प्रवर्द्धयति निजप्राण-  
विनिमयेन परिचायति । स एव तादृशवापि पितरौ, तथैक-  
रक्ताशं सहभुक्तं सहपीतं सहयातं सहवर्द्धितमनन्यसाधारणस्नेहै-  
कायणौभूतमात्मप्रतिमं सहोदरभ्रातरम्, एवमनन्यशरण्यां पति-  
मात्रैकमर्गसमालम्बनरूपां सर्व्वगुणैकानिलयां जायां निहत्वा  
किमु नियम्य स्वां स्वां कामनां पूरयत्यवशौ लोभोति नासहाव-  
स्तादृशस्य दृष्टान्तस्यात्र जगति ।

यथा पुरा राज्यलोभान्धकारितमतिः कुरुकुलधुरन्धरोऽभि-  
मानो राजा दुर्य्योधनः कुरुपाण्डवयोर्विवादोपगते सन्त्यर्थमनु-  
रुद्धं भगवन्तं वासुदेवं सगर्व्वमाह—

“सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेण भिद्यते या तु मेदिनी ।

तदहं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव ॥” इति

ततः प्रवृत्ते तस्मिन् भ्रातृकलहज्वलतरूपे महाहवाध्वरे  
स्त्रीयानुजैकोनशतभ्रातृसहिता भीष्मद्रोणादिनिखिलवोरकुल-  
वरेण्यान्विताः पुत्र-मित्र-गोत्रोपचिता विविधायुधपुञ्जोद्भासिताः  
सप्तदशाक्षौहिणीः समिधः परिकल्प्य रणोन्मादनमादिताति-  
लोलरसनाप्रसारितातिक्वायकठोरायै कलहदेव्यै बलिमुपाहरत् ।

अपि नाम यद्यप्यर राज्यलोभमपहाय यदुपतेः प्रार्थनानु-  
रूपां सन्धिं विधाय पाण्डवेभ्यः पञ्चग्राममदास्यत् तर्हि किम-  
गणितशूरशोणितप्रसवणधारया धरित्रीदेव्यास्तादृशोऽभिषेकोऽ-  
भविष्यत् किमु भारतसर्व्वस्वभूतान् तादृशशोर्भ्यवैर्य्यञ्जितरा-

जन्यसहार्घरत्नान् दुर्योधनलोभपाठञ्चरो सुषित्वा सम्प्रति वसु-  
गर्भां वसुधामिमां ह्येनाद्वैततमां दशां समानेय रिक्तां कर्तुं  
ग्राभभविष्यत् ।

एवमेव च राज्यलोभाभिभूता महम्मदीया अनेके पितरं  
भ्रातरं स्वसारञ्चापि हत्वा नियम्य दूरौकृत्य च स्वीयलोलित-  
लालसानलसुखे हविरूपकल्पग्रात्मसम्बन्धं परिजहुरिति नाविरल  
इतिहासपृष्ठेषु ईदृशस्य बहुशो दृष्टान्तस्यासङ्गावः । यत् राज्य-  
लोभौनिकदृष्टदयवृत्तिः औगङ्गजैवो जनकं साहजानं कारागार-  
मुपानेय्यापूर्वकारकार्थमयमनन्यदृष्टपूर्वं मयूरसिंहासनं भारत-  
साम्राज्यञ्च लोभराक्षसचरणोपहारी चकार । एवं दारा-सुरा-  
दादिसहोदरनिवहान् निहत्य राज्यस्य सिंहासनस्य च आधिप-  
त्याविसम्बाधित्वं चकार । इत्यमित्यमेवाधुनातनाः पौराणिकाश्च  
वर्तन्ते खल्वेकाधिके दृष्टान्ताः । परं न हि तेषामास्यदमर्हति  
क्षुद्रतमोऽयं मामकीयः प्रबन्धः । नूनमहो यस्तावत् यस्यावेशेनाम्बो-  
भूय सकललोकगर्हि कर्म कर्तुं न लज्जते, नापि वा परिणाम-  
दुःखाकरमपि ज्ञात्वा तत्परिजहाति, सोऽयं सर्वजनसहजात-  
प्रतिपक्षो लोभः सकलदोषनिवहेषु गरीयानिति सुष्ठूक्तं “न  
लोभादधिको दोषः” इति ।

## “न तितिच्चा सममस्ति साधनम्”

तितिच्चा हि नाम क्षमापरपर्याया ; मानवानामुच्चतमा मान-  
सिकवृत्तिविशेषा । सा तु शरीरिणां शरीरधर्मनिवहेषु मज्जोयसी  
गुरुतोऽपि गुर्वीति वाधारहितं मतं प्रज्ञावताम् । तत्रभाव-  
माहात्मेनेह मनुजा विमलानन्दमुपभोग्य परत्रे च श्रेयः किमु  
ब्रह्मसायुज्यमपि लब्धुं प्रभवन्ति । आहुस्तावन्नयधर्मप्रेमेतारः—

“क्षमावलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ।

क्षमावशौक्यतिर्लोके क्षमया किं न सिद्ध्यति ॥

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।

इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।

यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्मसम्पद्यते तदा ॥” इति

वस्तुतस्तितिचोपचितश्चेतो गुरुकठोरेषु समुपागतेषु कार्येषु  
न स्वल्पमपि स्वभाववैपरीत्यमालम्ब्य कथं कथमपि हृष्टं रुष्टं  
वा समवलम्बते ; परमुत्तरोत्तरमतिदार्ढ्यं सातिशयगान्धोर्थेक्ष  
समुपेत्य सकलसुखप्रसवभूमित्वमुपपद्यते । एवं पुत्रकलत्रादि  
वियोगजातिविघ्नेषु यथा तथा निरतिशयहृद्योपचितव्यापारे-  
ष्वपि सात्त्व्यमातनोति । सम्पद्विपदोः समवर्तिता हि तितिच्चा-  
न्वितानामसाधारणं लक्षणम् । इतरे तावदापातसुमधुरां  
भविष्यति हालाहलकल्पां सम्पदमासाद्य समुदेलितजलधर इव



स्कीतवक्षसः धराभिमां तुच्छातितुच्छं मन्यमानाः सुजनाचारश्च  
 दृणाय मन्यन्ते । विपदा तु ते कणमात्रयैवाभिभूयमाना वेपथु-  
 मद्गुणो वेतसपद्माणौव प्रकम्प्य क्लिश्यन्ते । तितिक्षोर्पाचित-  
 चेतसः सुमहदपि विपत् क्रियदुद्देजयितुं न प्रभवति । सर्वा-  
 स्वप्यवस्थासु तेषां स्थैर्यमचलमटलं विराजते । मकराकर-  
 स्तरङ्गिणीशतशो मिलितोऽपि न प्यायते । नापि निदाघ-  
 प्रखरसूरकरनिकरसहस्रेणाकृष्यमाणोऽपि खलितो भवति  
 गाम्भीर्यात् । किमूदीयमानस्य परमस्ताचलाधिष्ठितस्य च  
 प्रभाकरस्य रागो न तावत्पार्थक्यं समुपभजति क्वचित् । रस-  
 हीनोऽपि हरिचन्दनः स्त्रीयसौरभ्यं न विमुञ्चति कणमपि ।  
 अतो मनसि सततमिदं समाधाय प्रवर्तितव्यं यत् सम्यद् विपश्च  
 नियतं परिवर्तत इति, तथा हि कविगुरुः कालिदासः—

“कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा

नो वैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रेनेमिक्रमेण ।” इति

तच्च सर्वे तितिक्षया खलु सोढव्यमेव प्रकृतमनुष्यपदाभि-  
 काङ्क्षितानाम् । तथा सर्वानर्थनिदानप्रसवभूमेर्मनसः कुलित-  
 वृत्तौर्विमलानन्दरसधारया परिप्लाव्य तस्मिन्नेव समुत्पाद्यते  
 कैवल्यं नाम महामहीरुहस्य वीजम् । सति किल दृढे चेतसि  
 दुःखं नाम मनुजानां केशग्रमपि वक्रयितुं नाधीष्टे दूरे ताव-  
 दास्तामन्योऽनर्थपातः । यथा हि आविलमपि सलिलमपरिष्पन्दि-  
 सत् शनैः शनैर्नैर्मल्यमेति, तथातिशान्तमपि स्नानं पुंसस्ति-  
 क्षया शिञ्चितमिव प्रमादमाविष्कुर्वीणं निश्चलतां गम्भीरताञ्च

समागच्छतितराम् । मूर्खास्तावद्दुःखमुपशमयितुं परितः संरम्भं कुर्वन्ति, परं संरम्भवर्जितास्तित्तिच्चावन्तस्तु दूरमपगममपि तद्दुःखं हेलथैव परिजहातुं प्रभन्ति ।

दृश्यते हि पुरावृत्ते यद्रामयुधिष्ठिरनल-श्रोवत्सादयो भूपाला नानादुःखोपचिते वनाचनौ वनेचरा इव विचरन्तो वन्योचितं कन्दमूलफलादिकं भक्षयन्तो निःस्वादु कटुकप्रायं वा निर्भरोदकं पिवन्तः शीतातपादि नैसर्गिकं महन्तं क्लेशं समनुभवन्तश्च सौमातिगया विपदा निपौद्यमाना अपि केवलं तित्तिच्चाप्रभावेण सर्व्वं सहन्ते स्म तस्मादेव हि ते परिणामे परमभ्युदयं निःश्रेयसञ्च लभन्ते स्म । अहो ! श्रूयते हि युधिष्ठिरस्तित्तिच्चा-माहात्म्येन इन्द्रविकाररहितो नरदेहेन महान्तं हिमवन्तं नगमुत्तौर्य्य स्वर्गद्वारमुपागच्छत् । विगतकल्मषा मुनयोऽपि तित्तिच्चाप्राबल्येन महत् कष्टमपाकृत्य जगतामशेषकल्याणञ्च संविधाय परां गतिमाससादुः । इत्थं नाम कार्य्यदर्शनेनानु-मातुं शक्यते यत् यज्जगति दुर्लभत्वमनुमन्यते तत् सर्व्वमपि तित्तिच्चा दातुं प्रभवति । परमपुरुषार्थं प्रति च तित्तिच्चा सह-कारिणो नितरामतिसुशोभनमभिहितं निखिलनीतिकुशलिना भारविणा—

“न तित्तिच्चासममस्ति साधनम्” इति ।

## “महाजनो येन गतः स पन्थाः”

इह खलु संसारे दावेव महाजनशब्देन विशेषयन्ति सन्तः ।  
 एकं बणिग्द्वतिसमाचरन्तमपरं सन्मार्गनिदर्शकम् । ये खलु  
 सार्थवाहाः प्रतिनियतविषयनीरनिधौ निमज्जमानाः करतल-  
 मुद्राधिगतेन निर्वाणपदमतितुच्छं मन्थमानाः, द्वितिकपर्दक-  
 प्राप्तये च मृषा भाषितुमपि न लज्जन्ते, तान् कथं कथमहो  
 महाजन इति शब्दगौरवेण विमण्डयन्ति सज्जनाः, तन्न जानौ-  
 महे । उदिते चापि मनसि तत्शब्दसंस्थानस्थानं स्वत एव समा-  
 क्रमते लज्जा सज्जनानां चेतः । मन्थामहे ते क्रयविक्रयव्यप-  
 देशेन नानादिग्देशेभ्यो यदुत्कृष्टं पण्यसम्भारं जगन्मङ्गलकरं  
 वस्तुजातञ्चानीय जन्मभूमेः स्वकुटुम्बानाञ्च सुखसमृद्धिं वर्धयन्ति,  
 अतएव तान् तथाविधोपाधिना समाकलयन्ति धीराः । अतः-  
 परं ज्ञानवृद्धाः शब्दसंस्थानिकाः एव प्रमाणम् ।

अपरे ये तावत् महाजनशब्दप्रयोज्याः, ते किल सत्कर्मण्य-  
 नुसंशीलयन्तः कलुषं त्यक्तकामाः विशेषं विविच्य कर्माण्यनु-  
 तिष्ठन्ति । केन कर्मणा सुकृतं, केन वा दुष्कृतं; केन च  
 मङ्गलं, केन वामङ्गलं, केनचन स्वीयमितरेषाञ्च दृष्टमनिष्टं वा  
 प्रभवतीति सूक्ष्मदृष्ट्या पर्यालोच्य कर्मणि यतन्ते, त एव महा-  
 जनाः संसारपाथ्याग्निलयस्य समालम्बनरूपाः । तैरेव समाचरितः  
 पन्थाः परमश्रेयस्करः, यदि चापाततो दुःसाध्य इव प्रतीयमानोऽपि

तथापि यत्नेनैव समावलम्बनीयो मनुजानाम् । तेन च सम्भवति  
 प्रभूता शान्तिः, निरतिशयं सुखम्, शाश्वतौ समाः ख्यातिश्च ।  
 मन्त्रविष्णुहारीतादीनां धर्माशास्त्रप्रणेत्तृणां महर्षीणां पत्न्या-  
 मवलम्बमानाः ज्ञानवृद्धाः आपातसहजमनोरममार्गमभिप-  
 श्यन्तोऽपि हेलया तं समपाहायैव चिरन्तनौः प्रथाः संरक्षन्ति ।  
 विचक्षणाः । विद्यते तत्र मतभेदानां बाहुल्येन सद्भावः, वर्तते  
 चापि मतानां कुत्रचित् वेपरीत्यं, तथापि कुलसमाचारितपथा-  
 नुवर्त्तित्यैव कार्याणि समाचरन्ति प्रायशः एव लोकाः । न तस्य  
 दृष्टतामदृष्टतां वा समवलोकयन्ति पर्यालोचयन्ति वा मनसापि  
 अन्यथा कर्तुं कदापि । (पूर्वपुरुषैराचरितानां सन्मार्गानुसारेण  
 जायते तावत् समुन्नता गतिः, विमला च प्रतिष्ठा ।) तथा च  
 देवतानां प्रत्यक्षमर्मानालोकनादपि तत्र सातिशयो विश्वासः,  
 शालग्रामे मृत्स्ये वा देवविग्रहे देवतोपस्थितिबुद्धिः, पुण्य-  
 तोयायाः जाङ्गव्याः सलिलसर्पे निखिलकलुषविनाशनचिन्तन-  
 मित्यादि बहुधैव विद्यते अस्माकं महाजनपथानुवर्त्तितत्वम् ।  
 दृश्यते चात्र लोकव्यवहारविधौ महर्षिसमुपदिष्टमेकमेव व्रतं  
 कुलप्रथानुसारेण विभिन्नदिवसेषु सुसम्पादयन्ति परमविधेयाः  
 मनुजाः । कल्पन्ते च ते रवेः संक्रमणविशेषेण स्कन्दादिव्रतं  
 दिनद्वये पूजार्थं । न तेन च एकस्य पापमपरस्य पुण्यं वा समुत्-  
 पद्यते, नूनमधिकं वा वक्तुमर्हन्ति केचित् । येन च तदेव हि  
 तेषां कुलक्रमागतो धर्मः । तत्कुलप्रथानुसारेणापि चाकृतं  
 कार्यं सम्भवतितरामतिशयपापम्, एवमपि च वर्तते शतशो

दृष्टान्तः, यदेकमेव कार्यं विभिन्नदेशे विभिन्नप्रकारेण समा-  
चरन्ति सन्तः, तत् बाहुल्यसमीहया प्रोज्झितम् । प्रस्तुवन्ति  
ननमार्थसिद्ध्याः—यस्यहाजनपदपङ्क्त्यनुसरणमेव चतुर्णामाश्र-  
मिणां परमो धर्मः, मुक्तेष्वपि प्रकृष्टा सरणिः । लोकेषु त्वेवं  
दृष्टं शुद्धं वा यस्यहाजनमार्गानुवर्त्ती कदा कोऽपि विपदि  
पतितः, सुखात् वा परिभ्रष्टः, नितरां साध्विदमुच्यते—‘महाजनो  
येन गतः स पत्न्याः’ इति कृतं बाहुल्येन ।

### वेदान् सर्वत्र पूज्यते \*

इह खलु संसारे परमेश-परिसृष्टानां सर्वेषामेव जन्तूनां  
मध्ये मनुजा नूनं विद्यागौरवेणैव प्राधान्यमापन्ना इति निःसंशयं  
वचः । आहारनिद्रा-प्रभृतीनां सविशेषतया केवलं ज्ञानबलेनैव  
तेषां प्राधान्यं स्वीकुर्वन्ति आर्य्यसिद्ध्याः । तच्च ज्ञानं कथं भवे-  
दिति जिज्ञासूनामस्माकं प्रश्नपर्य्यवसाने केवलं ‘विद्यैव निदानम्’  
इति परिकल्प्यते । विद्याप्रभावमन्तरेण न तावन्मानवानामज्ञा-  
नान्धता दूरीभवति । जगत्स्थिन् धनौ वा भानौ वा विविध-  
विभवपरिग्रहो वा शिष्टसुचेष्टपरिजनपरिपूर्णो वा किमधिकं  
शौर्य्यदीर्घ्य्यणावधीरितवीरसमाजो वा विद्यामेकामपहाय न  
कश्चिदप्रतिवादसहं सन्मानास्पदमवगाहते । विद्यां विना न

\* न च विद्यासमी धन्यः । विद्यायाः किं फलम् । नास्ति विद्याधिका किञ्चित् ।

खलु किञ्चिन्मानवानां हृदि संस्थिताज्ञानतिमिरपुञ्जमपाकर्तुं  
प्रभवति । गन्धपरिहीनं प्रचूनमिव, विगतकमलं सर इव,  
शशिविरहोणा रात्रिरिव, लावण्यरहिता युवतिरिव, रुजाभि-  
व्याप्तं शरीरमिव विद्याहोनेन जीवनं नितरामवसीयते, एवमति-  
दुर्विधानामपि विद्यासलिलविमलीकृतचेतसां जनानामन्तः-  
करणे यादृगानन्दप्रवाहः समुपजायते, न हि तावत् सुधाधव-  
लितप्रासादतलवासिना भूभुजामपि विषयभोगसमूहेषु सुख-  
जातं तस्य प्रोदुशीमपि कलामर्हति । ✓

विद्वांसो विनयिनो धृतिमन्तो मधुरप्रकृतयो विशदचरित्राश्च  
भवन्ति । अत एव सूयते—

“विद्या ददाति विनयं विनयादयाति पात्रताम् ।

पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धनं ततः सुखम् ॥” इति

यथा हि एकमेव सुसौरभकुसुमं निखिलमेव काननभूमिं  
गन्धसन्धारैरामोदयति, यथा च एकोऽपि हिमांशुरंशुजालैर्जग-  
दिदमुद्गासयति, प्रीणयति च तद्वदेकोऽपि विद्वान् सुविमल-  
यशोधरया संसारसिमसुज्ज्वलीकरोति ।

किमहो ! विद्यायाः पीयूषमयं फलम् ? यदुपभुक्ताना व्यास-  
वाल्मीकिकालिदासप्रभृतयो गतासवोऽपि चिरायामरत्वमापन्नाः,  
निखिलजगज्जनपूजिताश्च । किमधिकं, यस्याः सुमधुरकर-  
स्पर्शेन कमठपृष्ठकठिनमपि मानवानामन्तःकरणं कुसुमपेलवी-  
भूय सांसारिकजीवनं बहुविधासुन्नतिमानयति ।

विद्यामन्तरेण न खलु काचिदुन्नतिर्भवितुमर्हति जनानाम् ।

संसारे यदा किल विशिष्टमुच्चपदस्थमर्थवन्तमधिगतसम्मानं वा मानवमवलोकयामस्तदैव प्रथमं तावत् तस्य विद्यावैभव एव निदानतया मनसि समापतति । सत्यमिह संसारे जन्मान्तरीय-सुल्लतिवशादनधीतविद्या अपि कुत्रचित् कतिचिदेव मानवा मानिनो धनिनः समावृताश्च दृश्यन्ते, किन्तु कारणमेतत् सर्व-वादिस्मृतं यदेकया विद्यायैव जनः समृद्धः प्रसिद्धश्च भवितुमर्ह-तौति । विद्या नरं नौतिपथेन चालयति, इन्द्रियागोचरमति-सूक्ष्ममतिदूरस्थमपि वस्तु प्रत्यक्षवद्दर्शयति, बन्धुवत् सततमात्म-हितमादधाति, स्वजनपरिशून्ये दूरदेशे परं बलं सञ्चारयति, सौन्दर्यसम्पदरिहीनस्यासि सौन्दर्याधिक्यमानयति, संसारे न तावदौयतो गौरवपदवो वर्तन्ते, या न विद्यया समधिकर्तुं शक्यते । किं बहुना—सर्वे खल्विदं जगद्विद्यया स्ववशतामापद्यते । सर्वविधसमृद्धिसम्पन्नोऽपि मानवो विद्यासन्तरेण पशुरिव प्रती-यते । सुतरां विद्यया यद्यत् फलं साध्यते, न पुनरन्येनापि केनाप्युपायेन तत्तदधिगन्तुं शक्नुवन्ति ।

यथाहुरार्यमिश्राः—

“विद्या नौतिकरौ जगद्वशोकरौ विद्या विशाला दृशः

विद्या बन्धुरसौ विदेशगमने विद्या परं सम्बलम् ।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं विद्या च रत्नं महत्

विद्या गौरवकारणं द्विभुवने विद्याविहीनः पशुः ॥” इति

अहो ! किमाकलयामो विद्यायाः माहात्म्यमेकयैव रसनया,  
सहस्रजिह्वेनापि वासुकिना सहस्रयुगमविरतकौत्सेनापि न-

किञ्चित् प्रकटयितुं शक्यते विद्यागौरवम् । जले स्थले तथान्त-  
 रीक्षे चापि सर्वत्रैव तस्याः समानोऽधिकारः, उदकान्तरे  
 विद्यामाहात्म्येनापि स्थलचरा मानवाः सेच्छाहारविहारं कुर्वन्तः  
 हेलया कार्याणि सुसम्पादयन्ति । स्थले च परमाङ्गतानि लोक-  
 विस्मयकराणि विविधानि यन्त्राणि आविष्कृत्य अतिदुःसाध्य-  
 कार्याणि अनायासेन विदधति । बहुशतयोजनान्तरितानां  
 स्वप्रियजनानां सुहृत्तद्वयेनापि ताडितप्रवाहेन वार्त्तां ज्ञातुं  
 शक्नुवन्ति जनाः । एवमपि च बाष्पशकटार्णवपोतसौदामिनौ-  
 दौमिप्रभृतयः मामकानां नयनपथे अहरहः एव व्याहरन्ति  
 विद्याज्ञानफलम् । अन्तरीक्षे यदेव मनुजाः 'एरोप्लेन्' नामक-  
 यानारोहणेन विहङ्गमा इव विचरन्ति, तथा-ह्वसहायकानि  
 शतभिन्नप्रभृतिविविधानेयास्त्राणि तत्रावस्थाप्य समरप्रतिकूलं  
 पक्षं निर्यातुमभियतन्ते, तदपि विद्याया एव गौरवमातन्वतीति  
 यथार्थमभिहितं श्रीमता विष्णुशर्मणा—

“सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।

अहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥” इति

अनुभूयते च तत्र तत्र गच्छद्भिः कोविदैर्वित्ताधिकं माहात्म्यं  
 विद्यायाः, तथा हि गृहीतवित्तमनुजो बलवानपि दिनान्ते  
 पाश्चात्त्यवारिधिमवगाहमाने विभाकरे, उदयमाने च तमाल-  
 गर्वसर्वङ्गशश्यामल्विषि तमसि भीतो भीतः पदे पदे शङ्कमान-  
 श्वोरभयं मन्दं मन्दमारण्यकेन पाटञ्चरेणैलुभृष्टं भज्यमानः  
 ख्यमेव ददामि वित्तमित्युद्धोषपरिशूष्यमानमुखो अपहृत-



समस्तधनो निरवशेषितकौपीनो महद्दुःखेन यत्र कुत्रापि जिगमोषति ।

विद्यांसस्तु तस्मिन्नेव पथि गृहीतपाथेया. निरङ्कुशं परि-  
भ्रमन्तो अपहर्तुमागतैरपि चौरैरिमं रिक्तहस्ताः साधव इति  
बहुमानपूर्वकं सूचितमुपधा' वनश्रोविलासबिलोकनजनित-  
हर्षोत्कर्षाः सोक्तासं परिक्रामतीति समुन्मिषत्येव विद्यागौरवम् ।  
किञ्च प्रजापालनलब्धवर्णा अपि भूसूतो नैकस्या विद्यायाः  
षोडशीमपि कलां शक्नुवन्त्यधिगन्तुम् । यतः किल राज्ञां  
बहुलपरिपन्थिनां स्त्रीयेऽपि देशे न नितरां प्रशंसावाप्तिः ; किं  
पुनः रिपुशङ्कटेषु अन्येषु देशेषु ? विद्यायास्तु यावदयावत्  
प्रतिपक्षविजृम्भणं, तावत् तावत् प्रकाशन्ते प्रभाजालानि । यांश्च  
देशानधिवसन्ति संख्यावन्त उदञ्चयन्ति च परिमलभरिता वाच  
तत्रैवाभिनन्द्यमानवचोवैभवाः प्रकाममाराद्धुन्ते बहुभिरिति  
शोभनमुक्तं निखिलनयशास्त्रार्थदर्शिना मनोषिणा चाणक्येन—  
'विद्यान् सर्वत्र प्रज्यते' इत्यादि ।

## “आत्मानं सर्वतो रक्षेत्”

अत्र तावद्दिनश्वरे संसारे निखिलकारुणिकस्य जगत्पितुः परमेश्वरस्याद्भुतशिल्पचातुरीमुख्यप्रत्यक्षोदाहरणे सातिशयविश्वयकरे चित्ताह्लादकरे नानाभावसद्भावे अगणितासत्यपि सतीव प्रतिक्षणं प्रतिभासमानेऽसमाने, किमधिकेन वचसा द्रुतस्ततो विक्षिप्तविलक्षणाकारे परिवर्त्तनि विवर्त्तमये संसारे तत्स्वभावानुप्राणितानुसारे विलक्षणा एव सर्व्वं प्रतिभान्ति भावाभावाः समुदायाः पदार्थाः प्रत्यक्षतः परक्षतो वा जीवनिवृत्तान्तःकरणे प्रतिक्षणं महीयसीमाधिकशक्त्या ।

तद्वैलक्षण्यञ्च यत्र यत्र प्रतिभाषते तदवश्यमेव समाकर्षति चेतः सकलस्य जनस्य, येन येनैव चित्तमाकृष्टं तदेव सृष्टृणीयं, यत्र यत्रैव सृष्ट्वा तदवश्यमेव प्रियतास्पदमिति सम्भूयैव सर्व्वमेकैकतोऽधिकं प्रियतरमस्ति । यथैव हि प्राकृतिकवैलक्षण्यानां परिधिरवधिर्वा न तावत् किञ्चन प्रभवत्यत्र जगति । तथा प्रियास्पदवस्तूनामप्यवशिषो नास्ति किञ्चिन्मात्रम् । यथा यथा वगाहते जनमनः तथा तथैवोत्तरोत्तरं पूर्वापेक्ष्यान्यत् ततोऽपि विलक्षणमवलोकयति, विलक्षणतयैव चैतत्तत् सृष्टृणीयं प्रियञ्चानुभवतीति सर्व्वानुभवसिद्धम् ।

एवं किल विश्वस्यातिवैलक्षण्येन प्रत्येकेषां चित्तवृत्तीनां विभिन्नपरतया विभिन्नरुचितया च नहि तावत् सर्व्वं सर्व्वस्य प्रियतरं प्रेमास्पदञ्च सम्यक् भवितुमर्हति । दृश्यते तावदेकमेव

वस्तु कस्यचित् प्रियं तदेवाप्रियमपरस्य, यदेकस्यापि चाधिक-  
प्रियं तन्मनाक् प्रियमपरस्य । परमेवमपि प्रत्यक्षीक्रियते यदेक-  
मेव वस्तु कामनासम्प्राप्ते विधाते वा भिन्नं भिन्नं चित्तभावं जन-  
यित्वा सुखयति दुःखयति मोहयति वा मानवचित्तं यथा—  
रूपयौवनसम्पन्नातिपेशला काचिच्चकितदर्शना वामलोचना  
दयितचित्तं तोषयति, स्थगयति व्यथयति च कामुकमर्मम् ।  
एवमपि च वर्तते कस्यचिद् ज्ञानवर्चा प्रिया, अन्यस्य कूर्दना-  
दिक्रीडा, अपरस्य विज्ञानादिगवेषणा, भिन्नस्य च संगीतानु-  
शीलनौ इत्यमित्यमेव दिशा रुचीनां विभिन्नतया न तावदेकमेव  
हि प्रियं कस्यचिदित्युपक्रम्य कविनीत्तम् :—

“दधिमधुरं मधुमधुरं मधुरादपि द्राक्षा ।

किन्तु रुचिमेदात्तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्

दृढलग्नम् ॥” इति

अस्ति किल प्राचीनयुगे यदयत् प्रियं तदिदानीमप्रियमननु-  
करणोयञ्च सभ्यताभिमानिनां पाश्चात्यशिक्षितानाम् । प्रवर्त्त-  
माने च युगे यदाचारादिपद्धतिः अशनादिक्रिया च लोकप्रिया  
सा चापि भाविनि युगे हेया सातिशयतुच्छाप्रिया च भविष्यति  
किं न वा की वक्तुं प्रभवन्ति समर्थाश्च मनीषिणः ? किन्तु निष्कण्टोत्-  
कृष्टप्राणिमात्रस्यैकतानतयात्यन्तिकप्रियतास्पदं केवलमात्मेवेति  
समौच्य निखिलप्रयत्नेः स सर्वतः सावधानतया परिरक्षणीयः  
सर्वेषामेव प्राणभृतामित्यभिसन्धिरार्यमिश्राणाम् । यस्मा-  
देवात्मा सर्वापेक्षयातिशयप्रियः प्राणिनामिति तेषामाहार-

विहारादिकार्ये निवहे सुव्यक्तमेव परिलक्ष्यते । यदेवात्यन्तप्रियं तच्च सर्वथा संरक्षितुं प्रेरयन्ति वलादृद्यावाभूष्यन्तश्चारिणी देवाः । तद्विपरीताचरणे च तेषामसन्तुष्टिः, स्वचित्ताशुद्धिः, क्षोभमनिष्टञ्चापि सम्पद्यत इति विश्वजनयितुश्चिरन्तनो नियमः । अतएव सुखे वा दुःखे वा नितान्तदुर्गन्तदशाया वा सर्वप्रयत्नेनावश्यमेव रक्षणोपयतामर्हतीति किं पुनस्तत्र विकल्पावकाशः ?

एवं नाम यच्चात्मसृष्टौ परिणाहवत्यामनन्तपदार्थनिचय-सत्तेऽपि परमार्थतः प्राणिनामात्मेव प्रियतमं सर्व्वस्वमस्ति, न तथा पुत्रकलत्रादिनितान्तान्तरङ्गा बान्धवाः मित्राणि किमु प्रासादप्राकारानन्ताद्यशेषसंखेयानि धनानि दासदासीजनाश्रयातिरम्याणि भवनानि च सर्व्वस्वशब्देनाभिधेयपदतां प्राप्तुमर्हन्ति । यदेव यत्पारिमाण्यसर्व्वस्वं यस्य तच्च सर्व्वप्रयत्नैरेव संरक्षणाय भवति । यच्च पुनः पारिभाषिकसर्व्वस्वं धनजनादिवस्तुजातं तच्च क्वचिद्विनष्टेऽपि न सर्व्वं प्रविलीनमुपजायते । परमात्मा तावदीदृशं सर्व्वस्वमस्ति यस्मिन् तिरोहितं निखिलचराचरमेव शून्यं स्यात् । तत्रास्ति सतामाभागकम् :—“आत्मशून्ये जगच्छून्यम्” इति ।

दृश्यन्तं हि सर्व्वं खलु जीवनिवहाः नानाक्लेशान् सहमाना अपि निरन्तरं मेवया, चौर्य्येण, क्लृप्तेन, कपटेन गर्हितादपि गर्हितेन शोभनेन कर्मणापि वा किं बहुना येन केनाप्यपायि-नात्मनः सुखमन्विष्यन्ति रात्रिन्दिवम् । इत्यभित्यं भावैर्यदर्थ-मेव प्रचेष्टा, तस्य सर्व्वथा सर्व्वप्रयत्नतो रक्षणमेव बुद्धिमत्ता कोटिं संरोहति प्ररोहति चानन्तधारणाधाराम् । अपि यदि

कश्चिदसौमकायक्लेशेनोपरभूमौ जलसेकादिना शालीनुत्पाद्य  
पश्चादिभ्यस्तद्रक्षणार्थं वृत्तिं न वध्नीयात्तर्हि कस्तावत् लोक-  
व्यवहारज्ञं बुद्धिमन्तं तमभिधास्यति ? अपि च यदि कश्चि-  
च्छिली व्याघ्रादिजन्तुसङ्कीर्णान्महारण्यात् चन्दनादिमाहाव्यं  
काष्ठं संगृह्य तनातिशयितजनचित्ताह्लादकरीं मूर्त्तिं निर्माया-  
लस्यात् रौद्रवृक्ष्युपचिते विविक्ते निधाय नाशं नयेत् तर्हि तं  
मूर्खमन्तरा क एव निर्दिशन्ति परमविधेया विद्यावन्तोऽत्र  
जगति ?

अपि नामात्मार्थमेव सुबहुधा प्रयतमानोऽपि यदि तद्रक्षणं  
सावधानः प्रयत्नैकतानश्च न भवेत् तर्हि किमतोऽधिकं जाय-  
पारतन्त्र्यश्च संभवितुमर्हति ? आत्मना पुरुषस्यात्मलाभः सम्भ-  
वति । आत्मनैवापरिषामुपकारं सर्वथा विधातुमपि समर्थोऽस्ति ।  
आत्मनैवाप्रलयस्यापि यशोऽधिगन्तुं युज्यते । किञ्च बहुधा  
गिरा आत्मनैव पुरुषेष्ठितं धर्मार्थकामरूपं वर्गत्रयमर्जितुमुत  
चरमपुरुषार्थाभिधमपि परमानन्दसन्दोहं परमपदमोक्षमध्या-  
सयितुं सततं समर्थोऽस्ति । नितरामात्मैव सारात् सारतरो  
नितान्तेष्टश्च प्राणभृतां नान्यस्तादृश इति किमस्ति वादोऽत्र ?  
यतश्चात्मनोऽभावे हि यदात्मनोनमध्यवस्यते तदेवान्यदौयं भव-  
तीति परिकल्प्यते महानुभवैः सम्यैः । “आत्मैवात्मनो बन्धुः”  
इति महाजनवाक्यम्, परमात्मसत्तायामेवापरस्य सत्ता, तदभावे  
न तावदेकस्यापि सत्ता, सर्वस्याभाव एव सर्वथा परिगण्यते  
गणयिता अतिमात्रम् । तदुच्यते हि केनापि कविना :—

“चेतोहरा युवतयः सहृदोऽनुकूलाः

सदाकथवन्धाः प्रणतिनम्रगिरश्च भृत्याः ।

गर्जन्ति दन्तिनिवहाश्चपलास्तुरङ्गाः

मम्मिलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति ॥” इति

प्रत्युत जनस्थलान्तर्गतचारिणां प्राणिनामात्मापेक्षया कश्चिन्नास्त्यपरः प्रियः । दृश्यते हि प्रत्यङ्गलितकुष्ठौ रोगव्यथया प्रतिक्षणं पौष्ट्यमानोऽपि आत्मरक्षार्थं सन्ततं यतते । एवमपि च मुहूर्त्तापचिते यस्यामयिणो भवन्तीला समाप्तिरेष्यति सोऽप्यात्मार्थं हालाहलं पातुमुष्महन् । अतएव सर्वथा सर्वयत्नेनादौ न पञ्चात्मा रक्षणीयः पुंशामित्युक्तं नयधर्मप्रवर्तकैः सूक्ष्मदृष्टिमद्भिः परमपुन्यैः—

“आपदर्थे धनं रक्षेद्द्वारान् रक्षेद्द्वारैरपि ।

आत्मानं सततं रक्षेद्द्वाररपि धनैरपि ॥

किञ्च—त्यजेटेकं कुलस्यार्थं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत् ।

देशस्यार्थं तथा ग्राममात्मार्यं सकलं त्यजेत् ॥” इति

अन्यदपि च तत्रावितथं वचः “पूर्वमात्मा ततो बन्धुस्ततो देशस्ततो जगत्” इति । परमा नीतिरेषा समलं करोति पुरावृत्तग्रन्थानां पृष्ठातः पृष्ठान्तरं बाहुल्येन । यथा—पुरा चैत्रवंशसमुद्भवो राजा सुरधः प्रवतारिभिः परिभूय पुत्र-कलत्रादीनि विहाय मृगयाव्याजेन हयमारुह्य मेघसाश्रमं गत्वात्मानं परिरक्षत् । एवमपि च सत्यैकनिष्ठः परमविधेयो युधिष्ठिरः कैतवानुचित्यं जानसपि अनेकत्र तथानुष्ठितम्, यथा

विराटराष्ट्रे मिथ्यानामादिप्रचारबाहुल्येन तत्रत्यान् सपत्न्यांश्च वञ्चयित्वात्मानं नानाविपद्भ्यो रक्षितवान् । गौतमश्चापि कृतोपकारिणं नाडौजङ्गमात्तरक्षाथं व्यपाद्यात्मानं समुद्धार । एवञ्च महर्षिर्विश्वामित्रश्चात्तरक्षाथं ब्रवपच इव सारमेयपिषितमश्वित्वात्मानं जीवयामासेत्याद्यनन्ता कथा विद्यते पुराणग्रन्थोदरे ।

अतएव सर्वथा वक्तुमुपयुज्यते यदिह कलत्र-पुत्र-पौत्र-मित्र-धन-कनकादिसमृद्धिभिरपि येन केनाप्युपायेन चात्मावश्यं रक्षणीयः प्राणभूताम् । तत्परिरक्षणे भाविनि काले यथापूर्वं तदधिकं वा सर्वं सुसमाधायितुं समीहते लोकः । परमात्मनि विनष्टे न किमपि भवितुमर्हति सर्वसुखोपचितायां वसुधायां किञ्चिदपि जनस्य । अतो येन केनाप्युपायेनात्मा सुरक्षणीय इति नीतिविदामभिमतम् । अतएव जलदनिर्घोषिणोच्यते—  
“आत्मानं सर्वतो रक्षेत्” इति किमधिकेन वचसा ।



“न हि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते”

इह खलु संसारे ‘सुखं मे भूयात्, दुःखं मे माभूत्’ इति सततं दुःखं ज्ञातुं सुखञ्च लब्धुमभिलसन्ति जन्तवः । न हि किल दुःखस्योच्छेदमन्तरेण सुखस्य सम्भवः, तेजस्तिमिरयोरिदं तयोः समानाधिकरणासम्भवात् ।

दृश्यते तावदत्र यत् क्षुद्रं महदपि च कार्यमुदयापयितु-

मिश्रणा स्वल्पमनैर्लभ्यं वा दुःखमन्तरेण न समासाद्यते कर्मणः शुभमयं फलम् । यथा हि दृष्ट्वाविशुष्ककण्डः कश्चिदुदकार्यो अध्वगमनजं दुःखमृते जलपानजनितं विमलानन्दमभिलब्धुं न समर्थयते । तथाश्वमेधवाजपेयादियाजौ नानाविधं काय-  
क्लेशं शतशः कठोरं विधिवोधितकार्यानुष्ठानसम्भवं दुःख-  
मनुभूय परिणामे इन्द्रचन्द्रादिपदवीं चिरममरावासवांसं कल्पान्तस्थायि सुखञ्च समुपगच्छति । एवञ्च केनचन जन्म-  
मरणाधिव्याधिजराजौर्नैत्वमभिमवितुमिच्छन्ना महापुरुषरत्नेन केवल्यार्थम् इन्द्रियान् विनिगृह्य, रिपूनभिभूय, प्रचण्ड-  
मध्याह्नमाचूर्ण्य तापे समन्तात् सन्निवेश्य वस्त्रम्, गुरुकठोरैऽपि तुषारपाते सलिलमवगाह्य, ऊर्ध्वाधोविपरीतभावेन संस्थाप्य पादशिरसौ, तथाविधानि अन्यान्यपि च कायक्लेशकराणि कार्याणि बहुजन्मनि समाचर्य अनन्तकोटिदुःखमनुभूय च  
आत्मानं साक्षात्कृत्य निर्व्वीणपदं लभ्यते । नितरां दृश्यते तावद् यद्यदेव हितमामनन्ति आर्य्यमिश्राः, न तत्तदधिगन्तुं महदपि वा लवमानं वा दुःखमन्तरेण न सुखयतितराम् । एवमपि च निसर्गैत एव जन्तवः परिणामसुखाभिलाषिणः सन्तो दुःखसाध्यं कार्य्यजातं समनुतिष्ठन्तः सुखं लभन्ते । तत्र केऽपि दरिद्रा धनिकसुखाभिलाषिणः स्वयोग्यतामनुसरन्तः परिश्रमशीलाः क्षुत्पिपासादिगुरुकठोरक्लेशमगणयन्तः । सागराम्बरां वसुधां पर्थ्यन्तो लब्धधना दुःखविनिमयेन धनिकसुखं लभन्ते, केऽपि वा पारत्रिकसुखैषिणो व्रतोपवासादिविधिविहिताशेषकार्य्य-



जातानुष्ठानक्लेशाद्विरतिशयं दुःखं प्राप्य स्वर्गसुखं साधयन्ति ।  
 केऽपि च गुरुशुश्रूषापरवासाध्ययनादिक्लेशैर्लब्धज्ञानास्तीर्थादि-  
 पदवीं समासनाः पित्रादीनां निरतिशयामानन्दधारामुत्पाद-  
 यन्तो नानासुखं समनुभवन्ति । ध्रुवप्रह्लादहरिश्चन्द्रादीनां  
 बह्वनामेव राजर्षीणां पुराणाख्यायिकाश्च प्रकृष्टप्रमाणम्

तथाच—आसेत् वेदप्रियो नाम कश्चिद्ब्राह्मणः भिक्षालब्धेन  
 भक्ष्येण क्रमशस्त्रीणि दिनानि यावदतिथिं परिपूज्य निःस्त्री  
 भूत्वा भूयो भिक्षया गृहस्थपीडनं विसृज्य भिक्षाविमुखः  
 फलमूलार्थी पत्न्या समनुगम्यमानो वनं विवेश । तत्र च  
 कालवशादसौ कालभोगिणा दष्टः सृतश्च, ततस्तत्पत्नी शुभव्रतं  
 नाम कुमारं प्रतियेशिनो हस्ते समर्प्य सहसृताभूत् । ततो  
 गच्छति काले स बालः वयस्यसविधे स्वपितोरश्रुतपूर्वमुद-  
 न्तमाकर्ण्य बहुधा विललाप । ततस्तु निजदौर्भाग्यमालो-  
 चयन् जगदाश्रयं परमेशमाश्रयितुं कृतसङ्कल्पः, उपनेतुः  
 सकाशात् कावेरीतीरमाससाद । तत्र कञ्चैरेव तपोभिर्भगवन्त-  
 माराधयामास । ततस्तस्य तपःप्रभावेण समुपागतो नारायणः  
 सन्तृतया गिरा शुभव्रतं सन्तोष्य ब्रवीति—

“उन्मील्य नयनं वत्स ! पश्य मे रूपमव्ययम् ।

अमौष्टं वृणु नो किञ्चिददेयं तुभ्यमस्ति मे ॥”

इति । शुभव्रतश्च विगलिताश्रुः सगदगदमाह—भगवन्  
 समागतोऽसि ? त्वमतिकठोरः खल्वसि, पश्य मे दुर्दृशम्,  
 तपोदुःखात् कङ्कालमात्रं शरीरं, त्वच्चरणसंस्पर्शने न मे करौ

अभवतः व्यग्रं, वाक् च सम्यक् प्रसक्तुं नालम् । घोराश्वकार-  
तश्चावृणोति मे चक्षुः पिपासया नितरामर्द्दितोऽस्मि । इयमेव  
समुपस्थिता दीनस्य शेषदशा, इत्थं करोव्यमानः । शुभव्रतो भूमौ  
निपपात । ततो हि भगवान् तमङ्गे निधाय प्राह—हंहो वत्स,  
तपसा परितुष्टोऽस्मि, अतो निखिलज्ञानविज्ञानादिसमग्र-  
विभूतीनां त्वमेव आश्रयो भूयाः, इति वरं दत्त्वा ब्रवीति—  
अयि पुत्रक, तपःप्रभृतिसदनुष्ठानदुःखमन्तरेण कुतः सुखस्य  
सम्भवः ? जगति यानि यानि पदानि सन्ति, तानि तपः-  
क्लेशलभ्यानि इत्युक्तान्तर्दधे ।’

वस्तुतः समवलोकयामो यदत्र राजधर्माधिकरणिकपदा-  
दारभ्य यान्यपि वर्तन्ते यशस्कराणि सुखमूलानि कार्यप्रप-  
ञ्चानि, तानि दुःखमृते न लभ्यानि । धर्माधिकरणिकपदप्रार्थी  
बहुकष्टाज्जितप्रचुरधनक्षयजनितं क्लेशं अध्ययनचर्चासमुत्थं  
दुःखञ्च सहित्वा पश्चात्तत्पदं लभते । इत्यमेव बहुशः वर्तन्ते  
दृष्टान्ताः, बाहुल्यभयेन परित्यक्ताः । अतः सुष्ठु तावदभिहित-  
माचार्य्यपादैः यत्—“न हि सुखं दुःखैर्लिना लभ्यते” इति श्रम् ।

“आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः”

न लसति न सोत्साहेन कार्याणि विदधातीति ‘अलसः’,  
उत्साहरहितो जनः तस्य भावः, आलस्यम् । आलस्यान्वितो  
नरः न जगतामात्मनश्च किमपि सौख्यम्, हितञ्चापि कर्त्तुं  
सुसम्पादयितुं प्रभवति ।

दृश्यते च जगत्पत्रे प्रायश एव तादृशो मन्दभाग्यः, बाल्ये  
वयसि अनृतेन वचसा हितकामिनो गुरुन्, स्नेहमयं पितरं,  
महोयसीं मातरञ्च प्रतार्य कृतस्त्रं दिनं रुजाव्यपदेशेन  
किमपि वा करचरणहृद्रोगादिविविधदुर्हमनीयव्याधेरुत्पत्ति-  
लक्षणं कल्पयित्वा आत्मौयानां मनसि सुसमानयति स्ववियोगजं  
दुःखदेन्यम् । सम्भाव्य च तस्मान्निखिलस्नेहैकायनस्य सुतस्य  
विच्छेदं पिता तस्य शिक्षायां सर्व्वथैव भवति मन्दादरः,  
तेन च प्राप्ते वयसि शिक्षाशून्यतया पदे पदे समनुभूय  
दुःखं जठतदेन्यमपनेतुं न कथञ्चिदपि समर्थोऽस्ति स  
खलु वकारः । अत एव उन्नतिकामिनामवधारणार्थं कलकण्ठेन  
संगीयते नीतिशास्त्रचतुरचूडामणिना महापण्डितेन विष्णु-  
शर्माणा—

“षड्दोषाः पुरुषेणैह हातव्या भूतिमिच्छता ।

निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥” इति

समवलोकयामो वयं इह तावन्नोक्ते केऽपि धर्मार्थं, केऽपि वा

अर्थसिद्धये, केचन कामाय, केचन वा मोक्षार्थं, केचित् त्रिवर्ग-  
हतोः, केचिद्वा चतुर्वर्गफलप्राप्तये अल्पमनस्यं शरीरपातपर्यन्त-  
मपि वा यतन्ते । तत्र यद्यपि दैवगत्या कश्चिद्विफलकामो धर्मार्थ-  
कामानां किञ्चिन्मात्रलाभात् पर्यप्तासमिति मन्वानः परिभवति ।  
कोऽपि वा यावत् प्रज्ञाबलं, यावच्च सामर्थ्यं, तावदेव यतन्  
भाग्यानुरूपं फलं लभते, केऽपि वा आमरणान्तं यतमानः अवशेष-  
दर्शनलीलुप आस्ते । कश्चिद्वा निर्व्याणार्थं धर्मार्थादीनपह्नाय  
मोक्षचेद्वमारोहति इत्येवमुद्देश्यवस्तुनि प्रयतमानानां साधूना-  
मुच्चपदवौमनुसर्तुमनलसः एव सर्वथा अधिकारो, किन्तु नाना-  
गुणसम्पन्नोऽपि अलसः किञ्चिन्मात्रमनुसर्तुं नार्हत्येव ।

अस्य च रिपोः प्रभावात् अङ्घ्रिं वानपि खञ्जवदास्ते, धृतकरोऽ-  
पि नादत्ते, श्रुतिमानपि वधिरतां भजते, चक्षुष्यानपि नावलोक-  
यति । प्रत्यक्षतोऽपि दृश्यते बुद्धिमानपि विद्यार्थी आलस्यप्रभावा-  
दध्ययनं परिहरन् तत्त्वोपदेशतः चिरं वञ्चितो भवति ।  
नितरां यानि यानि खलु वर्तन्ते मनुजानामतिप्रकष्टसुखा-  
वहानि कार्याणि, यानि च तेषामवश्यकर्तव्यानि तेषु तेषु  
सदा परान्मुखत्वेन क्षीणा भवति अत्युत्तमापि जीवनगतिः,  
प्रक्षीणश्च संसारसुखं, नष्ट एवास्ते स्वजनस्नेहः, एवञ्च प्रति-  
कार्यं समासाद्य सुमहन्तमेव विघ्नमन्तर्दुःखेन भृशं ज्वलति  
शुष्ककाष्ठलम्भवद्भिरिव कृत्स्नं जीवनम् एवमपि च सर्व-  
सुखनिदानरूपेण स्वाधीनतासुखेन नूनं प्रवञ्चितो दुर्भाग्यः पर-  
सुखापेक्षितया स्वशरीररक्षणोपायपरिचिन्तनेऽपि घटते शिथिल-

प्रयत्नः, सुतरां क्षुधया पिपासया वा शुष्ककाण्डतालुरपि पाद-  
मेकसुपष्टस्य सन्निहितं भक्ष्यं पानोयं वा ग्रहोतुं न समर्थोऽस्ति  
जाड्यप्रभावेण ।

दृश्यते तावत् लौकिकव्यापारेषु यमेव शत्रुसंज्ञया परि-  
गणयन्ति सव्याः । स तु एकैकविषयमवलम्ब्य सूचयति अन-  
र्थान् । तथाहि—एको विषयाधिकारेण, अपरश्च स्वाधीकार-  
पदवीं लब्धुमिच्छया, तथान्यः ऋद्धिमतः धनकनकलाभेन,  
केऽपि निन्दया, केऽपि वा स्वार्थभङ्गवाधाशङ्कया परस्परं  
वैरायते, किन्तु ते हि सपत्नयः कति दिनानि, कति मासान्,  
कति वत्सरान् वा विपक्षतामाचर्य स्वाभौष्टं प्राप्य किमु  
कालवशेन प्रतिनिवर्तन्ते, परन्तु आलस्यं नाम महानिव शत्रुः  
आवाल्यात् निधनं यावत् सर्व्वस्वमधिकृत्य इहामुत्र फले च  
वञ्चयित्वा लोकान् परमदुर्गतपथमधिरोहयति सर्वात्मना  
जगत्सुषिन् ।

दयादाक्षिण्यनञ्जतादिभिरतिविनयो माणवको गुरुमुखाल-  
ब्धोपदेशोऽपि आलस्यसेवया प्रणिधानाभ्यासाचरणवैमुख्यादुपदेश-  
साफल्यं नापद्यते । तथाहि—

“इतरैरामिह गुणानामाधारे प्रियालसमाणवको च ।

प्रयत्नादपि न्यस्तो न भविष्यति फलवानुपदेशः ।” इति

देवगत्या प्राप्तञ्चैः श्रियमभिलषन् वा अलसो जनः सर्व्वथा  
तथा वञ्चितो भवति । अत्रास्ति विद्यापतिप्रणौतपुरुषपरौक्षा-  
यामेका हास्योद्दीपिनी उपकथा !, तथाहि—

आसीन्मिथिलाप्रदेशे वीरेश्वरो नाम कश्चिन्मन्त्रो । स च  
स्वभावादानशोलः परमकारुणिकश्च सर्वेभ्यो दीनानामातुरपङ्ग-  
खञ्जवधिरासमर्थवृद्धेभ्यः प्रत्यहमिच्छाभोजनमर्पयति । तथा  
अलसेभ्योऽपि भाज्यं प्रयच्छति । तेन हि परमसुखेन ते  
दिनानि व्याहृत्यासते ।

अनन्तरं तेषां सुखं दृष्ट्वा वज्रका अपि कृत्रिमालस्यं दर्श-  
यित्वा तैः समं पिण्डं गृह्णन्ति । तदनन्तरमलसागारे बहु-  
द्रव्यचयं दृष्ट्वा तन्नियोगिपुरुषैः परामृष्टम्—‘यदक्षमबुद्ध्या  
करुणया केवलमलसेभ्यः स्वामी वस्तूनि अर्पयति, तानि कपटेन  
निरलसा अपि मारिगृह्णन्ति, तर्हि मामकानां प्रमादः ।  
यदस्मद्दोषेण स्यामिधनं वृथा नष्टं भवति, तर्हि वयं  
प्रत्यवायिनो भवामः, अतः अलसपुरुषाणां परौक्षां कुर्मः’ इति  
परामृष्ट्य प्रसुप्तेषु तेषु अलसशालायां ते नियोगिपुरुषाः वज्रिं  
दापयित्वा निरूपयामासुः । ततो गृहलङ्घनं प्रवृद्धमस्मिं दृष्ट्वा  
धूर्त्ताः सर्वे पलायिताः । किञ्चिद्विलम्बेन ईषदलसा अपि  
निर्गताः, किन्तु, चत्वारः पुरुषाः तत्रैव सुप्ता अन्योऽन्यमाल-  
पयति । एकंन पटाञ्छादितवक्त्रेण उक्तं—‘अहो ! कथमयं  
कोलाहलः ?’ द्वितीयेनोक्तं—‘तर्क्यते अत्र हि गृहे अग्नि-  
लङ्घनोऽस्ति ।’ तृतीयेनोक्तं—‘य इदानीं जलाद्रवांसोभिः  
कटैर्वा अस्मानावृणोति ।’ चतुर्थेनोक्तं—‘अहो ! वाचालाः,  
कति वचनानि वक्तुं शक्नुयः ; तूष्णीं तिष्ठथः । ततश्चतुर्णा-  
मपि परस्परालापं श्रुत्वा प्रवृद्धं वज्रिश्चापि लमवलोक्य

वधभयेन चत्वारस्तेन नियोगिपुरुषैः बहिष्कृत्य रक्षिताः । इति  
सुभाषितं परमविदुषो विद्यापतेः ।

यद्यभावेण जीवनपातमपि नागण्यन्तः अलसाः, ततोऽ-  
धिकं किमिहास्ति हेयास्यदम् ? सर्वापदामाश्रयस्थानञ्च ?  
अतः साधु खलु कीर्त्यते, निखिलकरतलामलकवद्दर्शिना  
नीतिज्ञेन—‘अलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः’ इति ।

“प्रौणाति यः सुचरितैः पितरौ स पुत्रः”

जगत्पन्थिन् ययोरनुग्रहेणैव तनयाः सुखमयं संसारं  
सर्वसौन्दर्यनिदानं ज्ञानञ्च अधिकृतुं शक्नुवन्ति । ययोरेव  
प्रयत्नेन स्वस्वभक्ष्यं गृहीतुमपि प्रभवन्ति । ययोर्मन्दाकिनी-  
पूतधारा एव पवित्रस्नेहप्रवाहाः त्रायन्ते सुतान् कलुषसमूहात् ।  
यौ हि स्त्रीयतनुक्षयसम्भवेनापि कर्मणा, हेलया सर्वस्वं विनि-  
मयेन च सुखयितुं कामायेतेऽतिमात्रम् । यावेव क्षुधादृष्ट्या  
च जठरददृष्टमानावपि विभूतः तनुजान् । यावेव च आजन्मा-  
र्जितकष्टलब्धेनापि वभवेन शिक्षायै कल्पयित्वा ‘मनुष्यपदवीं  
समानयतः स्वाङ्गजान् । तौ परमकारणिकौ पितरौ कल्प-  
पादपाविव कठोरायामपि संसारकर्मभूमौ समुपदिशन्ति आर्य-  
मिश्राः । तयोरेव प्रत्यक्षदेवतयोरुपासनमपचाय यददृष्टचरं  
देवमुपासन्ते साधकाः, तद्धि तेषामज्ञानान्धता एव भूमिः ।

न चानयोः स्नेहेन समं किमपि वर्तन्ते विषयाः, अन्यान्यपि च निरुत्तमानि वस्तूनि, यत्तावत् पित्रोः स्नेहपवित्रधारायाः शतांशेन सह तेषामनुकर्तुं शक्नुवन्ति कथञ्चिदपि ।

यावदपोगण्डा एव वर्तन्ते अर्भकाः विषममृतञ्च तुल्यमूल्येन परिगृह्णन्ति, हितमहितञ्च परिकल्पितुं न प्रभवन्ति, तर्हि प्रतिनियतच्छायिव पश्चादनुसृत्य पितरौ रक्षतः निखिलपापतापात् । कठिनव्याधियस्तेषु च तनयेषु अवस्थातिरिक्तेनापि धनक्षयेण सुयोग्यचिकित्सकान् विनियोज्य भटिति निरामयं कर्तुं समोहिते परमसंख्यानि देवकार्याणि च समनुष्ठाय विपदमपाकर्तुं निरन्तरमेव यतेते । पुत्रसुखस्वाच्छन्दार्थं पिता वर्षा-तपादिस्वभावप्रभवं गुरुकठोरमपि कार्यमकरणायामपि दस्य-तस्करवृत्तिञ्च समालम्बितुं न कथञ्चिदपि वितर्कयति । इत्थं कति कति समाकलयामो महीयसोः पित्रोर्माहात्म्यम् । अनन्तयुगकोर्त्तनेनापि तयोः महिमानं व्यक्तोक्तुं न समर्थोऽस्ति भोगिराजवासुकिरपि रसनासहस्रेण । तयोः परिचर्या स्वर्गद्वारमनन्तधर्मसमवायं कृत्स्नं तपसः फलञ्च समा-नयत्यतितरां नवनीलनौरदनिर्घोषेणापि नितरां समवगायन्ति आर्यपादाः—

“पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः ।

पितरि प्रीतिमापन्ने प्रियन्ते सञ्जदेवताः ॥

पृथिव्यां गुरुतरा माता गगनादुच्चतरं पिता ।” इत्यादि,  
अहो ! त एव धन्याः ये तावत् प्रत्यक्षदेवतयोः पित्रोः



प्रीतिमुत्पादयितुमर्हन्ति । समवलोक्यते च पिता पुत्रार्थे  
 कां कां नाम निज्जष्टां वृत्तिमनभ्यस्तां क्रियाञ्च नाधिगच्छति ?  
असीमविलाससामग्रौ-सुसज्जित-हर्मतलवासो अपरिमितानु-  
गतदासदासोजनजष्टौ धनेश्वरः नानाविधबहुसुखसम्भोगपरोऽपि  
 च ऋते पुत्रप्रीतिं सम्यक् तदनुभवितुं नालम्, अपि तु  
 नितरामनिवृत्तिमेवावस्थते । अपि चेत् लभते तदनुपमं  
 पुत्ररत्नं देववशात् तन्निरन्तरं परिहाय स्वसुखसृष्ट्या तमेव  
 सुखयितुं समोदते समन्तात् । सत्यपि सेवकजने स्वयमेव तत्-  
 परिचर्यापरोभूत्वा आत्मानं बहु मन्यते । दौनस्यावद्-  
 आयासबाहुल्येन स्त्रोदरपूर्तिं कुर्वन् भिक्षालब्धेनैवाग्नेन प्रति-  
 पालयितुकामः कामयते सर्वथा पुत्रम् । ईदृश्यत्रबाहुल्य-  
 लभ्योऽसौ तनयः कौटुशलक्षणलक्षितः पितृणामानन्दमातनोति  
 सम्यक् तन्निश्चेतुं वयमसमर्थाः स्मः । शास्त्रवाक्यं पुनर्जीवितो-  
 वाक्यपालनं, मृत-तिथौ विप्रेभ्योऽन्नप्रतिप्रादनं, गयायां पिण्ड-  
 दानमित्यादि । तथाहि—

“जीवतो वाक्यपालञ्च मृताहे भूरिभोजनम् ।

गयायां पिण्डदानञ्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥” इति

इहन्तु ! खलु महतो महीयसः पितुरविचारितेनैवाज्ञा  
 परिपालनीया पुत्राणाम् । पिता हितमहितं वा युक्तमयुक्तं  
 वा कठोरमकठोरं वा नययुक्तमनयपूर्णं वा यद्व्यदादिशति,  
 तत् सर्वथा विधातव्यं पुत्रैः । पित्राज्ञानुसंशीलयतस्तनयस्य  
 वचनमिदम्—

“पितुर्हि वचनाद्देवि पतियमपि पावके ।

भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चाणवे ॥” इति

न चैषा साधारणी वाणी, न चानन्यसाधारणं महत्त्वम् ;  
यत् श्वस्तनं यौवराज्याभिषेकमपह्नाय रामचन्द्रस्य तादृशो वचन-  
प्रवृत्तिः । धन्यो रामचन्द्रः । धन्या तस्य पित्रभक्तिः ॥

अपरस्य सोमवंशप्रसूतस्य शान्तनुनन्दनस्य भौषस्य पित्र-  
सन्तोषार्थमविवक्षितभावेन ससागराया धरण्याः परित्यागः  
स्मारयति पित्राज्ञानुवर्तित्वं जनानां मनांसि अतिमात्रम् ।

ततैतयतः क्षत्रियकुलचूडामणिः पूरुरेव समाकर्षति चेतनानां  
चेतः । स तु यौवनसुलभं सुखजातं तुच्छं दृणवन्मन्यमानः पितु-  
र्यथातेजराग्रद्वेणेन तमतितरामतपीत् । पित्राज्ञानुवर्ती तनयः  
स्वर्गराज्याधिगतोऽपि रौरवचरः, महाधनेश्वरोऽपि दीनहीनः,  
मवेसौभाग्ययुक्तोऽपि मन्दभाग्यः । येन हि निखिलेश्वरगुणो-  
पेतस्य जनकस्य वचनपरिपत्यौ सुखं तु मन्दभाग्यः । यस्य ईष-  
टपि निश्वासपवनः प्रपच्यति कलुषपुञ्जमात्मजस्य । शास्त्रवाक्यं  
तावत् पुत्रात्मनरकपरित्राणात् मातापित्रोः पूततासम्पादानात्  
पित्रोरवशिष्टकर्मसम्पादनाच्च पुत्रत्वं विज्ञापयति । यथाहि—

“पुत्रान्नो नरकाद् यस्मात् व्रायते पितरं सुतः ।

तस्मात् पुत्र इति ख्यातः स्वयमेव स्वयच्छ्रवा ॥” इति

तेषु पुनः किं लक्षणमस्माभिः स्मर्त्तव्यमिति चिन्तनीयम्,  
सद्यःप्रसूतपुत्रस्य सुखसन्दर्शनादेव नरकत्राणं पुनरस्मादृशानाम-  
दृढचेतसां स्मर्त्तुमयोग्यम् । देहावसानात् परं पिण्डदानादिभिः

पितृत्वसिद्धिमाधनमपि कर्मणामतिशयितानामसाध्यत्वात् तत्  
सुसम्पन्नं स्थानवेति महानसौ संशयः । अतो मन्यामहे सर्वथा-  
विचलितभावेन शास्त्रवाक्यमनुष्मत्तव्यं सत्पुत्राणां यत्—  
“प्रोणाति यः सुचरितैः पितरौ स पुत्रः” अथवा “पिता स्वर्गः  
पिता धर्मः” इत्यादि । कृतमधिकवाक्प्रपञ्चेन, इति ।

### “परोपकरणं कायादसारात् सारमाहरेत्” \*

परोपकरणं किल विपन्नानां तथा दुर्गतानामपि उद्धरणम् ।  
ये तावन्महान्तः जरामरणसङ्कले संसारसङ्गनि जलबुदुबुदो-  
पमं जीवितमासाद्य परार्थे सर्वस्वमर्पयन्ति, ते हि दयावतारा  
नरविग्रहरूपैरमरपुरविलासिनो वपुष्मन्तः धरामलं कुर्वन्ति ।  
ते च कायेन मनसा वाचा तथा अन्येनापि येन केनचनोपायेन  
परान् सन्तोष्य आत्मानं बहुमन्यन्ते । त एव खलु धन्याः  
महाजनगणैरभ्यर्चितचरणाः सार्थकजन्मानो महापुरुषाः । अन्ये  
ये पुनः स्वार्थसिद्धिमभिसन्धाय परदुःखमपाकर्तुमभिलषन्तः,  
तेऽपि किल कियतो साधुपदवीमनुगन्तुं प्रभवन्ति । धार्मिक-  
गणनायां तेषां नामानि च नयनपथे समवर्तन्ते सामाजिका-  
नाम् ।

दृश्यते तावत् स्वार्थलेशपरिशून्यानां परसन्तुष्टमात्रो-

\* परोपकाराय सतां विमूर्तिः ।

पचितमनुसां विधातुः नियमशृङ्खलेन कालैर्द्दिनैर्हायनेर्वा समुप-  
जायते तेषां स्वार्थाधिकापि विपुला सिद्धिः । न चापि सुख-  
दुःखमयेऽस्मिन् संसारे तादृशा एव संख्यावन्तो विरलाः, ये पुनः  
सत्सिद्धामाहात्म्येन अन्यदौयार्थे आत्मानं बलिमुपहर्तुं  
नार्हन्ति । केचन निसर्गत एव दयाप्रवणहृदयाः जातिः स्थानं  
पादमपादञ्च नासमोच्य आर्त्तदुःखमपनेतुं यतन्ते । आहुस्ता-  
वदार्यपादाः—

“ते वै सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थस्य बाधेन ये

तेऽमी मानुषमध्यमाः परहिताः स्वार्थाविरोधेन ये ।

ते वै मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये

ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥” इति

इह तावच्चक्रनेमिवदेव सुखदुःखैः संपृक्तमाने जगति न  
कस्यापि भागधेयस्य क्लृप्तेन सुखं दुःखं वा चिरमवतिष्ठेते । न  
वा एकदा यः परमदुर्गतः, अन्यदा स तथाविध एव संवृत्तः ।

उक्तञ्च—

“कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।

नीचैर्गच्छत्यपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥” इति

यद्यप्येवमृते संसारे एकस्य व्यसने अपरः सहानुभूतिमास्थाय  
स्त्रीयसामर्थ्यानुरूपं यतते । तर्हि तस्य विपदि सोऽपि यथाशक्ति-  
साहाय्यं विधास्यतीति जगतो निसर्गनियमः । किन्तु अशेषगुणा-  
स्यदोऽपि स्वार्थपरश्चेत् सर्वथैव घृण्यते परमविधेयैराचार्यमिश्रैः ।  
नितरां सर्वेषामेव परोपकरणमवश्यमेवावलम्बनीयम् । इह

तावत् वर्तन्ते धर्मार्जनार्थं यावन्तिवर्त्मानि परोपकरणं हि  
तेषामेकतममतिप्रशस्यं वर्त्म । परोपकारिणी सृता अपि सुम-  
नस इव जगत्पत्र राजन्ते । किं बहुना परममङ्गलमयस्य  
भगवतो नामनिकरेण समं परोपकारिणामृतुपर्णयुधिष्ठिरनल-  
प्रभृतिभूपालानां नामानि कङ्कौर्त्य विभावरो सुप्रभातां मन्यन्ते  
मनुजाः । उक्तञ्च—

“शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।

शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तःस्थायिनो गुणाः ॥” इति

परदुःखं हातुमभिलषन्तो महान्तः जीवनपातसम्भवतोऽपि  
कर्मणो न विरतिमालभन्ते । तथाहि—

एकदा राजाधिराज उज्जयिनोपतिमंहात्मा विक्रमादित्यः  
स्वसचिवेषु धराभारं निधाय यतिवेशेन पर्यटन् कदा कस्मिं-  
श्चिन्नगरोपकण्ठे भागिरथीतोरधौतपाददेशं किमपि देवाय-  
तनमगच्छत् । तत्र देवगृहे बहवो महाजनाः पौराणिकात्  
पुराणं शृण्वन्ति । राजापि नद्यां स्नात्वा देवालयमुपगम्य देवं  
नमस्कृत्वा महाजनान्तिके उपविष्टः । तस्मिन् समये पौरा-  
णिकाः पुराणवाक्यानि पठन्ति—

“अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।

नित्यं सन्निहितो सृष्ट्यः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

श्रूयतां धर्मसर्व्वस्वं यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥”

इत्यादि पुराणकथनसमये कश्चित् स्थविरो ब्राह्मणः भार्य्याया

सह नदीमुत्तरन् देवगत्याभसि निपतितः । महापूरेण नीय-  
मानो हाहाकारं कुर्वन् नदीमध्ये स महाजनान् प्रति वदति—  
'भो भो महाजनाः, धावहं वृद्धः सपत्नीको ब्राह्मणोऽहं  
नदीप्रवाहेन बलात् नीयमानः । कोऽपि सत्त्वाधिको धार्मिको  
मम सपत्नीकस्य जीवनदानं करोतु, इति जले नोद्धमानस्य  
दीनध्वनिं श्रुत्वा महाजनाः सर्वेऽपि सकौतुकं पश्यन्ति, परं  
न कोऽपि नदीमध्ये प्रविश्य प्रवाहादपनेतुं तस्मै अभयं प्रय-  
च्छति । ततो राजा विक्रमो 'मा भवीः' इत्युक्त्वा नदीमध्ये  
पत्न्या सह ब्राह्मणं महापूरादाकथ्य तटभूमिमनयत् । ततो  
ब्राह्मणः स्वस्थीभूत्वा राजानमाह—'भो महासत्त्व, मदेतच्छरीरं  
प्राक् मातापितृभ्यामुत्पादितम्, इदानीं तत्त्वो द्वितीयं जन्म  
प्राप्तम् । अतः किमपि ते प्रत्युपकारः करणीयः । न चेत् अनन्त-  
कालं मे रौरववासः स्यात् । नितरां पुण्यतोयाया गोदावर्या  
उदकमध्ये द्वादशवर्षपर्यन्तं मन्त्रजपस्य पुण्यं तेऽद्य दीयते ।  
अन्यच्च, यत् कच्छचान्द्रायणादिना किमपि सुकृतसुपार्जित-  
मस्ति, तत्सर्वं गृह्णाण' इत्युक्त्वा महावाक्येन तत्पुण्यं भूपतये  
समर्प्य आशिषश्च दत्त्वा पत्न्या समं निजस्थानं गतः । अत्रान्तरे  
अतिभीषणः कायः कोऽपि ब्रह्मराक्षसः राजसमौपमागतः तम-  
वलोक्य भूपतिः साश्चर्यमाह—'भो भो महासत्त्व, कोऽसि  
त्वम् ?' तेनोक्तम्—'अहमत्रैव नगरे कश्चन ब्राह्मणः निरन्तरं  
गुरुन्, साधून् महतश्च दूषयामि, तद्गुणकृतिवसेनैव अस्मिन्  
अश्वत्थपादपे ब्रह्मराक्षसो भूत्वा अत्यन्तदुःखितो दशवर्षसहस्रं

तिष्ठामि । अथ भवतः प्रसादादुत्तीर्णो भवामि' इत्याकर्ण्य  
स भूपतिः तदेव पुण्यं तस्मै अदात् । सोऽपि राक्षसः तेन पुण्य-  
चयेन स्वकर्मणस्त्रौर्त्वा दिव्यरूपं परिगृह्य विविधव्यागुपन्या-  
सेन राजानं स्तुत्वा दिवं गतः । भूपतिरपि स्वनगरमगात् ।

वस्तुतः परोपकारिणां जगत्पत्र अर्थिभ्यः सर्व्वस्वदानम् उत  
जीवनार्पणपर्यन्तमपि शतशो दृश्यते दृष्टान्तः, नितरां “परोप-  
करणं कायादसारात् सारमाहरेत्” इति यदुक्तं तददिशोभन-  
मतिसमीचीनमत्यन्तसत्यञ्च वचः सुसूक्ष्मदर्शिनामिति कृतं  
बाहुल्येन ।

### “विनयो भूषणं महत्” \*

विनयो हि नाम चेतनानां चित्तोत्कर्षज्ञापको धर्मविशेषः ।  
स खलु सर्व्वेष्वेव गुणगणेषु गरीयान् । तेन परिहीनो नाना-  
गुणविमण्डितोऽपि विचक्षणः गर्हत्वमेवावहति प्रेक्षावताम् ।  
यैरेव गुणचयैः पुरुषा जगत्पत्र श्रेष्ठपदवीं भजन्ते, ऋते च विनयं  
ते हि तेषामपकर्षमेव ज्ञापयन्ति । विनयो तावत् सर्व्वाम्  
अवस्थासु तथा सुखेषु दुःखेषु वा तुल्यरूपेण समाकर्षन्ति परेषां  
मानसबलम् ।

स च विद्यया तथा वैभवेन विच्यतोऽपि स्त्रिया-

\* विनयस्य तुल्यो गुणो नास्ति ।

साधारणविनयगुणेन परान् नियम्य सर्वथात्मवशमानेतुं प्रभवति । स्वदेशेषु विदेशेषु च तस्य समानोऽधिकारः । किन्तु विनयहीनस्य सन्त्यपि च विविधगुणायामाः, वर्त्तन्ते चापरिमेयाः अर्थाः, तथापि ते हि केवलं सुधैव किंशुककुसुमानौव दूरत एव सुसम्पादयन्ति दर्शकानां नयनानन्दधाराम् । वस्तुतो विनयविवर्जितं नरं गर्वप्रतिभूर्त्तितया परिकल्पयन्ति सज्जनाः । यथैव च स्त्रीगुणचयेविवर्जिता कामिनी महाघरलालङ्कार-विमण्डितापि न सुखयति केषामपि चेतः, परं स्वकौयविन्न-कूटिकेन पदे पदे समावहति क्लेशम् । तथैव विनयपरिहीनस्य संसारकार्यनिबन्धेषु घटते महत्येव विदुष्वना, सम्भवति च तस्मादेव सञ्ज्ञानर्थस्य सूचना, समुपजायते ततोऽपि जीवनपातः ।

तथा च निखिलविभूतिसमान्वितस्य सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणो भगवतो नारायणस्य कुलसत्तमाः प्रख्यातशौर्यबलान्विता यादवाः पुरा किल तपोधनं महर्षिर्दुर्वाससमविनयेनावमत्य तदभिशापेन परस्परं विरोधमुत्पादयन्तः समूलमन्तकपुर-मवापुः । तथा पुनः सर्वसमृद्धिसम्पन्नाः महाहवविजयिनः प्रवलबलवाहनाः दुर्योधनादयः कौरववीरमुख्याः केवलमविनय-दंष्ट्रेणैव अपूर्णैर्नैव संसारसुखेन कालकवलिताः बभूवुः । अन्ये च शिशुपालदन्तवक्रादयोऽपि समरकुशलिनोऽपरिमेययोद्गुण-विमण्डिताः महीपालाः विनयहीनतया अकाले परैतराजभव-नातिथित्वमुपाययुः । \*

इत्यमेवाविनयस्य परिणतिं समवलोक्यामनयन्ति सज्जना



यत् प्रभूतपयसि लवमात्रमपि गोमूत्रं तावन्ति दुग्धानि  
दधित्वेन परिणमयति । तद्वदेव प्रभूतगुणसत्त्वेऽपि अन्तरेण  
विनयं पुरुषं विवृतिमानयन्ति शरीरसहजा मानवधर्माः ।  
वर्तते किल गुणरत्नस्य विनयस्य तथैव दिशा विकाशः, तथाहि—

“गौरवं गुरुषु स्नेहं नीचेषु प्रेम बन्धुषु ।

दर्शयन् विनयो धर्मः सर्वप्रौतिकरो भवेत् ॥” इति

अत्र गुरुजनेषु गौरवं तादृत् वयोवृद्धजनान् प्रति यथोचित-  
सन्मानप्रदर्शनम्, तेषामाज्ञानुवर्तित्वम्, सुनृतेन वचसा तैः  
समं संलापः, कुलवृद्धानां तथा राजपुरुषाणामनुष्ठतवाग्वैभ-  
वैरभ्यर्थना, तदन्तिके चापत्यपरिहारः; वयःकनिष्ठान्  
प्रति नयधर्मकथनं हितानुकूलचिन्तनञ्च, एकस्य दुःखमपरेण  
स्वमिव परिगणनीयम्, सततं सदयव्यवहारः; बन्धुषु  
कापत्यवर्जनम्, तेषामभावे आत्मनोऽपि अभावबोधः, सुखे दुःखे  
च समे कृत्वा एकात्मनोः विभिन्नवपुर्भ्यां संसारकार्यनिर्वाहन-  
मित्यादिभिस्तावत् परिव्यज्यते विनयविभूतिः, विनयान्वितस्य  
पुरुषधौरेयस्य ।

विनयः किल न कामपि लघयति, न वा खर्व्वयति, किमपि  
वा पदमर्थ्यादातः परिवर्जयति, परं सर्व्वासु अवस्थासु  
ततः उन्नततरामेवावस्थां घटयति । दृश्यते तावदत्र निरुद्धस्थान-  
जननमभिलभ्य विनयमाहात्म्येन जनसमाजशीर्षस्थानमलं-  
करोति लोकः ।

पुरा नैमिषारण्ये महर्षिगणोपेतमाश्रमपदं सूतमुखादुद-

गतेन पुराणवचसा सुखरितमासोत् । वर्त्तमाने च बहवः  
 एव निरुद्धस्थानसम्भवाः विनयभूषणमण्डिताः साधवः अव्या-  
 हतप्रभावेन शासति सामाजिकानां पदम् । द्वापरे अजात-  
 शत्रोर्महाक्रतौ निखिलगुणेश्वर्यवता श्रीमन्नारायणेन ब्राह्म-  
 णानां चरणधौतमकारि । एवञ्च यूरुपादौनां पुराणवार्त्ता-  
 पर्यालोचनावशरे समवलोक्यते अस्माभिर्यन्महापुरुषधौरेयेण  
 यौगुना कदा शिष्यवर्गाणां पादप्रक्षालनार्थमुदकमदायि । तेन  
 सङ्कोचितान् विपदमपि गणयतः पिथान् सुनृतेन वचसा प्रति-  
 बुध्य परमा प्रीतिरापेदे । नितरामबाधमगर्हितमविसंवादितञ्च  
 वचः यद् विनय एव राजाधिराजचक्रवर्त्तिनां शौर्ध्वमुखिसुकुटा-  
 पेक्षया समधिकाऽसम्पन्नं भूषणमिति ।

दृश्यते तावत् महापुरुषचरितादौ, समवगम्यते च लोक-  
 व्यवहारतः विनयमन्तरेण न विमलां शान्तिं नापि वा परमा-  
 भ्युदयपदवौमधिकत्तुं शक्नोति लोकः । अतएव साधून्म—  
 'विनयो भूषणं महत्' इति सुभाषितं कस्यचित् संख्यावतः  
 तदतिस्त्यमतिहृद्यमतिशयश्लाघदीयञ्च वचः, इति कृतं  
 बहुभाषणेन ।

“यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निसेवते ।  
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥”

इहं किल संसारे आशा नाम किमपि परमरमणीयमत्यद्भुत-  
मतिहृद्यञ्च वस्तु । सा चाशा सप्रभुधर्म्येण सर्वेषामेव चेतनानां  
चेतः आयत्तीकृत्य विनश्यरेऽपि निखिलराज्ये त्रिदिवसन्ततिरिव  
जनान् परिपालयति । किमहो ! यद्यप्याशानाम् कापि मनुजानां  
ललितदर्शनातिपेसला विश्वस्ता सहचरो नाभविष्यत्, तर्हि सुजला  
सुफला शस्यश्यामलाशेषप्रीतिविधायिनी धर्मापि ऊषरभूरिव  
कर्कशभावेनापौडयिष्यदनुक्षणं जन्तून् । दृश्यते तावदाक्षुद्रा-  
न्महत्पर्यन्तमपि कृतकं जगदैन्द्रजालिकक्रीडासाम्येन सा  
विस्मयमातनोति, प्रतारयति च कुलटैव विश्वस्तहृदयम् ।  
कापि वा दीनहीनमूर्धनि दापयति राजाधिराजचक्रवर्तिनः  
शिरःश्लथम् । कदा सा शान्तमधुरदर्शना, कदापि घोरभीषण-  
विग्रहा, विभीषयते वा कदा अव्याहतप्रभावस्य भूभृतोऽपि  
शासनदण्डम् ।

धन्या आशा ! धन्यं ते कुञ्जकम् ॥ संसारेऽस्मिन् राजानो  
धनिनो वा भिच्छन्भिच्छन् वा उदासीनो गृहिणो वा  
सर्वान् प्रति ते समानो दृष्टिपातः । आशाबन्धनेन पुत्र-  
शोकातुरा माता गुरुकठोरेष्वपि दुःखेषु विस्मारयति मृतपुत्र-  
मुखं, धारयति च दुर्विषहं देहम् । आशाप्रणोदिता च सुहृत्

पतिविच्छेदमसहमाना कुलवधूरपि भाविस्सुखाशया प्रेषयति  
पतिं दुष्यथमपि देशम् ।

एवञ्च दृश्यते तावत् लोकव्यवहारेषु 'इदं मया लब्धम्,  
अपरमपि लप्स्ये' इति निश्चिन्वानाः सर्वे एव प्राणिनोऽपि-  
काङ्क्षन्ति निरन्तरम् । भूभृतः परराष्ट्रं विजित्य, ऋद्धिमन्तो-  
धनकनकादिव्यवसायतः, एके धनिसेवया, अपरे भिक्षया वा  
स्व-स्वं प्रवर्द्धयितुमतितरां यतन्ते ; किन्तु एतेषामर्थार्थमति-  
प्रयतमानानां निखिलजनानामेवावश्यमिदं प्राप्तव्यमिति निश्च-  
यात्मिका बुद्धिः स्वामीष्टफललाभस्य प्रकृष्टा सरणीति नास्ति  
तस्मिन् किमपि वक्तव्यम् ।

अपि नाम दुराशाप्रणोदितो य एव स्वल्पायासलभ्यं सद्यः  
प्राप्तमकिञ्चित् करं कपर्दकमपहाय बहुतिथे काले वा प्रभूतार्थ-  
प्राप्तये मनोऽभिनिविशयति, विधिवशात् प्राय एव स लब्धवस्तु-  
भ्रंशनात् परमदुःखितोऽतिशयक्लेशमनुभवति । तथाहि—

अस्ति कस्मिंश्चिद्दुर्वनोपकण्ठे कोऽपि स्थविरकाष्ठिकाः । स च  
स्वभावदारिद्रेण कथं कथमपि कष्टेन काष्ठानि संकृष्य स्वजनान्  
परिपालयति । अथैकदा परशुहस्तेन स समुद्ररोधसि गत्वा  
कुठारेण पादपं कर्त्तितुमुपचक्रमे । परं दैवगत्या तस्मिन्नेव क्षणे  
हस्तात् भ्रष्टः परशुः अभसि पतित्वा चतुरविषयोऽभवत् ।  
तेन स परमनिर्विण्णः उच्चैः क्रन्दितुमारभे । तत् परिवेदनं  
श्रुत्वा जलाधिपतेस्त्वं प्रति निरतिशया रतिरुपजाता । तस्माच्च  
यादःपतिस्तस्यान्तःकरणपरीक्षार्थं प्रथमतः श्रातकुम्भविनिर्मितं

परशुमेकं गृहीत्वा तत्समोपमेत्य ब्रवीति—‘भद्र, किमयं ते कुठारः ?’ सोऽप्याह—‘हंहो ! दयावतार, नहि नहि ममायं कुठारः, स तु भाग्यवशेनाद्य नष्टः ।’ तदाकर्णं स पुनरश्वसि निमज्ज्य द्वितीयक्षणेन रजतनिर्मितमपरकुठारं गृहीत्वा तस्य पुरतः पुनरागत्य ब्रवीति—‘साधो, किमयं ते नष्टकुठारः ?’ स पूर्ववदेव ब्रवीति—‘हे ममोपकारमिच्छो, नायं स कुठारः, स तु अयोनिर्मित एवासौत् ।, तदाकर्णं जलाधिपतिर्भूयः सलिलं गत्वा लौहमयकुठारमादाय तदन्ति-  
कमागत्य ब्रवीति—‘अयं किं ते कुठारः ? स काष्ठकृत् तमतिप्रणिधानेनावलीक्य सगद्गदमाह—

हे मदेकसदय, कृतोपमारिन्, वाढमयं मे स नष्टः परशुः । मयि चेत् करुणा तर्हि प्रत्यर्पताम् ।’ तस्य काष्ठकृतः तादृशं सरलभावं तथा लोभराहित्यञ्च परिज्ञाय सः जलाधिपतिः निर-  
तिशयमानन्दमनुभवन्, तस्मै स्वर्णरजतमयौ द्वावेव कुठारौ प्रत्य-  
र्पितवान् । स काष्ठकृतौ गृहीत्वा यावद् गृहं प्रति गतः, तावत् कश्चित् प्रतिवेशौ तत्कुठारमेत्य समुद्रतीरगमनात् कुठारद्वय-  
प्राप्तिं यावत् समस्तमुदन्तमाकर्ण्य परेऽह्नि कुठारहस्ताः समुद्रतीरं गत्वा स्वेच्छापूर्वकं कुठारमश्वसि निःक्षिप्य कपटप्रबन्धेन उच्चैः क्रन्दितुमारभे । ततः तस्य रोदनमाकर्ण्य पूर्ववत् जलदेवता तमेत्य ब्रवीति—‘भद्र, किन्ते शोककारणं किमर्थं वा तारेण स्वरेण रोदसि ?’ सोऽतिसन्धमं प्रदर्शयति—‘महाभाग, अहमत्यन्त-  
दुर्गतः, परशुना काष्ठं संछिद्य कथं कथमपि कष्टेन स्त्रीदरं

पूरयित्वा, जीवनं धारयामि किन्त्वय देववशेन मे हस्तात् च्युतः  
परशुरपसु विनष्टः । तेनाहं रोदिमि, नास्ति किमप्यन्यत्  
रोदनस्य कारणम्' इत्याकर्ण्य सलिलपतिः तं परोक्षितुं पूर्ववत्  
पुनर्जले निमज्ज्य विशुद्धहेमसम्भवं परशुमेकं गृहीत्वा समीप-  
मेत्य ब्रवीति—अपि एष ते कुठारः ?' सोपरिजानन् पूर्वोक्त-  
काष्ठिकस्य हेमरौप्यकुठारप्राप्तिमार्गं नितरां जलाधिपते-  
र्व्याक्योच्चारणमात्रमेव साग्रहं—'अयमयं भीः, स मे नष्टपरशुः'  
इत्युक्त्वा यावत् करो प्रसार्य्य ग्रहीतुमुपचक्रमे ; तावत् सा जल-  
देवता तस्य धूर्त्तामवगम्य किञ्चिद्दूरं गन्वाभ्रसि निमज्ज्यान्त-  
र्दधे । ततोऽसौ ज्ञात्स्नं दिनं विलप्य यदा पुनर्नकोऽपि समा-  
यातीत्यवलोकयत्, तदालम्बाश्रयालम्बस्वकुठारचयजनितदुःखेन  
स्वीयभाग्यं निन्दन् गृहं प्रति चलित इति ।

दृश्यते तावदिह जगति य एव निश्चितार्थमपहाय अनि-  
श्चिते यतते, तस्य इत्यम्भूतेव विडम्बना सर्व्वथा प्रतिपद्यते ।  
तदुपजीव्यकाककूर्म्ममूषिककथाच्छलेन महानौतिज्ञेन श्रीमद्-  
विष्णुशर्मणातिसुन्दरो उपकथा विरचिता, पाठार्थिनां धैर्य्य-  
च्युतिसम्भवतया सा परित्यक्ता । तत् कथाविषयिणो च इयमेव  
सुभगा वाणी तस्य पण्डितकुलवरेण्यस्य—'यो भ्रवाणि परित्यज्य'  
इत्यादिरिति कृतं बाहुल्येन ।

## “उपायं चिन्तयन् प्राज्ञस्तथापायञ्च चिन्तयेत्”

जगत्पत्र परिणामचिन्ताकुशलिनी महान्तो भाविनि यदुभाव्यम्, तत् सर्व्वं प्रागेव विनिश्चित्य कर्मणि प्रयतन्ते । न केवलं विषयं समीक्ष्य ते प्रक्षीणदृश इव कार्य्येष्वन्तरायसमापतनादेव विफलाः कार्य्येषु विरक्तिप्राप्तियोग्यं कञ्चनभावमुपादधति । परिणामचिन्तायाः सन्ति बहव एव सुखावहाः गुणाः, तथाहि—यद्यपि केव्वपि कार्य्येषु संप्रवर्त्तमानाः केचिदपरिणामसमीक्षकारिणो मानवाः ते हि साधारणविपत्पातनसुमहन्तमन्तरायं मन्यमानाः सातिशयमुद्दिग्ना अकाण्डे कार्य्यजातं विन्यस्य परिणामे क्लेशभागिनो भवन्तीति प्रतिनियत एव निखिलजनानां कार्य्यसंवेषु सुव्यक्तमेवावलोकयासः ।

एवमपि च यदि तेषां भाग्यविपर्य्ययेण स्थानुष्ठितकार्य्यमध्ये सुमहानन्तरायो घटते, तर्हि ते कथं कथमहो एतस्मात् समुत्तोर्य्यं भविष्याम इति चिन्तापर्याकुलितमानसः तत्प्रहाणोपायचिन्तनेन दीर्घदिनमतिवाह्य स्वकर्त्तव्यतः स्वलिता इति प्राय एव दृश्यते । परिणामचिन्तापाटवो हि प्राज्ञाः अपरिणामदर्शिनां वैपरीत्यमेव सततमुपगच्छन्ति । ते हि यथायथमुपायमुद्भावयन्ति, तथा तथा अपायमपि परिचिन्त्य नूनं शृङ्खलया निर्व्वहयन्ति आत्मनः इतरेषामपि क्षुद्राणि महान्त्यपि च कर्माणि । समवलोकयामो वयं यद्वर्माधिकारणेषु ये खलु व्यवहारशास्त्रार्थदर्शिनः सुविचक्षणाः ते नूनमग्रत एव समालोचनीयविषयस्य ये ये

अपायाः सम्भवन्ति, तान् सुविचिन्त्य विपक्षवादप्रतिषेधोपायश्चापि स्थिरोक्त्य स्वप्रज्ञया विपक्षपक्षान् पराजित्य आत्मनः पक्षं प्रभुपटे स्थापयन्ति । उक्तिमिमासुपजीव्य सकलार्थशास्त्रपारंगतेन ओमता विष्णुशर्मणा निर्मिता काचिद् बालककौतुकविधायिनी उपकथा, या हि प्रतिपदमेवातनोति रसधारां बाल-  
श्रोत्राणां श्रवणविवरे अतिमात्रम् । तथाहि—

निवसन्ति तावदुत्तरापथे गृध्रकूटादौ रेवासरिच्चरणक्षुब्धित-  
शेकतस्थलमंस्थं न्यग्रोधपादपमधिकृत्य दहवो बलाकाः । एव-  
मपि च तिष्ठत्यत्र तत्पादपपाददेशे विवराभ्यन्तरे हरगल-  
गरलसन्निभो महानेको विषघरः । स च तत्रत्यपतत्रिणां  
बालापत्यानि कवलौकृत्य निरतिशयसुखमनुभवन्नास्ते । परन्तु  
येषामपत्यानि स्वादितानि ते परमनिर्वेदमालभमानाः  
इतस्ततो विलापेन मुखरोक्ततां काननभूमिं, तदाकर्ण्य केनचन  
हृदयकेनोपदिष्टम्—भो भो नष्टप्रजा विहङ्गमाः, एवं कुरुत  
यूयं, मत्स्यानानीय नकुलविवरादारभ्य मामकशत्रुबिलं यावद्  
एकैकशो मत्स्यान् पंक्तिक्रमेण संस्थापयत । ततस्तत्तुव्यकैः  
आहारवर्त्मना नकुलैरागत्य भुजगो द्रष्टव्यः, स्वजातिविदेष-  
वशात् व्यापादयितव्यश्च । अथ उपदेशानुरूपे कृते कार्यं नकुलै-  
रागत्य सर्पो भक्षितः, पक्षिशावकानां रावं श्रुत्वा हृत्क्षमाकृष्ट  
तेऽपि स्वादिताद्येति सुभाषितं नीतिविदो विष्णुशर्मणः । कथाया-  
मेतस्यामुपायमनुशोलयन्तः विहगाः अपायचिन्तनाभावेन परि-  
श्रामे सुमहान्ति स्वकुलचयजनितदुःखानि प्राप्नुवन्तीति ।



अपि च दृश्यते तावत् क्षुद्रप्राणिषु पिपेलिकाः स्त्रीयासाधारणप्राज्ञवृत्त्या उपायमपायञ्च स्थिरीकृत्य स्वसञ्चितवस्तुजातं सुनिश्चितान्वतमसि विले संरक्ष्य निरतिशयमानन्देन जीवनमुदयापयन्ति । अन्ये च केवलमुपायं संशीलयन्तो कवयिमत्स्याः प्रक्षीणे सलिलजाते नवजलधरगर्जने श्रुत्वा स्थलवर्त्मना गच्छन्तः धीवरेण प्राप्ताः व्यापदिताश्चेति सुष्ठूक्तम् 'उपायं चिन्तयन् प्राज्ञस्तथापायदञ्च चिन्तयेत्' इति ।



“अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते ।  
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसौदति ॥”

जगत्पस्मिन् वर्त्तन्ते य एव सन्तः, ते हि प्राणालयेनापि नोन्मार्गमधिगन्तुमभिलषन्ते मनसापि । सल्वलोकयामो वर्यं ते चातिकठोरमपि महाजनभाषितमनुकृत्य दैनन्दिनकार्यजातं शुभहृत् क्लेशमनुभवन्तोऽपि अविक्लवेन चेतसा सुसम्यादयन्तीति । तेषां हृदयमन्दिरे सततमेव जागर्ति मूर्त्तिमती विशद इव महाजनगणोदिता पूततमा सुनृता वाणो, या हि प्रतिपदमेव समुत्सृजति संसारकलुषविषयात्, मनुजान् ।

ऊर्ध्वतमे वर्त्मनि दृश्यते एव प्रायशः अनुभूयते च स्वयमपि नित्यशः यत् साधारणेनैवासत्कर्मणा क्षणमात्रत एव विपदमपमानं वा लभामहे, यद्यप्येकदा वा उच्चारयामि अनृतां वाचं तां

चापि च यदि कश्चिदवगच्छति, तर्हि चेष्टाशतकेनापि भूयस्तस्य न प्रत्ययभागी भवितुमर्हामि । तेन च ह्येनैर्वा प्रधानैर्वा लघुरिति मन्दमानः पराभूये इत्यादि सन्तं पन्थानमवलम्बमाना महाजनरोतिमनुसरन्तः सर्वदा संसारेषु विचरितुं तथा शिञ्चामः । तर्हि सर्व एव नः साधुतया प्रशंसिष्यन्ते, सर्व एव च अस्मासु विश्वसन्तः गुरुकठोरमपि कार्यं साधितुमस्मासु अवरोधमेव भारमपेयिष्यन्ति च ।

तेन च संभविता वा जीविकानामपि कश्चिदुपायः । एवं बहुधा दृश्यते सत्यद्यगतो न कदाचिदात्ममर्थ्यादया परिच्यतो न कदाचिदन्येन विरम्बितो नापि वा कार्यादिषु भगवदनुकम्पावञ्चितत्वं समधिगच्छतीति । तेन च समधिगतेन सदगुणराशिना चिरस्मरणीयतां लोकेषु वयमालब्धुं प्रभवामः । तथा च ते ते खलु निदर्शनान्यत्र प्रकृष्टतमाः भारतमण्डनरूपाः सामकानां सामर्थ्यातीतं, तथापि तदाचरितपन्थानामंशत एवावलम्बितुं कर्तव्यः सुमहान् यत्नः । तेनैव च प्रभवति जीवानां जीनयात्वाप्रसङ्गेषु निरतिशयमङ्गलमतिमात्रम् । अतः साधु खलूच्यते—‘अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते । स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति’ इति ॥

## “उद्व्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः”\*

उद्व्योगः, अध्ववसायः कार्येषु निरालस्यं, सोऽसा-  
स्तीति [ णिच् ] इन् । उद्व्योगी पुरुषः संसारेऽस्मिन् परमा-  
भ्युदयं तथा शाश्वतिकीं ख्यातिञ्च संलभते । इह किं न  
लौकिकं न एवं किमपि दुष्करं कार्यमस्ति, यद्धि विहिता-  
ध्ववसायेन सुसम्पादयितुं न समर्थयते लोकः । नूनं दृश्यते  
यावत् केवलमध्ववसायमवलम्बमानो नितान्तदुर्गतोऽपि परम-  
सुखसमृद्धिसौधतलमध्यास्ते । उद्व्योगानां यौनपुण्येन नितान्त-  
मनभिज्ञोऽपि विज्ञायते, क्षुद्रोऽपि महतीं पदवीमधिकरोति,  
शीर्णपर्णकुटीरोदरवासो दीनोऽपि प्राकारपरिवेष्टितप्रासादतल-  
मधिकरोति, एकान्तमपटुरपि पटौयान् भवति, अतिशय-  
निस्त्रोऽपि कनकधनसमृद्ध्या ऋद्धिमतामग्रेसरतामुपगच्छति,  
निर्मोक्षोऽपि परिस्फुरति मेधा निरन्तरमध्ववसायेन । नितरा-  
मध्ववसाय एव जगतामग्रेषु सुखसमृद्धेरसाधारणो हेतुः ।

दृश्यते यावत् कार्यमग्रेऽस्मिन् संसारे कार्यत एव समुप-  
जायते तदभिव्यक्तिः, परं न पुनस्तद्धि मननमात्रेण सिद्धिफलं  
घटयति न वा सुव्यक्तयति च जगतामुन्नतेः सरलं मार्गम् ।  
उक्तञ्च—

“उद्यमेन हि सिद्धान्ति कार्याणि न मनोरथैः ।

नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥” इति

वस्तुतथेष्टासङ्गतोद्यमेन विना सुराचार्यकल्पापरिमेयधी-  
सम्पन्नोऽपि विचक्षणः कल्पकोटिं यावन्मननद्वारा कार्येषु न  
प्रभवति लवकल्पामपि सफलतामानेतुम् । ये तादृक् कार्यस्य  
गुरुत्वमगुरुत्वद्वागणयन्तो बहुशो विघ्नैः पुनः पुनः प्रतिवार्यमाणा  
अपि स्थिरतरसङ्कल्पेन स्वाभौष्टान् प्रति यतन्ते, तेषामेव कार्य-  
सिद्धिरप्रतिहर्तति परमविधेयानां नीतिक्षुशलानां सुसिद्धान्तितं  
मतम् । तथाहि—

“प्रारब्धते न खलु विघ्नसयेन नीचैः

प्रारब्ध विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ।

प्रारब्धमुत्तमगुणाः सततं वहन्ति ॥” इति

समुन्नतिमभिकाङ्क्षन्तः पुरुषधीरेया न पुरुषकारमन्तरेण  
तावन्ति कार्याणि दैवेसन्निवेश्य स्वमुन्नतिमधिकर्तुं शक्नु-  
वन्ति । ये तावदात्मनः सामर्थ्यमसीमप्रज्ञाबलमितरमपि च  
समुन्नतेरनुकुलं कार्यजातं नियतेरायत्वोभूतं मन्यमानास्तस्यै-  
समर्प्य परमां प्रीतिं भजन्ते, तेषां सुदुर्लभा उन्नतिः, व्यर्थता-  
मपि च भजते स्वजीवनप्रवाहः । अस्य तावत्कौकिकव्यापारेषु  
वर्तते क्षुद्रो महानपि च शतशो दृष्टान्तः, बाहुल्यभवेन सहृद-  
यानां महामूल्यसमयापचयशङ्कया वा नातिविस्तरेऽस्मिन्  
प्रबन्धे परिहृतस्तेषामवतारः ।

पुरावृत्तपर्यालोचनया समवलोक्यतेऽस्माभिर्यदुद्योगिनः  
 पुरुषा एव समालप्सन्त उन्नतेः पराकाशां जगतामपि लोचन-  
 लोभनीयां दृष्टिञ्च । तथा च पुराणकथासु भ्रुव प्रह्लादादीनां  
 भगवत्सान्निध्यप्राप्तिः, निषादसूनोरिकलयस्य धनुर्वेदाध्ययनं  
 प्रथमत एवास्माकं नयनपथे पतित्वा स्मारयति उद्योगि-  
 पुरुषाणां कियन्तमधिकारम् । एवमपि च नवीनेषु दृष्टान्तेषु  
 तैमुरलङ्को नाम कश्चिद् यवनस्तुर्कजातीयोऽत्र प्रकृष्टमन्यदुदा-  
 हरणम् ।

स खलु तैमुरलङ्कः तातारप्रदेशे समरकन्दनगरान्तिके  
 कस्यामपि पक्षीभूमौ जातः । ततोऽसौ बाल्ये वयसि विविध-  
 विद्याध्यासेन सह सामरिकविद्याञ्चापि समधिगतः । ततो  
 गच्छता कालेन समरकन्दनरपतेः सैन्याधिपत्यमासाद्य निरति-  
 शयबलविक्रमेण रिपूनभिभूय राज्ञः इतरेषाञ्च प्रियदर्शनोऽ-  
 भूत् । तेन च तस्य क्रमश एव राज्याधिकारदृष्टा प्रबला जाता ।  
 ततः समरकन्दभूपतेस्तदानीम् अन्येन राज्ञा सह विश्वहेण  
 हीनबलं तं ज्ञात्वासौ आत्मनोऽधीनस्थानि सैन्यानि वशमानोय  
 प्रभोः प्रतिकूलं युद्धमधीष्यत् । तत उभयोराहवे राजपक्ष एव  
 प्रभूतबलविक्रमेण तैमुरलङ्कं पराजित्य विजयश्रियमलभत ।  
 ततश्च विनिर्जितोऽपि तैमुरलङ्कः स्वकीयोत्साहादविच्युतो द्विगुण-  
 बलविक्रमेण भूयो भूयं पराभवितुमिच्छन् समरमवतारयत् ।  
 तस्मिन्नपि च पूर्ववदेवावनीपतेः पक्षो जयसम्पदमविन्दत ।  
 एवंक्रमेण सप्तज्ञत्वस्तुसुलसंग्रामं विदधन् प्रतिवारमेव पराजितो

विध्वस्तागण्यसैन्यक्षयजनितदुःखेन निर्विष्यः आत्महृत्यार्थमेव  
 कृतमतिः शान्तिकर्तारिकाया सह कामपि गिरिशुहां गत्वा  
 प्राणान् त्यक्तुमुपचक्रमे । तस्मिन्नेव क्षणे कृतस्त्रजौवनस्य क्षुद्राणि  
 महान्त्यपि च कार्याणि मनसि समुदयन्ति । सुहृत्तादेव  
 मरणात् प्रतिनिवर्त्य कर्त्तरिकाहस्तेन इतस्ततः सञ्चर्य पित्रोः  
 स्नेहः, भार्यायाः प्रेम, बन्धुजनस्य सौहार्दम्, इष्टानां हितोपदेशः,  
 अपत्यानां वास्तव्यभावः, भगिन्याः आदरः, अधीनस्थानां सेनानां  
 व्यवहारः, ग्रामोणानां विश्वासः, इत्येतेषामपरस्य च कस्यचिद्भवि-  
 ष्यद्दर्शिनो महापुरुषस्य 'उत्तरकाले त्वमेव ससागराया धरित्रयाः  
 पतिर्भविष्यसि' इति वाणोष्मरणेन च पूर्वपूर्वानुष्ठित-  
 युद्धायासं मनसालोचयन् मरणात् क्षणं प्रतिनिवृत्त्य स्थितः ।  
 इत्यन्तरे च काचित् पिपीलिका तस्य दृष्टिविषयीभूतात्  
 शिलातलात् शस्यमुखेन ऊर्ध्वस्थावासं प्रति गन्तुकामा कियद्दूरं  
 गत्वा तस्मात् परिभ्रष्टा, क्रमेण समस्तत्वष्टेष्टमानापि विफल-  
 मनोरथा संवृत्ता, ततश्च सा पूर्वपूर्वतोऽधिकमुद्यममाध्याय  
 यावच्चलितुमारब्धा, तावदेव गन्तव्यस्थानमधिगतेति समीक्ष्य  
 तस्य मनसि पुनरप्यरातिनिधनाकाङ्क्षाचप्रबलतया परमुप-  
 याता ।

अहो ! क्षुद्रप्राणिनोऽध्यवसायदर्शनेच्छलेन शिक्षयितुमेवात्र  
 संप्रेषितः परमकारुणिकेन विश्वसृजा नूनमहम्, तद् भूयो-  
 ऽष्टकत्वः युद्धमभिनेष्यन् सपत्नकुलं समूलमुन्मूलयेयमिति  
 विमृश्य मरणात् प्रतिनिवृत्त्य भूयोऽसौमवलचयेन समर-

कन्देश्वरं पराजित्य तस्य राज्ञः सिंहासनमधिष्ठत्य च तत्रैव स्वीयराजधानौसकल्पयदिति ।

अहो ! का नामास्मिन् दुर्घटताध्यवसायिनो दृढमनसो मानवस्य ? प्रतिपदं प्रतिक्षणमेव समवधायन्तः पश्यामो यदघटनमपि संघटयति उद्योगो नाम । अतएव शोभनं भाषितं केनचिद्देवप्रतिज्ञुलवादिना कर्षमयं संसारं पश्यता महात्मना—

“उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-

दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या

यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥”

अथवा “उद्योगात् किं न सिध्यति” इति कृतं पल्लवितेन ।

## “नानृतात् पातकं महत्”

अनृतम् असत्यं मिथ्याकथनमिति यावत् । इह किल वस्तुधारां यावन्ति सन्ति दुष्टकार्याणि, तेषु मिथ्याकथनरूप-मयशस्यसमवसानकरमतिघृणितञ्च कर्म न किञ्चिद् विद्यते मनुजानाम् । य एव मिथ्या भाषते स हि तुषराशिनिलग्न-वह्निः, अङ्गुशाच्छको मातङ्गः, निष्पतन्नशनिः, निष्प्रतिकारो द्रौह्यः, निर्निमित्तं वैरम् एवं किल स विद्वानपि न विशिष्यते, यण्डितोऽपि न परावृण्यते, वर्णश्रेष्ठोऽपि न महीयते, ऋद्धि-

मानपि न बहु मन्यते, महाकुलप्रभवोऽपि न सम्मन्यते । तं गृहीतरूपान्तरमिव कृतान्तं मन्यन्ते, अपथ्यमिव गृह्णन्तोऽपि जिहासन्ति, शुनीमिव स्पृशन्तोऽपि स्वमशुचिमाकलयन्ति, भुजङ्गममिव विप्रलष्टात् परिहरन्ति, तत्कथाकर्णाधिगतेनापि विकर्णयन्ते, दूरतः समवलीकानाञ्च विभ्यन्ति, न जातु तेन भाषितं सत्यमपि याथार्थ्येन परिगृह्णन्ति साधवः । धर्माधिकरणे साध्यं दधतो भूताद्यै विवृण्वतोऽपि तस्य वाक्यं न परमार्थेनाददति धर्माधिकरणे विचारकाः ; नितरामेतादृशं जुगुप्साहं जीवनं किं नु सुधेव वह्नमसत्यवादिनो जनस्य ? किमहो ! जीवनावशाने प्रेतलोकोऽपि भौषणतो भौषणतरं शासनमस्य नरकुलपांशुलस्य ?

सर्वजनविदितस्तावद् राजन्यकुलविनिःशेषमहाप्रलयसंघटनकरे भारतीयमहाहवे कुरुपाण्डवानां वृत्तान्तः । तस्मिन् द्रोणवधार्थं वासुदेवस्य निर्बन्धातिशयेन सुहुरनुरुध्यमानेन राज्ञा युधिष्ठिरेण 'अश्वत्थामा हतः' इत्युच्चैः 'गजः' इत्यनुच्चैर्भाषितेन द्रौणिर्हत इति बुद्ध्या द्रोणस्तत्शोकेन नाशाग्रवर्त्तिप्राणो रथलग्नो धृष्टद्युम्नेन हतः, इति यदवितथसाध्याद्भृष्टतमुपजायते आजन्मसत्यव्रतानुसंश्लयतोऽजातशत्रोस्तेनैव दुष्कृतसूलेन महाप्रस्थानपथे शमनभवनदर्शनव्यपदेशेन पापाशक्तानां का शास्त्रिः, कियती वा यन्त्रणा, कियानेव भोगः, कियांश्चापि यमानुचराणां व्यवहारः, इत्याद्येकैकशो दर्शनक्रमेण चतुरशीतिरौरवादिनरक्षाणां दर्शनमजायत । नितरां मिथ्यावादिनो नेहासुत्र च



श्रेयः संघटते मनाक् । उक्तञ्च प्रज्ञादृशा निखिलजनाधिगत-  
सर्मज्ञेन केनचित्तत्त्वदर्शिना—

“नासत्यवादिनः सौख्यं न पुण्यं न यशो सुवि ।

दृश्यते नापि कल्याणं कालकूटमिवाश्रितः ॥

जिह्वैकैव सतामुभे फणवतां स्रष्टुश्चतस्रश्च ताः ।

ताः सप्तैव विभावसोर्नियमिताः षट्कार्तिकेयस्य च ॥

पौलस्त्यस्य शेषाभवन् फणिपतेर्जिह्वासहस्रद्वयम् ।

जिह्वालक्षशतैककोटिनियमो नो दुर्जनानां सुखे ॥” इति

वस्तुतो जगत्पत्र यद्यपि प्रज्ञावानेवावितथभाषी स्यात्,  
तर्हि तस्य प्रज्ञाफलमत्यल्पेनापि काष्ठीकेन यथा क्षीरस्य  
वैक्लव्यं जायते, तथैवास्वाभाविकत्वमेव विदधातीति कः पुन-  
स्तत्र सन्देहसन्दोहावसरः ? परिहासमिषेणापि मिथ्यारटनात्  
कस्मिन् कस्मिन्नपि समवजायते महानिवानिष्टपातः, तेनैव च  
जीवनस्यापि विनाशः सम्भव इत्याद्यवधारणार्थं गोपालशार्दूलक-  
कथाच्छलेन केनापि तत्त्वदर्शिना समवतारिता कापि विचित्रा  
कथा, तथाहि—

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कोऽपि गोपबालकः । स प्रत्यहं  
गोचारणार्थं नगरोपकण्ठं काननमवनौमुपेत्य ‘मम गोयूथः  
शार्दूलेनाक्रान्तः, क कुत्र भोः ! तूष्णीं त्रायध्वं त्रायध्वमयमहो !  
मन्दभाग्यः’ इत्यञ्चैरेव रावैर्जनानाकार्थ्यं कौतुकं मन्वानः  
साहाय्यार्थमुपागतान् समीक्ष्य अष्टाष्टं जहास । इत्यमेव द्वित्रान्य-  
हान्यतिवाह्यं स खलु वराकः जनान् सृष्ट्वा प्रतार्थ्य परमां प्रीति-

मविन्दत । ततो गच्छता कालेन देवगत्या कस्मिन्नेवाहनि  
सत्यमेव तस्य गवां यूथः व्याघ्रेणाक्रान्तः । ततश्चासौ पूर्ववन्मृ-  
मृङ्गराकलितेनापि कः पुनरेकोऽपि तस्य वचसि विश्वासमास्थाय  
तत् साहाय्यार्थं न समुपस्थितः । तेन च साहाय्यपरिहीनतया  
स तावद्दुर्भाग्यो व्याघ्रेणागत्य व्यापादितः, गवामपि समजो  
विनष्टः खादितश्च । अतएव 'नानृतात् पातकं महत्' इति  
यदुच्यते केनचिद्दूरदर्शिना पदवाक्यप्रमाणपारावारौणेन महा-  
जनेन तदतिथयार्थमेवेत्यलमतिविस्तरेण ।

### “काव्येषु माघः कविकालिदासः”

अविनश्वरेण परमकारुणिकेन ईश्वरेण अखण्डब्रह्माण्ड-  
मिदं रमणीयैर्वस्तुजातैः समलङ्कृतम् । विचित्रपत्रावलीचित्रित-  
मनोहरारामनिकरः, मानसहरप्रसूनपरिशोभिता वल्ली, कुसुम-  
मधुलोलुपमधुकरगुञ्जनगुञ्जितकुञ्जनिचयः, सिंहशार्दूलादयो  
नृशंसश्चापदाः, शोभना सृगयूथाः, अगणितरत्नजातपरिशोभित-  
रत्नाकरजातलभ्यसुवर्णाकरः निकरः, तालतमालनौला पर्वत-  
माला, नौलाम्बरसुशोभना धवलकादम्बिन्यः, कमनीया मणयः,  
लवनादिसप्तसमुद्राः, ऐरावतादिदिग्गजाः, महेन्द्रादिकुलपर्वताः,  
उष्णरश्मिरश्मिजालोष्णो ग्रीष्मः अजसंधारापातशिक्षकलेवरा  
वर्षाः, नानापुष्पपरिशोभिता शरत्, शान्तप्रकृतिर्हेमन्तः, तुषा-

राषादशरीरः शिशिरः, अश्लेषकुसुमवासवासितमलयवातप्रशान्तो  
 वसन्तः, पूर्णशशधरपरिशोभिता पौर्णमासो, घोराब्धकाराति-  
 भ्रौषणा अमारजनो, किमधिकम् अकृत्रिमसुन्दराणि सर्वाणि  
 मनोहराणि वस्तुजातानि यथायथं नियोजितानि, परन्तु कृत्रिम-  
 चित्रपटघटादिना नानाविधविज्ञाननिवहेन च अधिकतरं परि-  
 शोभयितुं श्वेतलङ्कारक्ताङ्गा बहवो मानववर्णा प्रयुज्यन्ते सन्ततम् ।  
 तेषां केचन वर्मचर्मादिरचने, केचन घटपटादिप्रकटनविधौ,  
 केऽपि विचित्रविज्ञाने, केऽपि शृङ्गारादिनानारसपीयूषश्राविका-  
 व्यनिचयविरचने मनोनिवेशयन्ति । एतेषां मध्ये सुललितकाव्य-  
 मेव अधिकतरं रमणीयम् मनोहारि च काव्यरसरसिकानांम् ।  
 नैतत् केवलं श्रुतिरमणीयं दृष्टिरमणीयञ्च, किन्तु समाज-  
 शिन्नाविधौ गुरुरिव वर्त्तमानं सत्काव्यं चतुर्वर्गफलसिद्धिदमपि  
 यदुक्तं—

“चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादव्यधियामपि ।

काव्यादेव” इति । अपि च—

“काव्यालापाश्च ये केचित् गौतकान्यखिलानि च ।

शब्दभूतिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ।” इति

एवञ्च ‘काव्यालापांश्च वर्जयेत्’ इति यदुक्तं तत् तु हास्या-  
 र्णवादि असत्काव्यविषयपरम् । आदिकविर्बाल्मीकिरखिल-  
 शास्त्रसागरं समालोडयन् पवित्ररामचरित्रसम्बलितं रामायणं  
 नाम महाकाव्यमेकं विरचय्य धर्मास्युतरसश्रोतसा प्रसिद्धमेका-  
 र्णीत् जगन्नयम् । परन्तु रामस्य राजनीतिं गार्हस्थ्यनीतिं कर्त्त-

व्यपरायणताञ्च यथायथं निवेशयामास । एतेनायं ग्रन्थः सर्वेषां  
काव्यानामादर्शभूतः ।

ततः परं हापरावसानसमये क्षणवैपायणः, कुरुपाण्डव-  
चरित्रमाकलयन् सर्वरत्नाधारं महाभारतं प्रणिनाय । ततः परं  
असौमभावालङ्काररसविलासः कालिदासः, अशेषभावविभव-  
सम्भो भवभूतिः, प्रभूतप्रतिभो भारविः, निखिलपण्डितमण्डलौ  
हर्षविलासप्रकर्षवान् श्रीहर्षः, कविशङ्खविलङ्घनो माघः, काव्य-  
सागरतरङ्गे भासमानो भासः, साहित्यरससमुद्रः शूद्रकः,  
एवमन्ये च कवयः काव्यानि विरचय्य अमरा इव वर्तन्ते ।

न खलु सर्वेषां सर्वस्मिन् विषये समा प्रतिभा प्रति-  
भाति । को वाऽलङ्कारेषु, को वार्थविस्तारचातुर्येषु, को वा  
सुललितशब्दबन्धेषु प्रदर्शयति पाण्डित्यं, तदेवोक्तम्—

“उपमा कालिदासस्य भारवेरथगौरवम् ।

नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥” इति

अत्र प्रथमचरणत्रये नास्ति कस्यापि आपत्तिर्लेशतोऽपि,  
चतुर्थचरणमस्माभिर्विचार्य खौक्रियते नाम, ‘माघे सन्ति त्रयो  
गुणा’ इति, किन्तु एतदेवात्र प्रष्टव्यं, यत् रघुवंश-किरातार्जुनौय-  
नैषधचरितेषु किं निर्दिष्टात् इतरे गुणा लेशतोऽपि न सन्ति ?  
उत अप्राधान्येन वर्तन्ते ? मन्ये च यत्र यो गुणः प्रधान्येन  
वर्तन्ते, तत्र तस्यैव निर्देशः श्लोकज्ञतोऽभिप्रायः, तर्हि काव्ये-  
स्मिन् त्रयो गुणाः किं प्राधान्येन खौक्रियन्ते ? नेतत् सञ्भवति,  
अस्मिन् शिशुपालवधे शास्त्रसागरपारदर्शिणा मस्मिनाथेनोक्तं

यत् 'वीरप्रधानो रसः' इति वीररसे ओजोगुणस्यैवावकाशः  
निखिलालङ्कारशास्त्रसम्मतः । तथा च साहित्यदर्पणे—

“ओजश्चित्तस्य विस्तारोरूपं दीप्तत्वमुच्यते ।

वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥” इति

ओजोगुणे च गौरोरितेः प्रचारः स्वतएव, तथात्वे  
सति ग्रन्थेऽस्मिन् प्राधान्येन पदलालित्यकथनम् उन्मत्तप्रलापवदु-  
पेक्षणीयम् । ये नाम माधुर्यादयो गुणा राजन्ते, ते तु शृङ्गा-  
राद्यङ्गरसानुरोधेन वर्णिता अङ्गगुणा न त्वङ्गिनः । यदि नाम  
अङ्गगुणानुरोधेनैव त्रयोगुणा इत्युक्तं, यदपि न समीचीनतया  
प्रतिभाति, यतः रघुवंशादिषु कालिदासग्रन्थेषु पदलालित्यादि-  
गुणा वर्तन्ते एव, तेऽपि ग्रन्था बहुगुणसमलङ्कृताः कथं नोचन्ते ?  
अतएव शिशुपालवधं प्राधान्येन गुणत्रयसमन्वितमिति न वक्तुं  
समौहामहे वयम् ; साधपक्षपातिनां नितान्तभ्रान्तिसन्तान-  
समन्वितानां वचनमेतत् ; त एव समर्थयन्तु एतेनास्माकं किमपि  
नायाति याति वा । केचित्तु पदलालित्यलीलुपा नैषधचरितस्य  
प्राधान्यं समर्थका एवमाहुः यत्—

“भारती भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।

उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ॥” इति

नैतत् कथमपि स्त्रीकुम्भो वयम्, केवलं शब्दसौष्ठवाति-  
शयोक्तिप्रियाः सततं स्तुवन्तु किं नामास्माकम् । वयन्तु मन्या-  
महे यत् तादृशपदलालित्यं विनापि शिशुपालवधं अनेकेभ्यः  
काव्येभ्यो वरम् । अत्र भावगान्भीर्यं रचनाचातुर्यम् अलङ्कार-

प्राचुर्यं रसमाधुर्यञ्च प्राचुर्येण वर्त्तते । अपि च केनचित् समीक्ष्यकारिणा प्रोक्तं यत्—

“नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते ॥” इति

वस्तुत एव काव्येऽस्मिन् अद्वितीयशब्दबन्धो बध्नाति सङ्घ-  
दयवतां हृदयानि, नायं कविः केवलं साहित्यशास्त्रपारगामौ,  
संगीतशास्त्रेषु चास्य समधिकव्युत्पत्तिं समवलोकयामः तथा च—  
“रनङ्गिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।

स्फुटीभवदुग्रामविशिषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥”  
एवमपि च—

“सर्वकार्यशरीरेषु मुक्ताङ्गस्कन्दपञ्चकम् ।

सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥”

इत्यनेन कवेर्वैदशास्त्रसमालोडनपाटवं प्रतीयते ।

“विजयस्तुति सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम् ।

फलभाजि समौघ्योक्तेर्बह्वर्भोग इवात्मनि ॥”

इत्यनेन च सांख्यशास्त्राभिज्ञता परिष्फुरति, परन्तु आधु-  
र्वेदे चापि कवेः समधिकव्युत्पत्तिमधिगच्छामः । यथोक्तं तेन—

“स्थाने समवतां शक्त्या व्यायामे हृदिरङ्गिनाम् ।

अथवा बलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ॥”

इत्यादि बहव एव श्लोका अस्मिन् नानाशास्त्रे पाण्डित्यं सूच-  
यन्ति, अतएव सर्वशास्त्रसमन्वितं काव्यमिदं सर्वज्ञसुन्दरम् ।  
पुनः पुनरध्ययनेनापि चास्य अभिनवमधुरता न ह्नासमुपैति ।

काव्याख्युधिसमालोङ्गनग्रहोतकाव्यावृत्तरसेन केनचिदुच्यते यत्  
 'साधे मेधे गतं वयः' वस्तुतएव साधाध्यायिनो मेधाध्यायिनश्च  
 अग्निप्रससागरं साधं मेघं वा परित्यज्य अपरकाव्याध्यायन-  
 लालसा न जायते, मेघदूतं कालिदासस्य स्नानभूतिसम्भूतं  
 खण्डकाव्यम् । तदादर्शं कृत्वा अन्ये कवयः पदाङ्कदूतं वात-  
 दूतम् इत्यादि विरचयामासुः । कालिदासलेखनीप्रसृतं मेघदूतं  
 काव्येषु तिलकम् । विरहिणां हृदयम्, विज्ञानस्थाकरः,  
 भाषायाः कल्पवृक्षः, मानचित्रस्यादर्शः, अलङ्कारस्य मूलधातुः,  
 रसस्य जलधिः, कवीनामाश्रयः, अलं नाम सर्वजनपरिचित-  
 स्यात् उत्कर्षसाधकप्रमाणसंग्रहेण । कालिदासो न केवलं मेघदूतं  
 विरचय्य प्रतिनिवृत्तः, परन्तु रघुवंशकुमारसम्भवे महाकाव्ये,  
 अभिज्ञानशकुन्तल-मालविकाग्निमित्रादिनाटकनिवृत्तं, आदि-  
 रसाकरं मृङ्गारतिलकं, श्रुतिमात्रबोधं श्रुतबोधं नाम हृन्दः-  
 शास्त्रञ्च विरचयामास । सर्वस्मिन्नेव काव्ये अस्य रचनाचातुरी  
 रचयति रतिसतितरां विद्वज्जनानाम् । यथोक्तमभिज्ञान-  
 शकुन्तले—

“पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वसौत्तेषु या,

नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।

आदौ वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युल्लवः,

सेयं याति शकुन्तलां पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥” इति ।

अपि नामैषां श्लोकानामुपमा वर्तते किं न वा तन्न जानी-  
 महे, नितरां समीक्ष्य केनचिदुक्तम्—

“कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी ।

पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम् ॥” इति

कालिदास इव कालिदासः शयने स्वपने पथि जाग्रणे  
शान्ते कान्तारि अन्तरौचे क्रोडायां व्यायामे भोजने पाने ध्याने  
किमधिकं सर्वत्र सर्वदा सर्वस्मिन्नेव विषये कवीनां मनसि  
अग्निश्चकासते । उक्तञ्च—

“पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे अनामिकाधिष्ठितकालिदासः ।

अद्यापि तत्तत्त्वकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥” इति

एतदप्यस्माकं विस्मयसमुत्पादकं नाम, यत् कवेरिदं काव्यं,  
काव्यमार्गेणैव कविः परिचोयते । अतएव न कथमप्येतत्  
समौचीनतया प्रतिभाति, तत् किमेतत् असमौच्चकारि कपोल-  
काव्यतं, किमु मृषा जल्पितम्, उतास्य गूढार्थोऽपि कश्चिद्विरा-  
जते खलु ? अत्रास्माकं मानसलतिका विकाशयति नास्मैवं  
सिद्धान्तजुसुम्, न जानीमहे सदेवेतत् विद्वज्जनप्रपूजनविधौ  
विधिनिबद्धं भवेन्न वा ? अपि च माघस्य चिन्ताशक्तिप्रसूतमेतत्  
काव्यमिति अनायासेनैवावगन्तुमर्हन्ति धीराः, एतेन काव्यस्य  
उत्कर्षः समजनि न कवेः, ‘कविकालिदासः’ इत्यस्य न कश्चित्  
विकल्पनावसरः, कालिदासः निजप्रतिभाबलेनैव स्वग्रन्थे  
भावादिकं निवेशयामास । सरस्वती तु तस्यानुवर्तिनो, तद्ग्रन्थ-  
विरचनविधौ च एवमेवानुमिनुमो, यत् कविरयम् अलङ्कारादिकं  
नानुससार, अलङ्कारादय एव तमनुसरन्ति स्म । काव्यलिखन



काले कालिदासखिन्तां नाशिश्रायः; तस्य स्वभावलेखनमुखे  
सुललितपदावली स्वतएव समागतासीत् । उक्तञ्च—

“कविता वनिता चैव सरसा स्वयमागता ।

बलादाकृष्यमाणा चेत् सरसा विरसायते ॥” इति

अस्य कवेर्मैघदूतस्य रचना नूतनभावसम्पदा सम्पादितासीत् ।  
तदेकेनैव काव्येन स ‘कविकालिदासः’ इति यथार्थत एव साधु  
प्रयोगं वक्तुमुपयुज्यते, कालिदासविरचितवचनपीयूषधाराप्रसिक्त-  
हृदयः कश्चिदेवं प्राह—

“कालिदासकविता नवं वयः

माहिषं दधि सशर्वं पयः ।

एनमांसमबला च कोमला

सम्भवन्तु मम जन्मजन्मनि ॥” इति

अपि च काव्यशालं तावज्जगति समाजशिक्षार्थं परिचरति,  
सर्वे खलु समाजचराः शास्त्रविज्ञानतत्परा न वर्तन्ते । तेषां  
सुपदेशविषये सरलभाषोद्धाभितमनुशासनमेवोपयोगितया किं  
पुनस्तत्र तर्कः ? यो हि सर्वमनोरमेण वचनेन सर्वानेव मनुज-  
निकरान् विनोदयितुमर्हति, स एव प्रधानकविपदमारोढुं शक्नु-  
यात् । माघः खलु शिशुपालबधे दौर्ध्रचिन्ताप्रसूतातिकठोर-  
पदानि सन्निवेश्य काव्यस्योत्कर्षमसाधयत्, किन्तु स यदि  
सामाजिकान् स्वयमेव अध्यापयति, तदैव सामाजिकास्तत्का-  
व्यार्थमवगन्तुं प्रभवन्ति, एवम्बिधकार्यस्यासम्भवतया तेन काव्येन  
तादृक् समाजहितं न विहितम् । ये तावत् आभिधानिका

व्याकरणशास्त्रपारगामिनस्तदर्थपरिग्रहे तएव प्रभवन्ति । अतएव  
 शिशुपालवधस्योत्कर्षं प्रत्याययन्ति । यो हि साधारणजनानां  
 मनसि स्वकौयरचनामाधुर्यप्रकाशयितुमसमर्थस्तस्य कवेः किं  
 नाम माहात्म्यं ? कालिदासस्य कविता श्रुतिगोचरमात्रेणैव  
 सर्वेषां हृदयविनोदिनो समवर्तते । अतएवोक्तं “काव्येषु साधः  
 कविकालिदासः” इति यत् तत् तथ्यमेव चकासते । अलमिति  
 विस्तरेण, नाभिकाङ्क्षामो वयं मण्डूककण्ठनिर्घोषसदृशकठोर-  
 शब्दप्रचरिणामभवतः सामाजिकान् व्यथयितुमिति शम् ।

### “कः परः प्रियवादिनाम्”

इह तु नानामुखोपचौयमाने ज्ञानविज्ञानसत्त्वानि संसारे  
 कक्षावदेवभूतोऽस्ति पुण्यप्रतिभः, यः सर्वेषां चेतः समाकृष्ट-  
 मानन्दयितुमुत्साहितुश्च प्रभवति, युगपत्तत्त्वसूत्रेणेत्यभिज्ञानार्थं  
 वक्तुमुपयुज्यते यः खलु दिष्ट्या सकलानन्दसन्दोहनिःसन्दिग्धवचना-  
 मृतमन्दोक्तताखिलतापकक्षापः सन्ततं प्रफुल्लनयनाननमानसः  
 प्रकटोक्तप्रभूतकार्यपर्यायवहः प्रेमविह्वलदेहो लौलाललित-  
 कोमलसकलकर्मणा लोकशोकसंहारौ आसकलप्रोतिभाजन-  
 मनन्तशक्तिमप्रियवादीति ।

अपीदमेव हि चिरन्तनं सत्यं यत्तावन्नेव हि सर्वे सर्वस्य

‘स्नेहस्थलं वा साकल्येन भवितुमर्हति । यच्चैकस्य

प्रियं तदपरस्याप्रियं कथञ्चिद्वा प्रियतममिति । प्रियत्वाप्रियत्व-  
योर्न तावत् साधारणीरीतिरेकरूपा परिलक्ष्यते । तच्च प्रति-  
क्षणमेव विविधया दृशा चित्तवृत्तिमाह्वयन्नयति, निर्नमयति  
वा मनुजानन्न जगति । प्रियञ्च तदेव तस्य यद् यस्यान्तःकरणे  
भटिति मन्दाकिनीनीरधाराप्लवतल्लसिव समुपप्लव्य प्रमोद-  
परम्परया प्रीतिपयोधौ निमज्जयति, परं विशुद्ध्यति च प्रबल-  
ज्वलनज्वालासन्धत्तसातझुश्चमिव शासनशासितवाचातिमात्रम् ।  
एवमेवानन्तयाऽसौमशक्तिसत्यामृतया भाषया यः सततमर्थयुक्त-  
प्रियमेव भाषितुमागृहीतव्रततो मानवको जातोऽन्न जगति ।  
हन्त ! तस्यावश्यमेकोऽपि परो नावशिष्यते ; अवान्धवा अपि  
वान्धवायन्ते, अमिता अपि मित्रायन्ते, अवस्थाश्च वशतां यान्तीति  
सनातनो निसर्गनियमः स्यात् ।

सैव हि प्रियवाक् साधारणतोऽर्थहीना अर्थयुक्तेति द्विधा  
विभक्तुं शक्यते । तदादिमार्थनिर्मुक्ता तु केवलस्फोटामिका  
शुक्ल-पिक्-कारण्ठादि-विहङ्गमानां ध्वनिः । अपरा नानार्था-  
लङ्कारानुप्रासादिसद्भावयुक्ता मानुषाणां भाषा । यद्यपि चाज्ञा-  
निनां शुक्लपिकादीनामर्थहीनापि ध्वनिरूपा वाक् सपदि लोक-  
चेतासि समधिकरोति, रञ्जयति सुखयति च द्राक्, तर्हि ज्ञान-  
विज्ञानानुशीलयतामुच्चैर्ज्ञानवतां प्रियभाषणानुशीलनतत्पराणां  
मनुजानां प्रस्फुटार्थप्रकटनपरमधुरपदयोजनकदम्बकलितललित-  
धुरीणा सकलगुणविकाशनप्रकर्षा लोकभाषा पर्याप्तं सर्वथा  
चेतश्चमत्कुर्वतीति किमेवाश्चर्यम् । एवमपि हि विन्दुद्वचित्तवतां

शान्तिसुखापचितानामपरिमितदुर्भावनाधिगतानां दूरोक्त-  
सकलकुलनयप्रवन्धानां कोपोपरतान्धानां प्रायोन्मत्तवतामपि  
प्राणभृतां विदधाति प्रिया वाक् राध-मध्याङ्ग-मध्यगत-चण्ड-  
मात्तङ्गातप-तापिततनुनामनूनप्रच्छाद्यशेतलतलं न्यग्रोधपादप-  
मूलमिव सपदि प्रत्यङ्गं शान्तिसौख्यम् । परं कठोरभावनयो-  
परोक्तचित्रजेव्वाणां दुर्म्भनायमानानामपि तादृशो वाणी श्रुचे-  
तिरन्तरा नीरधारेव बाहुल्येनाभिवर्थाद्रीयते, कुरुते च ससु-  
ब्धगतिमात्रम् ॥ एवं समपनयति विषादं, दूरं गमयति क्लमं,  
अपनयति च खेदम् । किञ्च शमयति परस्परविद्वेष्टाणामपि  
द्वेषम्, जनयत्यसौहृद्येऽपि हृद्यम् ।

एवं नामावलोक्यते लावण्यललितायितं रूपं, दृष्टिसमा-  
कृष्टिं यौवनलक्ष्मीं, कोटिपरिमितं वसुमपि च प्राग् नावलोक-  
यन्ति सुसूक्ष्मदृष्टिमन्तो विद्वांसः । ते हि यत्नतः प्रथममाचार-  
व्यवहारौ वार्त्तालापक्रमेणैवान्यत् सर्व्वमभिज्ञातुमुत्सहन्ते,  
नितरामभ्युदयकाङ्क्षिणां वेषां केषामपि च वचः सर्व्वथा शोभनं  
प्रियञ्च कर्त्तुमुचितम् । अस्त्रीलोऽप्रियथाप्यालापो यं कमपि  
अश्रयति, तेन स्वात्माधः पतति, तस्माच्च दुरितमापादयति स  
एव सम्यक् । अतो विस्मृत्यापि कदा तत्र व्यवहरणीयं सुधि-  
यामिति किं तत्र तर्कावसरः । यतो हि श्रूयते तच्चातिशयां  
अर्म्भपोढासातनोति स्वभावसुपेलवे चित्तप्रदेशे दुरारोग्यव्रण-  
मिवामरणमत्र जगति । यथोक्तञ्चार्य्यमिश्रेः—

“छिन्नं रोहति खड्गेन शरैर्व्विद्धञ्च रोहति ।

वचोदुरुक्तं बीभत्सं वाक्क्षतं न प्ररोहति ॥” इति  
परमेवमपि चेदकैतवमपि वचोऽप्रियं स्यात्तर्हि नोच्चरणीयं  
पुंसेति नीतिशास्त्रप्रवर्तयद्भिरुज्जीतम् । यथा—

“सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्माब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।”

किञ्च—

“सत्यमपि तन्न वाच्यं यदुक्तमसुखावहम् ।” इति  
यत् सत्यं सहस्राश्वमेधापेक्षयापि शुक्भारमुक्तं महर्षिणा  
रामायणे यथा—

“अश्वमेधं सहस्रन्तु सत्यञ्च तुलया धृतम् ।

तुलयित्वा तु पश्यामि सत्यमेवातिरिच्यते ॥” इति

एतादृशमपि सत्यमसुखावहमप्रियमपि चेत् कदा नोच्च-  
नीयं केषामिति सकललोकाचारसंविद्धिनैयकज्ञाः शासनशतै-  
र्वाक्यैरभिसप्तम् । नितरां परानुष्ठाष्टिमन्त्रोपमं मधुरं प्रियमेक-  
वचः स्वस्वरसनासने शश्वदेव स्थाप्यमित्युच्यते नयकुशलिभिः  
परमविधेयैः पुरुषैः, यथा—

“वाङ्माधुर्यान्नान्यदस्ति प्रियत्वं

वाक्पाठ्याच्चोपकारोऽपि नैष्ठः ।

किं तद्व्यं कोकिलेनोपनोतं

को वा लोके गर्हभस्यापराधः ॥”

अन्यच्च—

कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं

कौत्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति ।

ताञ्चाप्येतां मातरं मङ्गलानां

धेनु' धीराः सुनृतां वाचमाहुः ॥ इति

अवगतं तावदनेकैर्यत् गभीरवनान्तस्वारिणो विहङ्गमोत्त-  
माः पिक शुक प्रभृतयोऽशेषविभूतिमदुभिर्धनिकैः सुखरत्नादेव  
सुरपुरप्रासादोपसं स्वभवनमानौय रम्यं भक्ष्यं सुपेयञ्च यथेच्छ-  
मपैयित्वा सातिशयमाद्रियन्ते । एवमपि हि रम्यहावभावोक्त-  
सितैः सुरपुरसुन्दरौरपि विडम्बयन्तौभिरनेकाभिर्व्वराङ्गनाभिर्न-  
वपल्लवपेलवेनालूनकोकनदच्छदप्रतिमाग्रहस्तेन भ्रमरक्षणापक्ष-  
पुट पतत्रिणं प्रसार्य रसालं भोजनं भोज्यमानाः, किञ्चानेकशो  
विलासिनोभिः पश्ययुवतीभिर्गाढतिमिरवर्णप्रतिमकाकावयवाः  
कलकण्ठाः त एव विहगाः कण्ठरवार्यमेव सातिशयमभिनन्दन्ते ।  
एव तुल्यवर्णत्विषौ पिककाकौ यदा स्निग्धवनपतिलतान्तरितौ  
भूत्वा क्षुद्रफलानि भक्षितुमुत्सहेते तदा कण्ठरवमन्तरा तयो-  
र्निपुणेनापि कथं कथमपि शक्यते विभावयितुमेकतरोर्भेदः ।  
परं कण्ठरवोच्चारणमात्रादेव कोकिलं ससृहमवलोक्योक्तं  
तद्वनिः श्रूयते धीरैर्मूढैरपि चात्र जगति । काकस्तु सातिशय-  
कर्कशस्वरतया चक्षुव्यादानमात्रादेव विविधोपायैस्ताड्यत इति  
प्रकृतेस्त्रिरन्तनी निरर्गला पद्धतिः । परं दृश्यते तावदनेकत्र  
बहुदोषदुष्टोऽपि केवलं मधुरवचनप्रयोगादेव जनादरं प्रतिष्ठाञ्च  
लभते, प्राप्नोति च साधारणानां वेशिष्टां सद्गानुभूतिम् इत्य-  
मभीक्ष्य कोकिलदृष्टान्तेन कविनोच्यते—

पिकः कृष्णो नित्यं परमरुण्या पश्यति दृशा

परापत्यहेषो स्वसुतमपि नोपालयति च ।

तथाप्येषोऽमीषां सकलजगतां वल्लभतमो-

न दोषा गृह्यन्ते मधुरवचसां केनचिदपि ॥ इति

पुराणे च श्रूयते—पुरा जगत्प्रकार्यं हि योगनिद्रोत्थितेन भगवता वासुदेवेन सादृष्टं दुर्दृष्टौ मधुकैटभौ पञ्चदशसहस्रवर्षं युद्धं कृत्वा भगवतो मधुरया गिरा मुहितौ वरच्छलेन स्व स्वमरणं स्वीकृत्य तस्य वध्योपगतौ । एवं सुराणां श्रवणार्थपूर्णातिविभव-विस्तरया वाचा दनुजवृत्रनाशयेरम्बदार्थं महर्षिर्द्विधचिरात्तदेहं देवेभ्यः समुपहारीचकार । इत्यमित्येव बहुशः कार्योप-पत्तिः समुपजायते मधुरतो वचनादिति कस्तत्र सन्देहावसरः ? प्रियभाषणे नूनमपूर्वास्ति समाकर्षणौ शक्तिः, सा हि जातु विद्वेषयतामपि द्वेषमपाकर्तुं शक्नोति ।

एवं नास स्फुटमेवावलोक्यते यत् कस्यचिच्चेतसि गुरुव्य-थोत्पादानानन्तरमेव चिरेण स्वल्पेन कालेन वा तादृशी ततो ऽधिका वासङ्गा मनोवेदना विचिकित्सा किमु क्षोभमस्वच्छान्द्यं वा स्वचित्तभूसिमधिकृत्यातलकलुषमहापूरके चिरं निमज्जयति-तराम् । तथा तद्विपरीतया सुकथया कस्यापि प्रसादोपपादिते स्वचित्तमपि तद्विमलानन्दरसप्रवाहधारा समुपगम्य स्वर्गीया-नन्दसुखमनिर्व्वचनीयाच्च तृप्तिं विदधाति । परं स खलु सन्तुष्टमनाः सततमभिवर्षति शुभाशिसं, जनगोष्ठीषु च कौत्स-यति यशः, सकलहितच्चेहते, इत्यादि प्रियभाषणे इहामुत्र

लाभशतमभीक्ष्य प्रियवादिनां न कोऽपि परः इति सर्व्वेषामनु-  
भवसिद्धमतएव याथाव्यं साधूक्तञ्च चारित्रादिलोकाचारविशेष-  
ज्ञेन प्रेक्षावता “कः परः प्रियवादिनाम्” इति सुधाधिक-  
वाक्येन ।

### सञ्चयो नावसौदति—

सञ्चयस्तावत् प्रयोजनीयद्रव्याणासुतोपार्जितानामर्थानाञ्च  
कियदंशरक्षणं नाम प्रत्युपदिशन्ति शास्त्रसिद्धान्तकारिणः परम-  
विधेया आर्य्यमिथ्याः । नौतिरप्यास्ते—“आपदर्थे धनं रक्षेत्”  
इति । वस्तुतः संसारेऽस्मिन् सर्व्वेषामेव गृहमेधोनामवश्यमेव  
सञ्चयः कर्त्तव्यः । नितरां ऋते च तत् सञ्चयं नहि तावदे-  
क्षामपि रोग-शोक परितापपूर्णे संसारे कथं कथमपि जीवन-  
यात्रा सुखेन प्रतिपद्यते । यस्य यादृश एव अर्यागमो भवति  
स हि तादृशव्ययेन यदि निःश्वसति तर्हि भाविनि वार्त्तिके  
कायक्लेशेनाप्युपार्जितानामभवे वाढमेव नानाज्वालामयीं दशां  
समेत्य प्रतिक्षणं दुर्दमनीयभर्म्मवेदनया दंदह्यत इति नास्ति  
तत्र सन्देहोऽल्योऽपि, एवमुपार्जनकाले च यदि हेलया सञ्चयं  
न क्षुर्यात् तर्हि दुर्भिक्षे वा तादृशे प्राणसंशयकरे समये समा-  
याते तस्याविसृष्यकारिणो वराकस्य शतशो विपदसंकुलायाः संसार-  
यात्रायाः कथं निष्पत्तिः स्यात् ? परं तदा प्राणप्रतिम-पुच्छ-पौच्छ-



भार्यादिकुटुम्बानां तृणाविशुष्ककण्ठं मर्मन्तुदां सुदारुणां  
जठरज्वालाञ्च समीक्ष्य जीवतोऽपि च सृतवदेव तस्य सुनिश्चितं  
वर्तितव्यम् ।

एवं नाम देहिनां देह एव रोगमात्राणामावासभूमिर्विप-  
त्तोनां तीर्थशैला, कष्टानामाकरस्थलमिति समामनन्ति तच्च  
दर्शनो महर्षिप्रसुखाः यथा—“शरीरं व्याधिमन्दिरम्” इति ।  
अत एव यदि देवगत्या बलवता व्याधिनाक्रम्यमाणः दीर्घदिनानि  
तल्पतलमधिशयानो रात्रिन्दिवं केवलं शय्यामेवाध्यास्यो हर्हि  
सञ्चयहीनं तमेव वराकं क एव सुहृदुद्धरितुं समीपमागत्य  
सुव्यवस्थया करुणावारिधारामभिवर्त्य स्वसुचयेण निरामयं  
कर्त्तुमभिलषति, क एव वा भिषक् रोगाभिभूतं तमर्थमन्तरा  
निरामयं कर्त्तुमुत्सहते ? परं तमेव निःस्वं कुटुम्बाः कुटुम्बान्यो-  
ऽन्तरङ्गवान्वा वा न्यक्कृत्वावजानोयुः, न हिपरिजनाद्यापि  
सुचिरं दिनं तस्य प्रायश एव वशतापन्नाः स्युः, नितरां यथा-  
कालोपचारपथ्यादिपरिचर्याभावाज्जीवन्नपि सृतवदास्यायाचि-  
रेण परेतपुरातिथिर्भवन्नाकालिकमहाप्रस्थानजनितात्मनाशकलु-  
षपङ्के निमज्जानन्तकालं दुःखं लभेत, स खलु सञ्चयपराङ्मुखो  
मन्दभाग्यः ।

अपि हि सञ्चयमन्तरेण नहि तावत् काम्ययागादिकर्मा-  
नुष्ठानं व्रताचरणं तीर्थदर्शनमन्यत् किमपि वा अर्थव्ययसाध्यं  
पारलौकिकवेमास्यदं कार्यं सम्भवतितराम् जनानाम् । परं  
व्यावृत्ते सर्वेन्द्रियार्थे वार्द्धके समुपागते प्रतिपदमेव स्वलनं

भवति तेषाम् । सत्यं तत्र सञ्ज्ञयिनमर्थवन्तमर्थलोभेन निःस-  
म्यकिंतोऽपि पुत्राधिक्यत्वेन सेवते । परमर्थहीनं तमेवात्मपरि-  
जनोऽपि समवज्ञायते, उक्तञ्च श्रीमदाचार्यपादैः—

“यावद्वित्तोपाज्जनशक्तस्तावन्निजपरिजनानुरक्तः ।

तदनु च जरया जर्जरटेहे वार्त्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥” इति

वस्तुतः अर्थमर्जयितुमसमर्थस्य सञ्ज्ञयपराङ्मुखस्य तपन इव  
प्रदीप्तो वंशः, हृदयतिरिव धीः, स्कन्द इव रूपशक्ति-सामर्थ्य-  
मेवमन्यदपि सर्वमेव विफलतया प्रतिभाति, नितरां गृहस्थ-  
मात्राणामेव विलासादिव्ययमपाकृत्य भोजनाच्छदनेष्वपि  
किञ्चित् क्लेशं स्वीकृत्यावस्थानुरूपं सञ्ज्ञयमवस्थमेव करणोयम् ।  
हन्ता । तत्र कौटुम्बिकेव तत्त्वपूर्णमभाणि वाक्यं श्रीमद् विष्णुशर्म-  
नान्ता कविपुङ्गवेन—

“शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वीयं वित्तमपाज्जितम् ।

रसायनमिव प्राज्ञेर्हेलया न कदाचन ॥” इति

नैतदप्रत्यक्षगोचरं केषां यत् सञ्ज्ञयशौलं बन्धुबान्धवसम्पर्क-  
हीनमपि पथिकं सादरमेवाभ्यर्थयन्ति लोकाः, किन्तु सञ्ज्ञय-  
हीनं भार्यापुत्रादयोऽपि यथोचितं प्रायशो नाद्रियन्ते, तस्य  
समुचितप्रयत्नेऽपि मन्दादराः, कार्यमात्रेषु क्लमवतार्थे वाद-  
प्रतिवादपरायणाः एव भवन्ति । अतः सर्वेषामेव समुचितेषु  
ग्रामाच्छादनादिषु दैन्यमनुभूय यथासम्भवं सञ्ज्ञयनमवश्यं  
कर्त्तव्यम् । एवं हि पर्यवलोक्यते तावन्निष्कष्टप्राणिमध्येऽपि  
सञ्ज्ञयप्रवृत्तिः, मधुकरो भविष्यदर्थमेव पुण्यात् पुण्यान्तरं परि-

भ्रम्य कणं कणमेव मधु संगृह्य मधुक्रमं विचरति । पौपि-  
लिकादयो नगण्याः कौटाः भाविदिनसुखप्रतिपत्तये अहोरात्र-  
माहार्यमन्विष्य निजविलदुर्गे सञ्चित्योपभुञ्जते । भ्रमरकौट-  
पतङ्गाश्चामसृज्जिर्मिते गृहे भोज्याथं विजातीयं कौटमानीय  
स्थापयन्ति । पतत्रिनिकरेषु वायसाः श्वोदिनार्थं भक्ष्यं नयने  
निमित्त्य यत्र तत्र गूहरन्ति ।

एवं नाम सतामाभाणकमस्ति—“दृणादपि भवेत् काव्यं  
यत्नेन रक्षितं यदि” । इति वस्तुतः सांसारिकाणां तुच्छवस्तुमात्र-  
मपि नोपेक्षणीयं तच्च समयान्तरेण प्रयोजनीयं भवेत् । यतः  
एकैकेनापि सञ्चोयमानेन दृणेन काले प्रभूतमुपेत्य सहदुपका-  
रास्यदत्वमाधीयते । अतः कणमात्रमपि वस्तु नावज्ञातव्यं  
नोपेक्ष्यं न परिहातव्यञ्च कचिदपि गृहस्थानाम् ।

नूनमवगन्तव्यं तावत् प्रतिक्षणं भग्नसूर्पस्यास्ति भस्मनिक्षे-  
पार्थं प्रयोजनम् । एवं जीर्णवस्त्राञ्चलस्य द्रव्यशोधने, सन्माजने,  
कन्यादिनित्यप्रयोजनीयद्रव्यनिर्माणे च व्यवहारः स्यात् । अत-  
एव यत् किमपि वस्तुजातं यत्नेन रक्षणीयञ्चेत् कालान्तरं  
सातिशयासुपकृतिं साधयेत् । प्रतिदिनं संगृहीतेनापि लोष्ट-  
खण्डेन गभीरं कूपं प्रपूरयितुं शक्यते । इत्याद्यसंख्येयाः सन्ति  
दृष्टान्ताः । ते हि निपुणपर्यवोक्षणो नोच्यन्ते चेत् तेषां काव्य-  
कारित्वमपि सर्वत्रावलोकयितुं शक्यते निपुणैः । काण्वराटक-  
श्चैकोऽपि नहि नहि कदा गृहस्थानां विफलरक्षणो भवति ।

वाद्मेव जगत्स्मिन् सञ्ज्ञयपरो न तावत् कथं कथमपि

सांसारिकेषु दुःखमुपभुञ्ज्य नितान्तदुर्गतदशायामुपस्थितः स्यात् । एवञ्च तस्य भवलौलाललितनिबन्धे तु न पुनरभावो नाम व्यन्तरेण मुखं विहृत्य प्रकटविकटदशनं वह्निष्कल्योप हस्यते, स खलु सञ्चयपरवशो जनो लवमानमप्यत्र जगति ।

एवमपि दृश्यते सुखे वा दुःखे वा नितान्तदुर्गतदशायां वा संसारे सर्वत्रैवार्थस्य प्रयोजनम् । नचार्थमन्तरेण विषयिणां किमपि कार्यं सुसम्पन्नं स्यात् । जीवने मरणे वाप्यर्थानामावश्यकम् । नितरामेवंविधानामर्थानामभावः कौटुश एव दुःसहो मानवानां तदभावग्रस्थजन एव प्रमाणम् ।

तादृशार्थार्जनकालान्तरे केवलं स सञ्चयो हि नाम नराणामाश्रयस्थलं, जीवनधारणस्थ शरणः, आदरस्थ निलयः, प्रतिष्ठायाः हेतुः, सुखस्य च मूलमिति सर्वं विदित्वा शोभनमभिहितं नौतिशास्त्रावशारदेन केनापि पुरुषेण—“सञ्चयो नावसौदति” इति ।

—

आर्जवं हि कुटिलेषु न नौतिः—

इह तु विधातुर्विधानवैचित्र्ये संसारे सर्वे खलु भावाः परस्परविलक्षणाकारा इन्द्रमया एवाभिवर्तन्ते । तदुद्बन्धमयत्वं तावत् परस्परविपरोतधर्मरूपाः सातिशयविलक्षणाकाराश्च, यथा हि यत्र निखिलप्रकाशतेजः प्रतिभाति नूनं तदनु तत्रैव मेदुरः स्तिमिरस्त्रोमः समायाति ; तथा यत्र सुखं तत्रैव दुःखं ; यत्र

धनकनकादीनामुपचयः तत्र तेषामपचयोऽपि सदप्यमुपसर्पति ;  
 यत्र अरातिविजयश्चैर्वरिष्ठस्य वोरस्याङ्गमधिकरोति तदलक्ष्ये  
 चालक्ष्योरपि तत्र खैरं खैरं ससायाति । सद्यःप्रसुताभौको यथा  
 मातापित्रोरनन्तानन्दाश्रयः तथा निखिलनिरानन्दस्यापि ; इत्य-  
 मित्य' पुत्र-कलत्र-मित्रादिपदार्थमात्रेषु प्रियाप्रिययोः मिलन-  
 विरहयोरुत्पत्तिविनाशयोश्चानन्तसमावेशमभौच्य नूनं समुदयः  
 संसार एव इन्द्रचर इति सर्वथा प्रतिपन्नोऽस्ति । यदि नाम  
 इन्द्रमय एव प्रतिपदं परिलक्ष्यते संसारस्तर्हि सारल्यस्य विरुद्ध-  
 धर्म्मि कौटिल्यमपि वर्त्तत इति का भवितुमर्हति विप्रतिपत्ति-  
 स्तत्र ?

तच्च कौटिल्यमतिशयमायानिगूढरहस्यानामावासस्थलम् ;  
 न महातार्किकस्य विचारलभ्यम् ; लोकप्रत्यक्षकार्येऽविदितात्म-  
 पक्षम्, सभ्यरुसदिजनमनोविप्रलम्भकं, प्रच्छदपटावृतवस्तुवत्लोक-  
 गोष्ठौ च खमावृत्य विलसतितराम् । यथा भौषणतिमिर-  
 स्तोमसन्निपाते व्यालादिहिंस्रप्राणिनां गतिर्नकेषां ज्ञानगम्या ;  
 यथा वा प्राथोघेरन्तस्वारिणां मौण-नक्रमकरादीनां विचरण-  
 पद्धतिः स्थलाभिचरतां मानवानामतिशयदुर्व्वीध्वैवास्ति ; तद्व-  
 देव कौटिल्यस्यात्मविकाशः न कैरभिज्ञायते धरणीपृष्ठे । यथा  
 च वंशोस्वरमूर्च्छनया प्रतारिता वागुराभिः कुरङ्गाः, इस्तिनी-  
 स्पर्शनोन्मादनया निगडैर्मातङ्गाः, तण्डुलादिकणलोभनया  
 पाशोपन्यासेर्विहङ्गाः, मण्डूकादिव्यालभोज्यदर्शनेन, मन्त्रीषधि-  
 भिश्च भुजङ्गाः स्ववशीक्रियन्ते ; तथात्ममाहात्म्यातिशयानेन .

कौलिन्येनाकृष्यन्ते प्राणिनिवहाः सुपर्याप्तम् । तच्च सर्व्वथाति-  
दुर्लभ्यञ्च मानवानां दृशदि कौटिल्यं नाम कूटचित्तवृत्तिमन्तरा-  
त्रजगति ।

परं कुटिलता खलु कुटिलजनहृदयाश्रयवृत्तिः, तद्विपरीता  
सरलता च पुनः सरलचित्तवृत्तिकस्येति निर्व्विरोधितो विचार-  
सिद्धान्तः परमसत्यञ्च वचः श्रोमदाचार्यपादानाम् । परञ्चेत-  
दुभयोः पर्यालोचने प्रथमा तावदसाधुजननिषेवणीया पिशुन-  
मनोवृत्तिमतां चिरक्लोडनभूमिः, अपरा च सभ्यसम्बित्परि-  
शोभना चतुर्व्वर्गादि परमपदपद्धतिपरिचायत्री सुखदात्री मधुरा  
परा सरलता नाम, महती चित्तवृत्तिर्मानवानाम् ।

अपि हि व्यवहारोपगते नूनमेतदुभययोरेकतरयार्जववृत्त्या  
मतिमतामव्याधमशङ्कञ्च वर्त्तितव्यम् ; एवं हि निरन्तरमसदभो-  
प्सुना कुटिलप्रकृतिना तद् दुर्लभ्यं कौटिल्यमवश्यमेवावलम्ब-  
नीयम् ; यतः कुटिलेषु सारल्यं सारल्ये च कौटिल्यं मिथ्योप-  
चारिकव्यवहार इव सर्व्वथा प्रतिपद्यते, एवं समायाति तेन  
नयपथोलङ्घनं नाम प्रत्यवायस्य निरन्तरा धारा, घटति च  
महानर्थस्यैकायनी विरोधभूमिः । नितरामनुत्साहादिदोष-  
स्तमेव विषमव्यवहर्त्तारं गृह्णातीति प्रकृतिसिद्धो नियमः ।  
तत्राभाणकमप्यस्ति —

“सारल्यं सरले कुर्यात् शठे शाठ्यं समाचरेत् ।” इति ।

वस्तुतः सांसिद्धिकभावविरुद्धाचरणे प्रतिपदमेव स्वल्पं  
सम्भवति, सम्भवति तेनापि च चरमदुर्दशायास्तलातलगमनम् ;

ततश्च सरणमपि नाधिकदूरमिति क्रमपर्यायिता श्रेणी व्यव-  
हारपद्धतेरार्थमिश्रैरालोच्यते ; नितरां प्रकृतिकृतनियमानु-  
वर्तित्वमेव सर्वथा वर्तितव्यमवश्यमेव प्राणिनाम् । 'तद्यदि  
सम्यग् व्यवहर्त्तुं समर्थ्येत तर्हि वाङ्मेव निखिलेष्पोतभाजनं  
भवितुमर्हति नान्यथा शक्तेनापि चेष्टया तदर्थं समीहते स्तोक्-  
स्यपि कश्चन मानवोऽत्र जगति ।

अपि नाम यस्य यादृश एव स्वभावस्तदनु रूपेणैव भावेन  
तेन सह व्यवहारः करणीयस्तेन हि स्वाभिष्टसिद्धिः सौख्यमपि  
च सम्भवितुमर्हति । तद्विपरोताचरणं नयमार्गविरुद्धं क्लेश-  
निष्ठयोरण्यस्यापि वा व्यसनस्य सुप्रशस्ता शरणिस्त्वासस्यापि च  
क्षेत्रं भवेत् । उक्तञ्च कविना—

“सम्बर्द्धितोऽपि भुजगः पयसा न वश्य-

स्तुत्यालकानपि हिनस्ति बलेन सिंहः ।

दुष्टः परैरुपकृतस्तदनिष्टकारौ

विश्वासलेश इह नैव बुधैर्विधेयः ॥” इति

इयमभिसन्धिर्देवगत्या कस्यापि प्रत्यक्षं चेत् रंहसोपगतः  
फणश्चत्, स्त्रीया सामान्यश्वासप्रश्वासक्रिया व्याकुलोभूय मुहु-  
र्मुहुर्गर्जन् शब्दायते, तर्हि तत्र नहि कुटिलव्यवहारमन्तरा  
सद्यव्यवहारः कथं कथमपि दृशदि समापततितराम् । परं  
कृतेऽपि तादृशे दाक्षिण्यव्यवहारे प्राणानामपि संशयो भवति  
सुनिश्चितम् । एवमपि हि ऋक्ष-व्याघ्रतरङ्गेषु साधारणपशु-  
हत्या तत्संसर्गो व्यवहारश्च न कस्य मनसि समुदेति मनाक् ।

नूनं तत्र क्रूरवृत्त्या क्रूरव्यवहार एव केवलं तेषामाक्रमणतः  
परित्राणहेतुरिति प्रत्यगात्मनि वादमेवानुभवसिद्धम् । एवं  
नाम गोमहिषादिगृहपालिते शान्तस्वभावे जन्तौ सदयव्यव-  
हारेण तद्वारा शकटचालनं हलकर्षणमन्यान्यपि च प्रभूत-  
कार्याणि सहजसाध्यानि भवन्ति । कर्कशाचरणे तु पयस्त्रि-  
नो माहिषौ वा नार्थिभ्यो यद्योचितं दुग्धं प्रत्यर्पयति, परं  
विप्राणचरणादिप्रहारेण प्रथमतस्तुडयितुमुत्सहते ॥ ततो  
रज्जुना जङ्घां वद्ध्वा दुग्धं दोग्धं प्रवृत्तश्चेत् न पर्याप्तं दुग्धं  
समर्पयति क्वचिदिति प्रत्यक्षसिद्धम् । सुतरां प्रतिपन्नोऽस्ति  
सरलेषु कौटिल्यं कौटिल्येषु च सारल्यं सर्वथातिविषमम्, पर-  
मनिष्टस्य च हेतुः । अतः सरलेषु सारल्यमेव व्यवहरणीयम्,  
तथा कुटिले कौटिल्यमिति मर्मज्ञानां विशेषवाणी ।

दृश्यते हि पिशुनचेतसि साधुवृत्त्या व्यवहरणं तेषामसाधु-  
वृत्तेरेव सहायकम् ; यथा भुजगशिशूनां दुग्धपानेन तद्विष-  
ज्वाला एव समधिकं वर्धते, न च दुग्धमहिम्ना प्रशम्यति, न वा  
किञ्चिदूनं च लभते । तथा कौटिल्यव्यवहर्तारि सरलव्यव-  
हारस्तत् कूटकार्यप्रवर्धनार्थमेव प्रभवति । यथा प्रज्वल-  
हुताशनजठरे शुष्कहृण्मन्थनादिसमर्पणेन तत्तापस्य द्विगुणाभि-  
व्यक्तिरेवोत्पद्यते, न शान्तिः, न च वो तापनिवृत्तिः । दुर्जन-  
मुद्दिश्य कविनोक्तम्—

“दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।

न त्यजेतैलमर्देन श्रुनः पुच्छं हि वक्रताम् ॥”



किञ्च—“स्नेदितो मर्दितो वापि रज्ज्भिः पुरिवेष्टितः ।

सुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ॥” इति

एतावता पिशुनो बटुशः सरलताविधायकैः कार्यैर्न सारल्यं लभते, केवलं कौटिल्येनैव सारल्यमेतौतिहासप्रमाणम् । एवं नाम नैतदविदितमस्ति सभ्यानां यत् पुरा मूर्त्तिमत्सरलतारूपाः पञ्चपाण्डवाः स्वभावदौर्ध्यस्ये दुर्व्योधने सरलविश्वासस्थापनादेव द्यूतच्छलेन राज्यैश्वर्यादिहृतसर्वस्वाः कठोरवनवासदुःखमनुभवन्तः सुचिरं द्वादशवर्षे वनमुषित्वा दुर्विषहं दुःखमुत्सहन्ते । तथा सरलवृत्त्या नलभूपतिरक्षदेवनादेव परिभूयारण्यवासक्लेशमनुभवन् देवगत्या पत्नीमपि च हारयन् परमनिर्व्वेदमभजत् ।

इतिहासगर्भेषु समवलोक्यते—परमनीतिचतुरेण कौटिल्यापरनाम्ना सुरगुरुषेव सकलार्थशास्त्रसंविजानता गूढचारप्रयोगकुशलिना चाणक्येन स्वप्रतिमः कुटिलमतिश्चतुरचारचयसञ्चालनकुशलः परमकौटिल्यकलानामेकाधिपतिरिवापरसाहाय्यमन्तरा स्वयमेव नन्दराजराज्योद्धरणकामप्रोत्साहोज्ज्वलहृदयवृत्तिश्चन्द्रगुप्तवलवाहुल्यन्यपाकृताशेषशक्तिसामर्थ्यः प्रच्छन्नचारकार्यप्रचारभासुरमाहात्म्यभास्वरः प्रखरशतचमूवल्लोपचीयमानापरिग्रहविग्रहः परमकुटिलकर्मश्लिष्टो विशिष्टो राक्षसो नाम सकलाभिनन्दितो सहामहिमो महाराजनन्दसचिवः केवलं कूटनीतिप्रवाहपारम्यर्थप्रभावमाहात्म्येन चन्द्रगुप्तमन्त्रित्वपदे संस्थापि, सुचिरमिति रुचेपव्रतम् ।

इत्यमित्यं पुराणेतिहासागमेषु दृष्टान्तवाहुल्यमवलोक्य स्फुटं

प्रतिपद्यते, यत् कुटिलेषु नाप्रतियोगि सारव्यमभियुज्यम् । तत्र सर्वात्मना कौटिल्यमेव संविधातव्यमिति नैतिविदायभिसतम् । अतएवातिशोभनमभिहितं कविताचयरचनचतुरचूडामणिना लोकहर्षप्रकटनप्रकर्षेण श्रीमता श्रीहर्षकविना—“आर्जवं हि कुटिलेषु न नैतिः” इति सुधाधिकवचसा ।

### दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्\*—

अत्र तावत् प्रतिनियतपरिवर्तिनि प्रकृतिचक्रेऽपारसंसारचक्रे सत्वरजस्तमस्त्रैगुण्यवैगुण्येन परिभ्रमता विधिव्यवहारजाल-पतिताः किल समस्ता देहभृतः सर्वत्र स्वातन्त्र्येण सुखं काम-यन्ते । काम-क्रोध-लोभ मोहैः प्रवलतमैस्तस्करैर्मुषितज्ञान-भागे, वाढमेव प्रायशो जीवलोके साकल्येन प्रोक्तसद्वेषरागे सर्वे हि दुःखे वददद्वेषाः सुखे चात्यन्तरागाभिनिवेशाः सम-वलोक्यन्ते । उक्तञ्च—

“सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते

सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते” इत्यादि

एवं निश्चितं ये हि यत्र प्रगाढानुरागवन्तस्ते हि तत्राधि-गन्तुं यथाशक्ति यावज्जीवमेवात्मचेष्टांमनुतिष्ठन्ति, इत्येतदनु-सारेणैव सर्वे हि प्राणिनः स्वदृढानुरागविषयं सुखं लब्धुं विश्वं परितो भ्रमन्तीति प्रत्यक्षसिद्धम् ।

\* सर्वं नष्ट दारिद्र्यम् । सर्वशून्या दारिद्र्यता ।

तच्च सुखं त्रिभिन्नरूपतया तत्साधनमूलोभूतोऽर्थ एवेकः सर्वतोऽतिरिच्यते, प्रशस्यते च शास्त्रकृद्भिः । धर्मादिचतुर्वर्गसाधनेषु केवलमर्थ एव प्रधानसहायतया तमेव सर्वतोऽभिकामयन्ते कामिनः । नूनमेकमर्थमुपलभ्यैव ते स्वर्गादिसाधनशरणिं यागयज्ञकाम्यव्रतनियमादि सत्कार्यविधायकञ्च नानाकर्म निर्वहयितुं शक्नुवन्ति, प्रभवन्ति च प्रतिनियतसुखास्पदस्य धर्मस्यार्जने समर्थाः अतएव सर्वविधहितानुष्ठाने धनमेव प्रधानोपायभूतं भवति । उक्तञ्च धनमधिकृत्य कविना—

“धनैर्निष्कूलौनाः कुलौनाः क्रियन्ते

धनेरापदो मानवा निस्तरन्ति ।

धनेभ्यो न किञ्चित् मुह्यद्विद्यतेऽतः

धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम् ।”

अपि च—“यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलौनः

स एव वक्ता स च दर्शनीयः ।

स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः

सर्वे गुणास्तत्र समाश्रयन्ति ॥” इति

हन्त ! पुनर्वैभवशून्याः संसारे तावत् सारभूतेषु क्वचिदपि नैव विशुद्धसुखोचितलब्धभोगाः जनादृताः सफलमनोरथाश्च भवन्ति । प्रायो हि ते दारिद्र्यानिवन्धनतो विफलमनोरथतयैव गुरुकठोरघातप्रतिघातेन चेतसः शक्तिसामर्थ्योपभ्रष्टाः परिभवमासाद्य निर्विषाः, दुःखशोकनिलयास्पदत्वेनान्तर्हितविवेकाश्च सम्भवन्तितराम् । यदाहुस्तावदार्थ्यपादाः—

“दारिद्र्याद् क्षियमेति क्लोपरिगतः सत्त्वात् परिभ्रश्यते  
निःसत्त्वः परिभ्रूयते परिभवान्निर्व्वेदमाप्स्यते ।

निर्व्विस्त्रः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या विहीनो भवेत्  
निर्व्वुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्रदम् ॥” इति

अपि हि दारिद्र्यमेव पुंसो निखिलजीवनप्रवाहस्य कठोर-  
निलयं नाम महाश्लेशानमिवातिशयकर्कशं स्थानम् । तदधि-  
गतो जीवन्नपि च मृत्नवदेवास्ते विषयी । परं तच्च सदा पूति-  
गन्धमिव विजहाति बन्धुजनो दूरतो दूरान्निरन्तरम् । मृशं  
वैरायते च अवैरोऽपि लोकयात्रानिर्वाहव्यापारेषु प्रतिनियतम् ।  
संसारसञ्जानि तु नितान्तवैरहेतुमेव समासन्ति प्रायशो जीव-  
लोकाः । योजयन्ति च असम्भावितानाचारमपि तत्राद्वैधभावेन  
सम्यक् । उक्तञ्च—

“दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते  
सुस्निग्धाविमुखोभवन्ति सुहृदः स्फारोभवन्त्यापदः ।

सत्त्वं क्लासमुपैति शीलशशिनः कान्तिः परिस्त्रायते  
पापं कर्म च यत् परैरपि कृतं तत्तस्य संभाव्यते ॥” इति

अहो ! सर्वैरेव प्राणिभिः प्रतिनियतात्मसुखान्वेषणप्रणिधि-  
परचित्तरैकाग्र्येण कुत्रचित् सबहुमानमभिरम्यते, विस्तार्य्यते  
च नानाछद्ममयी वा क्लृपणा वाणो । किन्तु दुर्गतेषु जनेषु  
स्वार्थसम्पादनावसरं कथं कथमपि नासमौह्यं पुत्र-कलत्र मित्र-  
मृत्यु-बान्धवा अपि यथोचितं सम्माननमादरञ्च नाभिवर्षन्ति,  
नार्पयन्ति च सहजातस्नेहाभिवर्षणधाराम् । परं मधुपानां

पर्युषितप्रसूनमिव, सारसानां शुष्कसरमिव, मृगाणां दग्धवना-  
न्तरमिव, विहगानां पत्रपुष्पह्रीनं तरुमिव, सावज्ञं निर्देवं विर-  
जन्ति ते हि जनाः । एवञ्च शस्यौषधिपरिहोनोषरभूमिप्रायेषु  
हिमकणप्रपातसंवर्द्धनामिव दारिद्र्यप्रखरतापितान्तःकरणेषु  
प्रतिनियतदुर्मणायमानजनेषु स्नेहैकनिष्ठपितृभ्रातृप्रभृतयो महा-  
माननोया नैव प्रविमुक्तहृदयेनाशिषमभिवर्षन्ति, नाद्रियन्ते च  
सुतसुतादयः स्नेहप्रवणा जनाः, नापि सुहृदुत्तमा यथोचित  
सर्वर्द्धयन्ति, प्रायशो नो वा सहधर्मिण्योऽपि मर्मवेदनां तुल्य-  
रूपेण विगृह्य प्रेमाभिव्यक्तिं प्रकटयन्ति, किमु आजन्मजात-  
प्रेमबन्धना वयस्याः सम्भुक्तान्तःकरणमालिङ्गयन्ति ; हन्त !  
नापि वा भृत्याः स्थापयन्ति योग्यामेव सम्मानगाम् । अहो !  
दग्धभागधेयं तमेव दुर्गतं स्वातन्त्र्येण जगति निर्ममे किं पञ्च-  
पातदोषदुष्टान्तःकरणवृत्तिर्विधाता ? किमियं सृष्टेरपूर्वा सृष्टि-  
र्दारिद्र्यता नाम । प्रस्तूयते च सम्यक् कविना ब्रह्महत्यादि पञ्च-  
पातकातिरिक्तं षष्ठं महापातकं हि तद्दारिद्र्यं यथा—

“सङ्गं नैव हि कश्चिदस्य कुरुते सम्भाषते नादरात्  
सम्प्राप्नो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते ।

दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया,

मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम् ॥” इति

हा हा ! नास्ति दौनजनस्य हृदयवेदनायाः समभागी  
कश्चिदपरोऽत्र जगति । स हि सतत परैः परिभूयमानः सार-  
मेय इव गृहाद् गृहान्तरं ततोऽन्यत् तस्मादप्यपरं स्थानं जठर-

ज्वालया दंदह्यमानः क्षुब्धवृत्त्यै परिभ्रम्यात्मभाष्यवशेन कथं  
कथमपि न दरिद्रतामपाकर्तुं शक्नोति । न च गृहमेधिना-  
मश्लीलाभिभाषणस्य श्लेषवचनस्यापि वा प्रत्युत्तरमर्पितुमर्हति  
स खलु सन्दर्भाग्रो वराकः । अपि तु लवमात्रं कूपोदकमिश्र-  
णान् पूततमसन्दर्शनीसलिलराशिरिव निखिलललितकला-  
विशेषज्ञः, किं न न कलयाभ्याशेदर्शो ज्ञानविज्ञाननेत्रो गुणगण-  
विभूषितोऽपि मनोवीर्यदारुणदैत्यदोषग्रस्यतया वहति नोचाना-  
मप्यवज्ञानं ; समाप्नोति च जनसाक्षात्तां विरागताम् ।  
संगीयते तच्चैव केनापि कविना—

“न विद्यया नैव कुलेन गौरवं

जनानुरागो धनिकेषु केवलम् ।

पिनाकिना मौलिकतापि जाह्नवी

प्रयाति रत्नाकरमेवमादरम् ॥” इति

वस्तुतो दारिद्र्यमेवमेदुरीकते ज्ञानविज्ञानसन्दोषिते चेतसि  
मनस्विनां वारिवाहविनिर्मुक्ताः क्षणस्थचपलास्फुरणविलासा  
इव मनोरथा उत्थायोत्यायैव क्रमशो हृदि लीयन्ते । एवं  
प्रावृट्शैलनिर्भरिणीसह्यापूरुसंहृतय इव सर्व्वं विपत्तयस्तत्र  
समायान्ति, बहुलौभवन्ति च महान्तोऽनर्था, परं प्रक्षीणतां  
यान्ति किल ग्रीष्मकालोपरताः कुसरित्प्रवाहा इव तावन्त्यः  
सम्पत्तयस्त्रोषाम् । घनघोरतमोमयं जीवनं सर्वतो दुःसहभार-  
वहं निःस्नानम् । तेषां रात्रिशेषयामोपगतक्षीणप्रभतारका  
निकरा इव सौख्यवैख्यमाभीर्यादयः पुरुषोचितगुणधामाः

स्वतएवान्तर्लीयन्ते । एवं शिशिरपातकलङ्कितं कुशेशयमिव  
मल्लोमसं तेषां मुखमण्डलं सततमभिकाङ्क्षति दयाद्राणां करुणा-  
धाराम् । किं बहुना तादृशस्य तपस्विनी देहयष्टिरपि यथो-  
चितभरणपोषणाभावेनाविरेण आमयोभूत्वा परेतपुरपतेरतिथि-  
तामुपगता ।

अहो ! प्राय एव तादृशी मन्दभाग्यश्चिन्नवस्त्राञ्जलमात्र-  
सहायेन दुर्वारणीयौ शीतातपौ वर्षाधारामन्यानपि च नैसर्गिक-  
नियमान् पशुरिव निर्विवादं सहते, सहते च भृशं पिशुनकैतव  
शतं, समावहति हि पुनर्मूकवदन्यैरुपचारितं मिथ्यावादकलुषं  
दुर्ललितं वचःशैलम् । एवं स्वावासाप्रसस्तोऽजस्य विरलाच्छा-  
दनतया समापतति तदन्तरे रात्रिन्दिवं सूर्याचन्द्रमसोर्निरर्गला  
तेजोधारा । गेहमध्यं तैजसभाजनाभावेन करण्डकैश्चिन्नकन्या-  
खण्डैः कपालपात्रैश्च मण्डयति क्षीणकर्माशयोऽकिञ्चनोऽन्न  
जगति ।

स हि दुःखो निरन्तरक्लेशकशायितक्षतविग्रहोऽमुक्तं श्रेयस्करं  
किमु तदपायमिति न समवधारयितुमवसरं समोहते । नितरां  
महापातकादिकलुषविषयं दुष्कार्यमविचार्यैव स्वतः प्रवर्तते,  
रमते च येषु केषु पापविषयेषु साग्रहम् । दारिद्र्यप्रपौडित-  
हृदयस्य चारुदत्तस्य वाचा प्रकाशयति कविः कर्कशकठोर-  
स्वरूपं दारिद्र्यस्य । यद्धि मरणादपि सातिशयं भैरवम् । यथा—

“दारिद्र्यान्मरणाद्वा, मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।

अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥” इति

अपि सत्यमेवाजन्मसुखोपभोगनिरतानां विलासोपकरणे  
न्यस्तचेतसामृद्धिमतां देवगत्यापतितं दारिद्र्यकृच्छ्रं वाढमेवा-  
त्यन्तदुःसहमिति कोऽस्ति तत्र सन्देहावसरः ? नैव ते साधा-  
रणवत्तद्दुःखं मर्षितुं समोदते, नापि वा तदपनेतुमपि प्रभवन्तीति  
द्वयमेवात्यन्तदुर्विंसहम् । उक्तपूर्वे दारिद्र्यस्वरूपोपवर्णयिता  
भासेन किमु शूद्रककविना—

“सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते

घनान्धकारेष्विव दीपदशनम् ।

सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां

धृतः शरीरेण मृत, स जीवति ॥” इति

इह हि प्राय एव दारिद्र्यविषसंमूर्च्छनया मुह्यमानाः  
मनुष्याः कार्याकार्ये धैर्याधैर्ये पात्रापात्रञ्च विगणय्य विश्वं  
परितः अटन्ति, कुर्वन्ति च अनेके स्वशक्त्यातिरिक्तं स्वस्वभाव-  
वैपरित्यं वा कार्य्यशतम् । तेन शुभमशुभं वा तद्भावयितुमपि  
नैवायात्यवशरः । सुभाषितमत्रास्ति भाषान्तरे कस्यचिन्महा-  
त्मनः—

“उद्भरणकारणं प्राणी न करइत लाज् ।

नाचे वाचे रणभीरै वाहेना काज् अकाज् ॥” \* इति

इत्यादि दारिद्र्यमाहात्म्यामालोच्य कविभिर्दुच्यते—

---

प्राणी जठरज्वालानिवृत्तये लज्जां त्यक्त्वा नृत्यति, अर्थात् लज्जाशीलापि स्त्री  
वृषभंसदि नृत्यति । अपटुरपि नाविकः दुस्तरं समुद्रं तर्जुमभिलषति । रणभीरुस्य  
युद्धार्थं संग्रामं निविशते । एतत् सर्वस्य मूलं दरिद्रता नाम मानवानामवस्था विशेषः ।



“दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्” “सर्वशून्या दरिद्रा ॥” सर्वं नष्टं दरिद्रस्य” इत्यादिश्लोकपादा अन्वर्था अर्थानुवहन्तीति यथार्थं वक्तुमुपयुज्यते । तत्र किमधिकेन वचसेति श्रम् ।

### संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति—

संसर्गो हि नाम परस्परैकतावस्थानरूपः सम्बन्धः । स तावत् स्थूलतो द्विविधो भवितुमर्हति सदसदुभेदात् ।

दृश्यते सर्वे खलु प्राणिनः संसर्गप्रियाः ; न च किल कोऽपि संसर्गमन्तरेण वर्त्तते ; निष्कष्टप्राणिमध्येऽपि सुस्पष्टं प्रतिभाति; एकः अपरस्य संसर्गं कृत्वा परस्परं सन्धित्य समजं निर्माय काननावनौ वियति वा विचरति । इत्यादिक्रम एव विलसति सर्वत्र विधातुः ।

मनुष्येषु किञ्चिद्वैशिष्टम्—यो हि यस्य संसर्गो वर्त्तते स हि तत्संसर्गानुरूपं गुणं दोषं वा विधत्तेतराम्, संक्लामन्ति च तत्र प्रसभं तड्भिन्नवाचा इव तत्तद्गुणदोषाः, आचारव्यवहारादयश्च । नितरामैहिकं किमु पारत्रिकमिष्टमनिष्टं वा प्रतिसर्गोऽपि कारणमेकमसाधारणम् । उक्तञ्च नयविदाचार्य्यपादैः—

“यादृशो यस्य संसर्गो भवेत्तद्गुणदोषभाक् ।

अयस्कान्तमणेर्योगादयोऽप्याकर्षको यथा ॥”

कविनापि—

“सन्तप्तायसि संखितपयसो नामापि न ज्ञायते

मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।

स्वात्यां सागरशक्तिमध्यप्रतित मुक्ताफलं जायते

प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥” इति

नैतदप्रत्यक्षं यत् संसर्गतः एव चरित्रवान् चरित्रहीनो  
भवति, दुर्जनोऽपि सुजनायते साधुपुरुषसंसर्गेण तत्करोऽपि  
मुनिवृत्तिमवलम्ब्य इच्छासुख परमसुखमुपभुङ्क्त इति दृष्टान्त-  
स्यापि नासङ्गावः ।

अपि प्रायश्चित्तं संसर्ग एव पुंसामनुकरणप्रवृत्तिमुत्पाद-  
यति । तेन हि स्वर्गं नरकं वा घटते किमु सपुत्रतिमवनतिं  
वा । तत्र तावत् प्रथममेव समाकर्षन्ति चेतो ब्रोटनद्वीपवासि-  
नोऽस्त्राकं राजजातीयः पुरुषधौरेया इराजाः ।

ते हि पुरा अन्योऽन्य कलहं कुर्वन्तः सुचिरं दिनमनयन् ।  
ततो रोमाणोया ब्रोटनद्वीपं तांश्च विजित्य शशासुः । तत-  
स्तत्रत्यास्तेषां शासनसमयादारभ्य विजेतृणां संसर्गात् तेषा-  
माचारधर्मादिकमनुजित्य शनैः शनैरुन्नतिपदवोमधिरुह्य क्रम-  
विकाशेन वर्तमानैराज जातित्वमवापुः ।

एवं संप्रति नानाज्ञानविज्ञानसन्ताना जापानीयाः शौर्य-  
वीर्यगाभीर्य-ज्ञान-विज्ञानाभिमानिनां भूमण्डलाधिवसतां  
पुरुषपुङ्गवानां समधिकां दृष्टिमाकर्षन्ति, तान् तु नानेके  
ज्ञानविज्ञानाध्यवसायगुणगुणवो मूर्त्तिमन्मातृमर्थ्यप्रतिमतया

सभ्यपदवौत्वेनाप्यङ्गोक्तुमतिशयकुण्ठितकण्ठा लज्जिताश्वासन् ;  
तानेव हि संप्रति ते मानवयितुमनुगृह्णन्ति । जगतामेकतम-  
शक्तित्वेन प्रस्तुवन्ति ; बाणिज्येऽप्रतिदन्दिनश्चेत्याख्यायन्ति च ।  
तेषामेतस्या उन्नतेर्वर्त्तमानसभ्यताभिमाणिनामिंलण्डाधिवसतां  
पुरुषसिंहानां संसर्ग एव प्रकष्टहेतुतया विनिर्दिश्यते सकल-  
तत्त्वार्थदर्शिपरमविधिज्ञैः ।

अधःपातस्य च भारतीय एव सुव्यक्तप्रमाणम् । ये  
हि प्राक् ज्ञानविज्ञानालोकधारया अलौकिकप्रतिभया च  
भूमण्डलाधिवसतां न केवलं तेषामुत स्वर्गपातालस्थानामपि  
जोवानां विषयमुत्पादयन्ति ते नूनमिदानीं स्वाधौनचित्ता  
ऋषिपुत्राः श्रवृत्तिमाश्रित्य न किं चरमदुर्दृशासुपागताः ?  
भवतु तद्वितथमवितथं वा तत्प्रमातारो जगद्वासिन एव  
प्रमाणम् ।

अस्ति तावन्महाभारते गौतमनामा कश्चित् ब्राह्मणः । स  
हि भिक्षामटन् ब्राह्मणहीनं धनकनकसमृद्धं ग्राममभौक्ष्यं तत्र  
गत्वा दस्युपतिं शरत्क्षमा आहार्यं वासस्थानञ्च प्रार्थ्य प्रार्थना  
नुरूपं सर्व्वं ततो युवतो दासोच्च प्राप्य तत्र गृहं निर्माय निव-  
सति स्म । ततस्तत्रत्यानां संसर्गात् क्रमशो व्याधवृत्तिमवलम्ब्य  
सुचिरं सुखेनास्ते । अथ कदाचित् गौतमस्य कश्चित् सुहृद्  
दैवगत्या तत्रागत्य तस्य जातिधर्मादिकं समुल्लिख्य मृदुर्मर्त्ययन्  
गौतमगृहे रात्रिवासं कृत्वा प्रातरन्यत्र ययौ । तदनन्तरं  
गौतमोऽपि गृहान्निगत्य पथि वक्ररूपिणा नाडीजङ्घेन समं

सैत्रौ विधाय तदुपदेशेन विरुपाक्षं राक्षसपतिं प्राप्य  
बहुहाटकानि तस्मात्सङ्घा प्रत्यावृत्तविलायां भक्ष्यार्थं सुहृदुत्तमं  
वकं व्यापाद्य मार्गं चलति । ततो विरुपाक्षेण तस्य तादृशं  
दुष्कार्यमभिज्ञाय जीवनदण्डेन स दण्डितः । ततः पुरन्दर-  
वरेण गौतमवकौ जीवनं लब्ध्वा स्वस्वधाम गतौ । गौत-  
मस्तु स्वगृहमेत्य श्वर्यां सुतादोन् जनयामास । अतएवोक्तं  
नयशास्त्रप्रवर्तृभिः—

“होयते हि मतिस्तात होनैः सह समागमात् ।

समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥” इति

विशिष्टसंसर्गाच्च त्वष्टृपुत्रो व्यासशिष्यो लोमहर्षणो नितान्त-  
हीनवर्णोऽपि सकलशास्त्रार्थदर्शी पुराणवक्ता । स पुरा नैमिषा-  
रण्ये सङ्गर्षिगणोपेतमाश्रमपदं नानाविधया शास्त्रदृशा मुख-  
रितमकरोत् । अतः संसर्गस्थानन्ता शक्तिरतुलनीया च गतिः ।

उक्तञ्च—

“काचः काञ्चनसंसर्गाद्वत्ते मारकतौर्द्यतौ ।

तथा सत्सन्निधानेन मूर्खी याति प्रवीणताम् ॥” इति

अपि च समनुश्रूयते तावन्मलयाद्रौ चन्दनपादपसुसन्निहितौ  
हि निकृष्टवन्धमहोरुहः स्निग्धश्रीखण्डगन्धेन स्वसारं पूरयति ।  
उपदिष्टञ्च नीतिविदा—

“मानवै पूजनीयः स्याद्देवसंसर्गतः पशुः ।

कौटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ॥” इति

नूनं सत्संसर्ग एव जगतामशेषदुःखदैत्यमपाकरोति,

चरित्रं शोधयति, सुखमातनोति, यशः प्रसारयति, स्वर्गद्वार-  
शरणमपि चाविष्करोति । उक्तञ्च कविना—

“जाड्य धियो हरति सिञ्चति वाचि शैल्यं

नानोज्ज्वलिं दिशति पापमपाकरोति ।

सन्तोषमाकलति दिव्यु तनोति कीर्तिं

सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥” इति

वस्तुतो यस्तावदिह दयायाः प्रतिमूर्तिः, सुखे वा दुःखे  
वा सातिशयदुर्गतदशायां वा न कदाचिदपि स्वकर्तव्यतो  
विचलति, धर्मतो लोकतो वा अनुचितं कर्म न कथं कथमपि  
विदधाति ; सर्वत्र सत्यवादितया प्रत्यायते, इन्द्रियग्रामाश्च यस्य  
वश्याः, सततं शत्रुरपि गुणे यस्य समधिकादरः, ईदृगेव परम-  
पुरुषलक्षणलक्षितो महामनाः साधुनाम्ना व्यपदिश्यते पराचीना-  
र्थवर्त्यैः । तादृशस्यैव संसर्गः सर्वथा कर्तव्यः । तत्संसर्गा-  
च्चतुर्वर्गसिद्धिरपि करतलामलकवत् स्वल्पायाशेनैव सम्भवति ।  
श्रूयते किल साधुसंसर्गमाहात्म्यात् कुटिलः सरलायते, असरलः  
सरलीभवति ; समप्रधानतपोवनान्तश्चारिणः सिंहशार्दूलादयः  
पुरा मुनिवटुभिः समं गृहपालितमार्जारवृत्त्या क्रीडन्ति स्म ।  
नौवारकणलीमेन मृगशिशुः कण्डूयति स्म मुनिजायांशदेशम् ।  
अहो ! धन्यमेव साधुमाहात्म्यम् । साधुताप्रभावेनोटजान्तरं  
दीनस्य प्रासादतलादपि सुसम्पन्नतया मनोरमं सर्वथा प्रतिभाति ।  
शोकतापतापितान्तःकरणे पूतोपदेशधारया शान्तिमुपनयति  
सैव साधुता नाम । उक्तञ्च केनापि —

“गुणायन्ते दोषाः सृजनवदने दुर्जनमुखे  
गुणा दोषायन्ते जगति किमिदं विस्मयपदम् ।  
यथा जौमूतोऽयं लवनजलधेर्वारिमधुरं  
फणौ पीत्वा क्षीरं वमति गरलं दुःसहतरम् ॥” इति

नूनं केवलं सत्संसर्गतः एव यत्प्रभवितुमर्हति ; न च तत्  
शास्त्रवचसा, सहस्रोपदेशेन, कोटिकोटिपुण्यपत्तनाधिगतेन,  
तीर्थसलिलनिमज्जननेन, इन्द्रियनियमनेन च सम्भवति । यथा  
सत्संसर्ग उन्नयति, प्रसारयति च देशतो देशान्तरं प्राधान्यम् ।  
तथासत्संसर्गश्चाधःपातयति सङ्कोचयति च माहात्म्यम् । सकल-  
गुणगरिष्ठो विद्याविभूषितश्चापि संसर्गपापात् निन्दनीयः, मनुष्य-  
पदवौत्सेन च परिहोयते, महाकुलप्रसूतोऽपि सङ्गमाहात्म्या-  
न्निजगोष्ठोभिः सममात्मानं मलिनयति । कुसंसर्गेण कमला-  
कुलपुत्रोऽपि नाविरेण दरिद्रायते । क्षितिपतिरपि क्षेत्रतो  
भ्रष्टः, पुण्यप्रतिमश्च वजनोयनामा भवति । अत्र सतामाभा-  
वाकम्—

“असतां मङ्गदोषेण को न याति रसातलम् ।” इति

इत्यमित्यमसंख्यात एव वर्तन्ते गुणदोषाः संसर्गात् । तच्च  
विज्ञातुमिच्छुना केनाप्याश्रमाधिगतेन आशमिणा शुकपोतः  
पृष्टः । स तं प्रत्युत्तरेणाह—

“माताप्येका पितात्येको मम तस्य च पक्षिणः ।

अहं मुनिभिरानीतः स चानीतो गवाशनेः ॥

अहं मुनीनां वचनं शृणोमि  
 गवाशनानां स वचः शृणोति ।  
 न तस्य दोषो न च मे गुणो वा  
 संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥”

इत्यास्तां विरतिः संसर्गसंवाहिनौकथाया अविस्तरेणेति ।

### दयावान् धरणोपूज्यः \*

इह खलु संसारे जलबुद्बुदनिकाशकल्पे विनश्वरे जगति  
 क्षणभङ्गमिदं शरीरं लब्ध्वा ये नरा दयाप्रवणहृदयास्ते हि  
 निखिलासीमशर्मसम्पदमासाद्य भाविन्यपि च जनने पूजार्हा  
 भवन्ति । समाचिन्वन्ति च महतीं कीर्तिं परत्र च शाश्वतिकं  
 धर्ममिति । किं बहुना भगवता मङ्गलमयेन समं पूजयन्ति  
 दयावन्तमाचार्यमिश्राः कर्मबहुलायामत्र भारतभूमौ । पर-  
 मिहाधिव्याधिनिरवच्छिन्नपर्याकुलिते जीवधामनि कति कति  
 नरा जहिरि अशुचि । कति कति वा उत्पद्यन्ते उत्पत्स्यन्ते च  
 के तान् परिगणयन्ति आसनयन्ति च । ते खलु पुण्यतमाः  
 सार्थकजन्मानो ये तावत् परक्लेशमपाकर्तुं प्रभवन्ति । अपरे  
 केवलं पानभोजनार्थमुत पशुवृत्तिसम्पादनार्थं वा प्राणान्  
 धारयन्ति । उक्तञ्च—

\* दयालुर्देवता साक्षात् । दयैव परमो धर्मः ।

“सर्वेषु जीवेषु दयालवो ये  
ते साधवो मे गुरवो न चान्ये ।  
पाषण्डिनस्तूदरपूरकाश्च  
प्राणातिपातेन वदन्ति धर्मम् ॥” इति

अस्ति तावदस्योदाहरणं दयावन्तमधिकृत्य—पुरा हेमकु-  
टाद्रेः समोपवर्तिनि धर्मपुराख्ये नगरे जीमूतकेतुर्नाम श्रीमान्  
राजचक्रवर्ती विद्याधरपतिः पुरोहृत इव प्रतिवसति स्म । तस्य  
राज्ञो बुद्धिसत्त्वांशसम्भवः सर्वभूतानुकम्पो दानवीरो निखिल-  
गुणोपचयान्वितो जीमूतवाहनो नाम सुतोऽभवत् । तं तु  
यौवराज्येऽभिषिच्य राजा परमां प्रीतिमलभत । कुमारोऽपि  
यौवराज्यमासाद्य धराणामशेषदीनदैव्यदशमवलोक्य स्थायत्तं  
सर्वकामदुषं कल्पपादपमर्थिभ्योऽदात् ।

अथ तस्य गोत्रजा मात्सर्यादिसहिष्णुवो मूलबलोपचितेन  
कल्पपादपपरिरहितं तं युद्धाय समाह्वयन्तः । जीमूतवाहनस्तु  
स्थविरपितरमभ्येत्यप्राह—‘तात, किं पुनरेतस्य विनश्वरस्य देहस्य  
कृते ज्ञातिबन्धुनिधनातिगर्हितार्चितकल्मषानुसरणेन ? विशेषतोऽ-  
तिमात्राल्पक्षणापातसुमनोरमा सम्पत् तद्धिक्कतेवातर्किते नैवो-  
देति विनश्यति च तदर्थमलं, तस्यानुसंशक्तविग्रहेणास्माकम् ।  
येनेहामुत्रक्लेशभाजं भवेम ?’ जीमूतकेतुस्तदाकर्ण्य—‘हे पुत्रक,  
तवार्थमेव मे राज्यमेतादृशी सम्भावना च यद्येतन्न रोचते ते  
कृतमनेन । ततो राज्यं परिहाय पिढभ्यामन्वितः कुमारो  
मलयाचलमभ्यगच्छत् । तत्र च कृताश्रमः सहजसमुत्पन्नैः



स्कन्दमूलफलैरनुदिनं मातापितरौ समभ्यसेवत । ततः स्वल्पै-  
रेवाहोभिः कुमारस्य तत्रत्यसिद्धराजस्य विश्वावसीरङ्गजेन मित्रा-  
वसुना सहतो भैत्रो सञ्जाता । मित्रावसुस्तु जोमूतवाहनस्या-  
लौकिकगुणेन विमुह्य स्व-स्वसारमनवद्यङ्गो मलयवतीं तस्मै  
सम्प्रदात् । साप्यनुगुणमेव भर्तारमासाद्य परां प्रीतिमलभत ।

अथैकदा कौतुकप्रणोदितो जोमूतवाहनः समुद्रवेलाभूमि-  
मभ्यचरन् नातिदूरे रमणीकण्डसमुत्थितातिकरुणक्रन्दनरोल-  
मश्रीप्रीत्, अद्राक्षीच्च क्षणादेव पुरवर्त्तिन्यनतिदूरे धवलाति-  
तुङ्गगिरिमुङ्गमिवास्थिराग्निम् । तदन्तिके च सुकुमारकुमार-  
मन्वितां—‘हा पुत्रक, शङ्खचूड, हा ! दुःखशतलालितकुलतत्तो,  
क्वाहं त्वां पुनर्दृक्ष्यामि ? हा हा ॥ वत्स, दिनकरकरस्पर्शादेव  
यद् दूयते तवाङ्गं तत् कथं कथमपि ताल्यभक्षजां दारुणां रुजां  
सहिष्यसे ? हा हा ॥ अधन्याया नयनानन्द’ इति भूम्यभि-  
लुण्ठितां व्यलपन्तीं कामपि कामिनौम् तामभिगम्याह  
जोमूतवाहनः—‘अम्ब, किन्ते परिवेदननिदानम् ? कोऽयं  
वा ते चेलाञ्चलगृहीतोऽभङ्क’ इति तदति करुणमपि वचो  
निशम्य साश्रुपूर्णेक्षणा बाष्पावरोधितकण्ठा गरुडशङ्किनौ सन्त्र-  
स्तालपत्—‘भो, महाप्राण पतगेन्द्र, मां भक्षय जहिहीमं मे  
तनयम्’ इति । तावत् शङ्खचूडः—‘कस्ते व्यामोहः ? मातः,  
साध्वसास्यदं वैननेयं कं परिगणयसि ? वीक्ष्यसे न च किमस्य मेदू-  
राह्वादास्यदमुखं येनेक्षणेनेक्षितव्यमात्रेणाक्लीयते सपदि नूनम् ।’  
ततः पुनः कुमारो ब्रवीति—‘अयि स्नेहैकशरस्थे, मा विमेषि,

गृहं प्रतिनिवर्त्तस्व, त्वत्पुत्रार्थं जीवितं देहञ्च बलिमुपहरामि  
पतंगेन्द्राय ।' इत्याकर्ण्य—'धिङ् मां • मन्दभागिनीमित्यालाप-  
यन्तो बाष्पावरोधितकण्ठा भुजङ्गमाङ्गनाह—'हे महाभाग,  
किशोररूपिन्, पुरुषोत्तमविग्रह, अस्मत्कृते यदुद्यमस्ते तेनैव  
परिक्रोणासि विपन्नभागधेयां मादृशीं प्रायोपवेशनकल्यामधन्याम् ।  
गृहं प्रतिगच्छ, प्रीणोहि च पितरौ आप्यायस्व च प्रियगृहिणीम्'  
इति । ततश्च शङ्खचूडः—'हे मनुजकुञ्जर, दर्शिता त्वया महा-  
प्राणिता, गृहीता वयमौदार्य्येण, किन्तु नैच्छेदात्मविनिमयेन  
युष्मत्पदान् विक्रेतुम्, अपि चेह कोऽयमिच्छति—'वैदुर्य्यविनि-  
मयेन तुच्छोपलखण्डंलङ्घम् ? नूनं मादृशैः क्षुद्रैरेव पूर्णा  
वसुन्धरा । परं विरलास्तु भवादृशा महानुभवपरार्थसाधन-  
प्रवणहृदयवेगाः । तत् भद्र, इन्दोरिव द्युतिष्वतो ममान्वयस्य  
नाहमानेस्थामि कलङ्काङ्गम् । अयि, मातः प्रतिनिवर्त्तस्वाह-  
रहो जननौहृदयाच्चितस्नेहविद्रावनो भूमितलात् । अहो !  
किं न पश्यसि ? हिरदरदच्छेदातिधवलं पोतशोणितहरिदशन-  
मिव महोन्नजानामसृगनुलितं बध्यशिलातलम् । तदामन्त्रये  
ममोत्तरजन्मनि दर्शनाय इति क्षणादेवात्रत्यं संसारविध्वंसनैक-  
शरणमम्बिकाविलासिनमम्बिकापतिं गोकर्णालयमभिवन्द्य प्रत्या-  
गमिष्यामि, युव तावत् व्रजथः' इति कथयित्वा शनैः शनैरेवा-  
दृश्यमभ्यगात् । मातापि तदनुशरणक्रमेण रोदनपरा प्रतिगता ।

अत्रैव क्षणे प्रावरणाच्छादिताङ्गो जीमूतवाहनो 'बध्य-  
शिलातलमधिकृत्यासीत् । तावत् सपदि पक्षिराजः शङ्खचूडं

मन्यमानश्चपुटेन निभिद्य भोक्तुमारभत । तेनापि च हृष्ट-  
मानं पुलकोद्गमरोमराजिमवलोक्य विश्वयान्वितः खगपति-  
रचिन्तयत्—‘अहो ! आवाह्यतो नागाशनात् वर्द्धते मे शरीरं  
किन्त्वद्यापि न पश्यामीदृशीं धैर्यप्रवणताम्’ इति मुहूर्ते  
विनिवर्त्तिते भक्षणे—

“सिरासुखैः स्यन्दत एव रक्त-

मद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।

हृत्तिं न पश्यासि च ते महात्मन्

किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्वन् ॥”

इत्युक्ते जीमूतवाहने युगपच्छतवृश्चिकदंशनोपमं मर्म्भणि  
भिद्यमानं दुःखं मन्यमानो वैनतेयः प्रतिनिवृत्त्याशनादचि-  
न्तयत्—‘अहो ! रे कोऽयं भवागारैकशरणो धैर्यप्रतिभूति-  
मान् आजन्मतः पन्नगपिशितभक्षयता मया निर्मुच्यते अद्य जठर-  
दैव्यात् । ये भक्षणीयास्ते हि महर्शनमात्रेण सुञ्चन्ति संसार-  
ग्रन्थिम् ।’ भवतु तावत् वेद्मि—‘भो महासत्त्व, को भवान्,  
किमर्थं ते एतादृशी दशा’ इति । ततो जीमूतवाहनोऽब्रवीत्—  
‘हे गरुत्वन्, कोऽयं ते प्रश्नः ? वेलातिवर्त्तिते प्रकृतमनुसर’  
तस्मिन्नेव मुहूर्ते शङ्खचूडस्तत्रागत्य—‘हं हो ! विनतानयना-  
नन्दनखगोत्तम, किमद्य ते विश्वसः ? मैवं समाचर । नायं  
पन्नगः, अहमेव भवदुभोज्यः । किं न पश्यसि मे भोगं दे रसने  
सुव्यक्तं पुच्छच्च ? परिहर एनं विद्याधरतनयं जीमूतवाहनम्’  
एतन्निशस्य स्वभ्रमनिष्कुषितप्रत्ययोदयात् खगपतिर्भृशमनुत्तप्तः

कुमारमाह—‘भो नरोत्तम, का ते रुचिः ? किमर्थमेतादृशं साहसमाहितम् ?’ इति । स आह—‘विसिनीपत्रगतेन जलकणेनेव क्षणस्थायिना कायेनैकस्यापि सरिसृपस्य तद्विनिमयेन जीवनं रक्षितुं प्रभवामि चेत् मन्ये सार्थकतास्य देहस्य’ इति । तच्छ्रुत्वा खगपतिः तं बहुशः स्तुत्वा किन्ते प्रियमुपहरामीति तस्मिन्निगदिते स आह—‘पत्ररथ, यदि मे वरं दास्यसि तर्हि अद्यप्रभृति नागाशनात् प्रतिनिवर्त्तस्व, जीवयतु भक्षिताहीन्’ इति । वादमेव स्यादित्युक्त्वा गरुडः स्वर्गादानौयतया सुधया तं सरिसृपाणामस्मिराशिञ्चाभ्यसिञ्चत् । ततस्तेनैव च सर्वे निसर्गतोऽपि जनप्रतिमशरीरमलभ्य स्वपुरमभ्यगच्छन् ।

इत्यमेवाकिञ्चित्करव्यपदेशेनापि दयालवः पुरुषाः स्वं शरीरं जीवनञ्च परार्थे बलिमुपहयामासुरिति साधूच्यते ‘दयावान् धरणीपूज्यः’ उत ‘दयालुर्देवता साक्षात्’ किंवा ‘दयैव परमो धर्मः’ इति किं बहुना ।

### अवैयाकरणस्त्वन्धः—

व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्युत्पत्त्या व्याकरणं नाम शब्दशास्त्रमुच्यते,—

“शिञ्चाकल्पी व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः ।

ज्योतिषामयनञ्चैव वेदाङ्गानि वदन्ति षट् ॥”

रचना—१७

इत्यादिना वेदाङ्गत्वमपि विश्रुयते शास्त्रेष्वस्य । तच्च व्याकरणं बहुभिरेव नामभिः श्रूयते सर्वेषामेव तेषां दृष्टी भाषासु व्युत्पत्तिसम्पादनोपयोगः । शब्दार्थप्रतिपत्तिप्रयोजकत्वञ्च व्याकरणस्य उपलभ्यते—

“शब्दग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवर्तवदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य ह्रस्वा ।”

इत्यादि प्राचीननिरुक्तेः । तथाहि—व्याकरणात् पदानां प्रकृतेः प्रत्ययस्य च भेदेन ज्ञानं, तज्ज्ञानात् शक्तिसम्बन्धेन तदर्थज्ञानं, ततो विषये प्रवृत्तिः, प्रवृत्तिमूलञ्च दृष्टम् । तच्च व्याकरणं सन्धिशब्दधातुकारकसमासादिभेदेन बहुधा विभक्तम् । तेषु द्वयोः सुसन्निकर्षः सन्धिः, शब्दाः स्यादियोग्या ह्रस्वादयः धातवः तिङ्योग्या अर् भू प्रभृतयः, कारकाणि अपादानादीनि षट्, समासाश्च कर्मधारादयः षट् इत्यादि । एतेषां प्रत्येकमेव वस्तुतो व्याकरणस्य अङ्गभूतम्, एतेषामेकस्यापि अपाये व्याकरणज्ञानस्य उद्देश्यभूतं विपर्यस्येत्, तद् व्याकरणं वेत्ति यः सः वैयाकरणः, सनमवतोत्यवैयाकरणः व्याकरणप्रतिपादितपदार्थज्ञानानविरहितो वेत्यर्थः अन्वः अन्वतुल्य एव । तथाहि यथा अन्वः सत्स्वपि आलोकमवधानादिषु घटादिप्रत्यक्षयोग्येषु कारणेषु केवलेनैकेन चक्षुरिन्द्रियसन्निकर्षरूपकारणविरहितो न घटादिप्रत्यक्षं प्रपद्यते, तथैव सत्स्वपि बोधयोग्येषु मनः संयोगादिषु केवलेन भाषाबोधसाधकेन व्याकरणज्ञानेन विना न पदार्थान् परेण सुतरां बोधयितुमुपक्रान्तानपि प्रतिपत्तुं क्षमते इति

समवलम्बितस्य विषयस्य निर्गलितार्थः । सर्वासामेव भाषाणां बोधविषये समुपयुज्यते व्याकरणम्, अज्ञातव्याकरणतत्त्वः नाधिगन्तुमर्हति कथमपि तत्तद्भाषाणामर्थान्, अभिभूताश्च भवन्ति परैरुच्चारितास्तु अपि कथास्तु परेषामादेशादिविधौ सुतरामेव अगृहीततत्त्वाः नालं भवन्ति प्रभूनाप्रप्यादेशपालनादिकं कर्म कृत्वा जौविकामपि अर्जयितुम्, तथाहि 'घटमानय' इति आदिष्टं प्रभुणा मृत्यं प्रति स च मृत्यः घटशब्दस्य तदुत्तरद्वितीयाविभक्त्या आनयेति तिङन्तपदस्य च प्रतिपाद्यमनवधार्य, सातरं प्रति घटग्रहणानुरोधं वा अवगत्य प्रकृतं घटानयनं न कुर्यात्, प्रभुश्च क्रुद्धः तं कार्य्याधिकारादवरोपयेत् इति । एवं श्रूयते शान्तिवाहनस्य व्याकरणमविजानतो निजपत्नीसमीपतः कृतसन्धिकस्य 'मोदकं देहि राजन्' इति वाक्यस्यस्य मोदकमिति पदस्य प्रतिपाद्यनिर्धारणेन भूयान् निकारः, तदनन्तरमेव तस्य व्याकरणजिज्ञासया सर्वैवर्त्मनिर्मितकलापाध्ययनेन व्याकरणार्थेपारदर्शिता, सर्वा एव भाषा नियन्त्रिताः प्रायेण व्याकरणविधिषु अतएव तत्तन्नियमानविजानतामेकस्य स्थाने अपरस्य विनियोगे भवति भूयसोऽर्थस्य हानिः, प्रकृतवृत्तापरिज्ञानञ्च विदुषाम् । तदेवं क्रमेण व्याकरणज्ञानम् उपयुज्यते भाषात्रिविधौ तेन विना अन्य इव हस्तामर्षो न प्रकृतं तत्तम् अधिगन्तुमर्हति कोऽपि, अधिगतव्याकरणञ्च सर्वे यदेव शास्त्रं अध्येतुं प्रवर्त्ततां पाठार्थो तत्र तत्रैव प्रयोजनं व्याकरणस्य, अनेकेषामेव वर्त्तने धारणा, तथा यत् तर्कादिदर्शनशास्त्रेषु न उपयुज्यते व्याकरण-

ज्ञानं, वस्तुतः तन्मिथैव, यतस्तत्रापि वर्तते भाषा, भाषामात्रञ्च व्याकरणसहायकेन अधिगन्तव्यम्, अन्यथा अध्यापकानां वचन-  
मात्रमेव सर्वत्र सम्बलं स्यात्, न तु विस्तृतगुरुवृत्तान्तानां  
कथमपि परिस्फुरितुमर्हति प्रकृतविषयस्तत्रत्यः अधिगतव्याक-  
रणानाञ्च भाषाविदां, गुरुवाक्यविस्तृतावपि भाषासहायकेन  
वर्तते प्रकृतविषयाधिगतिक्षमतेति भूयसा समालोचनेन शोभन-  
मेव समोरितं केनापि 'अवैयाकरणस्त्वन्वः' इति कृतं पञ्जवितेन ।

### पक्षता-विषयिणी—

पक्षतानाम् पक्षपदपरिभाषाविषयतावच्छेदकोऽनुमिति-  
जनको धर्म्मः, नत्वनुमित्युद्देश्यत्वरूपम् । तादृशपक्षतायाः अनु-  
मितिजनकतावच्छेदकत्वास्वीकारश्च, सिद्धिकालो नानुमिति-  
कारणसमाजात् सिद्धाधियिषाविरहदशायामनुमित्युत्पाद-  
वारणाय । तादृशी पक्षता च कस्यचिन्मते साध्यसंशयरूपा,  
कस्यचिन्मते इच्छाविशेषरूपा, कस्यचिन्मते सिद्धाधियिषाविरह-  
विशिष्टसिद्धभावरूपा, तत्र साध्यसंशयस्य पक्षत्ववादिनये आत्मा-  
साक्षात्कारहेतुमननधाराया अनुत्पादापत्त्या तद्वोधकवेदस्या-  
ग्रामान्यापत्तिः । इच्छापक्षतावादिनये च इच्छाया अविषयी-  
भूतस्य शब्दसम्प्रदादेरनुमानोच्छेदः, इति तयोः पक्षत्वं न मणि-  
काराद्यभिमतम् । सिद्धाधियिषाविरहविशिष्टसिद्धभावस्य पक्षत्वेन

तादृशदोषाणामवकाशः, अतस्तादृशसिद्धभावरूपपक्षताया-  
मेव चिन्तामणिकारादीनां सर्वथा निर्णयः । तादृशसिद्ध-  
भाव रूपपक्षतायां सिद्धाधयिषाया उत्तेजकत्वम्, तच्च  
तत्पक्षकतत्साध्यकतत्पक्षकतत्तेनुकानुमित्सात्वेनानुगतरूपेणैव  
उत्तेजकत्वं ; अन्यत्रानुगतरूपेण तत्पक्षे तत्तदिच्छाविरह-  
व्यक्तोनां परस्परविशेषविशेषणभावे विनिगमनाविरहेणानन्त-  
कार्थ्यकारणभावापत्त्या तत्तदिच्छाविरहव्यक्तौनां एकत्र द्वयं  
रीत्या युगपदेव सिद्धौ विशेषण, तत्रापि सामानाधिकरण्यव्यक्तौनां  
निरूपकभेदेन भेदात् प्रतोच्छाविरहव्यक्तिभिन्नतयानन्तकार्थ्य-  
कारणभावापत्तितदवस्थेति तत्तदिच्छाविरहाधिकरणव्यक्तेरनु-  
गतेन निरूपितवृत्तित्वसम्बन्धेन सिद्धौ विशेषणम् । सिद्धिः  
साध्यवृत्तानिश्चयः समवायः समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियो-  
गिताकतदभावः समवायसम्बन्धेनानुमितौ आत्मनिष्ठौ हेतुः ।  
एतादृशसिद्धभावस्य पक्षतास्वीकारे शाब्दसिद्धिदशायां मननस्य  
मोक्षोपायत्वज्ञानेन सिद्धिविशेषेच्छया पुनरेवानुमानं निष्प्रत्यूहं  
अनाकाङ्क्षितशत्रुसम्पदादेरनुमानन्तु सिद्धिविरहरूपपक्षतासत्त्वे  
शुकरमेव । यत्पक्षकतत्साध्यकानुमित्सा कस्यापि न  
जायते, तत्पक्षकतत्साध्यकानुमितौ सिद्धभावमात्रम् कारणम्,  
न तु तत्र सिद्धाधयिषा उत्तेजकत्वं वाच्यम् । पक्षसाध्यभेदेन  
पक्षतारूपकारणभेदस्यावश्यकत्वीकरणीयत्वात् । यत् साध्यका-  
नुमितेः पूर्वं नियमतः तादृशानुमित्सा जायते, तत्साध्य-  
कानुमितौ सिद्धाधयिषामात्रं कारणं लाघवात्, नतु तत्र तादृश-



गुह्यतरसिद्धभावात् कारणत्वं कल्पनीयं, यस्य पुरुषस्य यत् साध्यकानुमितिर्नियमतः परामर्शद्वितीयक्षणे जायते, तत्पुरुषीय-तत्साध्यकानुमितौ पक्षताया हेतुत्वाकल्पनेऽपि न क्षतिः, तत्र सिद्धिदशायामनुमित्यापत्त्यमन्वभात् । पक्षतायाः कारणत्वं कश्चिन्न स्वीक्रियते, तन्मतं न समीचीनं ; पक्षता न कारणमिति तु भ्रमः इत्यादिना श्रीमता शिरोमणिना दूषितत्वात् ।

### स्मृतिविप्रयिणी—

जगत्स्थितं मानवाः सर्व एव निसर्गत इहामुत्र च दृष्टमभौ-  
 ष्वोऽनिष्टं परिजिहीर्षवश्च भवन्ति, परं न स्वरसत, एव तदभि-  
 लषितं लब्धं क्षमन्ते धर्म्ममन्तरा । धर्म्मलक्षणन्तु “धर्म्मः श्रेयः  
 समुद्दिष्टः श्रेयोऽभ्युदयसाधन”मिति भविष्यपुराणादवगतम् ।  
 सत्येव सुखस्य साधनोपाये शतशः पुनरुपायदर्शनात् विभ्यतां  
 तत् प्राप्तुकासानां धर्म्म एव समाश्रयणीयः । यथा हि हास्य-  
 सम्बर्द्धमानं स्वागतसम्भाषणप्राप्तपुलकमात्मानमभिलक्ष्य आह्वान-  
 कारिकरक्रीडनकमिव तं प्रत्यभिसुखी भवति क्रूरदृष्टौ तर्ज्ज-  
 यतो बलवत उपलक्ष्य दूरादेव पलायते सर्वो जनः । तथा इतरः  
 पश्चादिरपि प्राणभृद्गर्गः निसर्गत एव स्नेहाञ्जन-रञ्जितनयनं  
 हरितदण्डपूर्णपाणिसभिलक्ष्य तं प्रत्यभिसुखी भवति । कुटील-  
 भ्रूकुटीभीषणान् दन्तोद्यतकरान् उपलभ्य प्रपलाय्यात्मानं

रक्षितुमौहते । इत्थमाहारनिद्रादिभिरपि अपरेषां प्राणिनां  
मनुजानाञ्च सत्यपि साम्ये एक एव परं धर्माः साधयत्येतेषां  
सहदन्तरम् । अयमेव धर्माः संस्काररूपेण प्राणिनिकायमा-  
कलयन् प्रेरयति प्राणिवर्गं स्वस्वकर्मानिवहेषु । ततः सर्वप्रयत्नेन  
पूर्वं पूर्वजन्मजनितसंस्कारक्षयसाधनं परम पदप्राप्त्युपायभूतं धर्मं  
समानयितुकामेन अखिलनिगूढ-वेदतात्पर्यपर्थालोचनपरम्प-  
राप्राप्तस्थिरांशा मुनिजनयोगसमृद्धिलब्धमर्यादा स्मृतिरेव शरणी  
करणीया । यतः खलु निखिलधर्माचाराचरणभास्वरे भारते  
वर्षे परमकारुणिकैर्निगमागमपारावारपारौणेर्वैदिककर्मोपासना  
ज्ञानकाण्डधुरन्धरैः लोकोपलतये स्मृतिशास्त्रसरणयः सादरं  
समाविष्कृताः । परं तेषु अनेकैर्षिप्रणौततया परस्परविरुद्धत्वेन  
मौलीभूतश्रुत्येकवाक्यतावगतायंयाथार्थ्येन मनोः स्मृतेः प्राधान्यं  
तथाहि—

“मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते ।

वेदार्थोपनिबन्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ॥” इति ।

भवतु वा अन्यासां स्मृतोनां प्राधान्यं तत्र न काश्चिदस्माकं  
विप्रतिपत्तयः, यतः—“सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न युज्यते”  
इति शास्त्रबलसालम्ब्य सर्वस्मृतौनामेकवाक्यतया येन सर्वपरि-  
ग्रहः स्यात्, तस्यैव ग्रहणमिति युक्त्या सर्वासामेव प्रामाण्यं  
परिगृहीतं प्रमाणतत्त्वज्ञैः । परमसूषां स्मृतोनामुपस्थितमेवा-  
पेदपण्डः, भण्डैः कैश्चित् शास्त्रतात्पर्यमजानाद्भिः पात्यते तद्-  
यथा—बलवद् विधिबहुलकर्मसु फलश्रुत्या प्रलोभयन्त्यः स्मृतयः

बहुव्ययायाससाध्ये कर्मणि प्रवर्त्तयन्त्यः प्रताडयन्ति सुधा मुग्धान् जनान् । प्रत्युत स्मृत्यदितकर्मणुष्ठानेन वासनाविवृद्धा बन्ध-  
हेतुभूतकर्मपरम्परासु प्रवर्त्तन्ते जनाः । तदानीं नार्हत्युत्ते-  
कैवल्यविषयिणौ काचित् कथापि मनसि । श्रुतिरपौममर्थमनु-  
गृह्णाति “तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र  
पुण्यचितो लोकः क्षीयत” इति । “ते तं भुत्वा स्वर्गलोकं  
विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्तीति” स्मृतिरपि इममेवार्थ-  
मनुमोदते । “यत् कृतकं तदनित्यम्” इति व्याप्तिश्च श्रुतिस्मृ-  
त्योक्तात्यर्थमेतदेवेति वर्णयद्भिर्महतां वाग्मटीमारभ्य स्मृति-  
प्रणोदितकर्मणां क्षयित्वं प्रतिपाद्यते, तदपर्यालोचनविजृम्भित-  
मित्येवावधार्यते । तथाहि—

“फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।

श्रेयो विवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥

पिव निस्त्रं प्रदास्यामि खलु ते खण्डलड्डुकम् ।

पित्वेव मुक्तः पिवति न फलं तावदेव हि ॥” इति

विष्णुपुराणोयानुशासनात् यथा पथ्यसेवायाम् उत्कटानु-  
रागवशेनारोग्यमपि तुच्छमधिगच्छन्तः रोगिणोऽपथ्यप्रदानतोऽ-  
प्यौषधपाने प्रवर्त्तयितव्यास्तथैव विवेकविहीना बहुतरदुःख-  
श्वलसुखमात्रलिप्सया अमृतमप्यवधीरयन्तः पुत्रपश्चादिफल-  
प्रलोभनेनैव प्रवर्त्तिताः लोकेशकरकर्मसु स्मृतिविधिना । एवञ्च  
पुनः पुनरपथ्यसेवनेन विहृदिमापन्नस्य दोषनिवहस्यागदप्रयोगेण  
स्तोकशोऽपगमाद् यथा सुदौर्घकालेनाप्यारोग्यं सम्भाव्यं तथा

रागिणोऽपि तत् तत् फलभागावस्यन्भावात् दुष्कृतनाशस्याल्पशः  
सम्भाव्यमानतया सुचिरेणापि कालेन कैवल्यं सम्भवत्येव । ये  
पुना रोगिण आपातमधुरं रोगवृद्धिनिदानभूतमपथ्यमसृह्यन्तः  
स्वत एव पिवन्ति भैषज्यं, तेषां दोषवृद्धेरभावात् पूर्वसञ्चितदोष-  
स्यागदेनापनयनात् सपदारोग्यं सम्भाव्यं, तद्वत् सुखस्वद्योत  
विद्योतनाकुलमपि दुःखदुर्द्दिनाम्बुकारितं संसारं व्यालवितत-  
फणच्छायमिव मन्यमाना विवेकवन्तो बन्धकारिणीभूतफला  
न्यवधौरयन्तः कर्मसु प्रवर्त्तमाना आहतपाप्मानस्तूर्णमेव  
लभन्ते कैवल्यम् । इति परसहस्रं तर्कमनुसन्दधाना अवधानाय  
चित्तशुद्धिनिदानं स्नात्तं कर्मोति व्यवस्थापयति जनानुकम्पा-  
परवशा स्मृतिः । तथा यथाविधिसंस्कारकर्मभिरपि वोजगर्म-  
समुत्पन्नपापप्रणाशेन विशुद्धसत्त्वप्रधानतया चित्तनैर्मल्यमाधोयते  
इति संस्कारकर्मसु सनिर्वन्धमनुबध्यते जनसङ्गा भगवत्या  
स्मृत्या । तत्राह हारोतः—“गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं सन्द-  
धाति, पुंसवनात् पुंसवनान् पुंसौकरोति, फलस्थापनात् माता-  
पितृजं पाप्मानमपोहति रेतो रक्तगर्भोपघातः पञ्चगुणो जात-  
कर्मणा प्रथममपोहति, नामकरणेन द्वितीयं, प्राशनेन तृतीयं,  
चूडाकरणेन चतुर्थं, स्नापनेन पञ्चमम् एतैरष्टाभिः संस्कारैर्गर्भो-  
पपद्यात् पूतो भवतीति ।” इममेवाथै समर्थयितुं दृष्टान्तय-  
त्यङ्गिराः—

“चित्रं कर्म यथानेकरङ्गैरुन्मोह्यते शनेः ।

ब्राह्मणमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥” इति

अहो ! दुर्दैवं ! । यत् इत्थं धर्मकर्मकरणसामर्थ्यमुपयच्छन्तं  
संस्कारमवधीर्यधिष्ठिनिका यथेच्छमाचरितुं प्रायशः प्रवर्तन्ते जनाः ।  
किं बहुना सर्वसंस्कारमौलिलालितं विवाहसंस्कारमपौ-  
दानोन्तना विलासलालसाप्रशमनोपायं मन्यमाना अधःपातयन्ति  
स्वोयान् वंश्यान् यथाविध्यनाहितसंस्कारगर्भीत्यत्यादिना ।  
अतस्तद्दोषप्रशमनकामैर्धर्माभिलाषुकैः संस्कारशुद्धौ सर्वधा  
यत्नो विधेयः ।

अपि च नाममात्रावशेषमृतस्य किमपि परिग्रहौतुम-  
समर्थस्य आद्यादिविधयः केवलं कर्मसु रुच्यर्था न तत्र किमपि  
फलसुपलभामहे इत्युपहास्यतैः स्मृत्यदितश्चाहकर्मणि केषा-  
ञ्चिदाक्षेपावतारं भगवत्यः स्मृतयः समादधिरे । तथा हि  
नित्यस्य विभोरात्मनो विजातीयमनःसंयोगध्वंसः स्मृत्यरित्य-  
भिधौयते । वस्तुतो देहविगमेऽप्यात्मनो विनाशाभावः ।

“अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्येत्यादिभिः सहस्रशः ॥”

स्मृतिवाक्यैर्देवगम्यते । अतो विगतपूर्वदेहस्यापि पूर्वपूर्व-  
जन्मजनिताहितसंस्कारस्य सूक्ष्मशरीरावच्छिन्नजीवस्य आद्यादिना  
दक्षिरवश्यम्भाविनो । तथाहि विष्णुपुराणम्—

“आद्यासमन्वितैर्हृत्तं पितॄणां नाम गोत्रतः ।

यदाहारात् ते जातास्तदाहारत्वमेति तत् ॥”

तथा मत्स्यपुराणम्—

“देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः ।

तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेनानुगच्छति ॥

दैत्यत्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ।

आहन्तु वायुरूपेण नागत्वेऽप्युपतिष्ठते ॥

दनुजत्वे तथा मर्त्यं प्रेतत्वे रुधिरौदकम् ।

मनुष्यत्वेऽन्नपानादिनानाभोगरसं भवेदिति ॥”

तथा तेषां तृप्तये प्रतिसम्बन्धरोयमृताहनिमित्तकश्चाहमप्यु-  
पदिशन्ति भविष्यपुराणप्रभासखण्डप्रभृतयः—

“मृताहनि पितुर्यस्तु न कुर्यात् आहमादरात् ।

मातुश्चैव वरारोहे ! वत्सगन्ते मृताहनि ।

नाहं तस्य महादेवि । अजां मृह्णामि नो हरिः ॥” इति

तथाकरणे दोषश्रुतिमपि दर्शयति मरौचिः—

“पण्डिता ज्ञानिनी मूर्खाः स्त्रियोऽथ ब्रह्मचारिणः ।

मृताहं समतिक्रम्य चाण्डालेष्वभिजायते ॥” इति ।

इत्थमगणितसुपदेशमनुसन्दधाना स्मृतिरपौरुषेयश्रुतिवाक्य-  
गतशूद्रार्शमुद्घाटयन्तो सर्वथानुगृह्णात्यस्मान् जडमतीनपि कर्मासु  
प्रवर्त्तयति । अतः स्मृतिमन्तरा धर्मप्रच्युतिरवश्यम्भाविनीति  
सर्वप्रयत्नेनास्माकमनुसरणीयेति शम् ।

## वेदान्तविषयिणो—

स्थूलतो वेदस्य द्वौ विभागौ कथ्येते—कर्मकाण्डो ज्ञान-  
काण्डश्चेति । तस्य प्रथमे भागे सकामयज्ञादिकर्मणः, शेषे च  
परमार्थज्ञानस्योपदेशः प्रधानतो लक्ष्यते । यद्यपि ज्ञानकर्मणो-  
रुभयोरेव परम्परोपकार्यकारकभावेन कैवल्यसाधकत्वमस्ति,  
तथापि कल्पितप्रतिभागस्य प्रथमांशे यज्ञादेः प्राधान्यं लक्ष्यत्वं  
पूर्वभागः कर्मकाण्डप्रधानः सकामप्रवृत्तिमार्गप्रदर्शकः, पर-  
भागे च परमात्मज्ञानस्योपदेशप्राधान्यं दृष्ट्वा तत् कैवल्यमार्गस्यो-  
पायभूत इति सङ्गिरन्ते वेदविदः । तस्य तावदेतौ द्वौ भागा-  
ववलम्ब्य द्वे प्रधाने दर्शने रचिते । एकं जैमिनिकृतं पूर्वमीमांसा-  
दर्शनमपरं महर्षिर्वादरायणकृतमुत्तरमीमांसादर्शनं वेदान्त-  
दर्शनं वा । यज्ञादिकर्मणा कालक्रमेण मोक्षः समजायत  
इति जैमिनिन्यायः । व्यासश्च 'सकामयज्ञादिकर्मभिः मोक्षः  
कदापि न साध्यः' यतो हि—

“न जातु कामः कामानामुपभोगेन शान्त्यति ।

हविषा क्षणवर्त्मव भूय एवाभिवर्द्धते ॥” इति ।

यद्यपि यज्ञादिना उत्तरोत्तराणि उत्तमोत्तमानि लोकादीनि,  
आभूतसंज्ञवरूपञ्च अमृतत्वमपि लभन्ते, तथापि केनापि  
प्रकारेण आत्यन्तिकदुःखनाशककैवल्यप्राप्तिश्च न भवेत्, यतः  
अतिराह—“क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकात् च्यवन्ते ।” यच्च वेदस्य

परभागी परमात्मज्ञानं प्राधान्येनोपदिष्टं, न तावत्तत्र कस्यचित्  
मतविरोधलवोऽपि । तस्य शेषभाग उपनिषदिति नाम्ना  
प्रस्तूयते । उपनिषद् वेदान्तश्च एकपर्यायवाचकः शब्दः । वेदान्त-  
शब्दस्य तावदर्थचयमाहुरार्यपादाः—वेदानाम् अन्तः वेदान्तः ।  
अत्र किलाभिधानिको हेमचन्द्रस्तत्कृताभिधाने तमेवाथं  
समर्थयामास ; केचिच्च—वेदानाम् अन्तः चरमोद्देश्यः प्रदर्शितो  
यत्र स एव वेदान्तः । अपरे वेदस्य ज्ञानस्य अन्तः परमात्मसाध-  
नरूपचरमोत्कृष्टः प्रदर्शितो यत् स वेदान्त इति । मतत्रयस्य  
सारार्थबोधकत्वात् न तद् विचारसहम् । वेदान्तशब्दस्य यौगि-  
कार्थी यथा भवतु वा, प्राचीनकालादद्यावधि वेदविद्भिर्महामहो-  
पाध्यायेर्वेदान्तशब्देन उपनिषदभिहिता ।

तेषां खलु पूर्वाचार्याणां केचिद् गौणमुख्यभेदेन वेदान्त-  
शब्दस्य अर्थद्वयं कल्पयित्वा मुख्यतः उपनिषदं गौणतश्च उपनिषद्-  
भित्तिकानि अन्यानि शास्त्राणि निर्दिशन्ति । केचिद्वा उप-  
निषद् वेदान्तदर्शनभगवद्गीतात्मकं प्रस्थानत्रयं 'वेदान्तः' इत्या-  
मनन्ति । केऽपि आर्यमिश्राः वेदान्तशब्देन प्रधानतो  
व्यासकृतं वेदान्तदर्शनमावलोकयन्ति । यथाह वेदान्तसाररच-  
यिता परमहंसः सदानन्दो वेदान्तसारे "वेदान्तो नाम उप-  
निषत्प्रमाण, तदुपकाराणि शारौरकसूत्रादीनि च ।" तस्य  
टोकाकारः नृसिंहसरस्वती च अस्मिन्नुपपद्यते सुबोधिनी-  
टोकायां—वेदान्तनामिति उपनिषद एव प्रमाणम् ; उपनिषदो  
यत्र प्रमाणमिति वा । तदुपकाराणि वेदान्तवाक्यसंग्राहकाणि



“अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” इत्यादीनि सूत्राणि आदिशब्देन भगवद्गोताद्यध्यात्मशास्त्राणि गृह्यन्ते, तेषामुपनिषच्छब्दवाच्यादिति भावः । तस्यान्यतमटौकाकारो विद्वन्ननोरञ्जिन्यां ब्रह्मात्मप्रतिपत्तिपरेषु श्रुतिसूत्रेषु विद्वज्जननिर्मितनिबन्धेषु चाविशेषणवेदान्तशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात् सर्वत्र मुख्य-  
 दत्तितः प्रतीतिं वारयन् मुख्यगौणभेदेन वेदान्तशब्दं व्युत्पाद-  
 यन्ति वेदान्तो नाम इत्यादिना । वेदान्तशब्दस्य पुनः प्राचीनत्व-  
 परिकल्पनमसम्भवम् । आधुनिकाः पाश्चात्त्यपण्डिताः पञ्चसहस्र-  
 वर्षपूर्वो महाभारतस्य काल इत्यङ्गोक्तुर्वान्त । उपनिषत् तद्-  
 बह्वसहस्रशो वत्सरपूर्विकेति क्व तावदत्र सन्देहः ? केचिद् विंश-  
 सहस्रवत्सरपूर्वा केचिद्वा दशसहस्रवर्षदेशेयेति प्रस्तुवन्ति  
 अतोऽत्र वयमुदासोनाः श्रुताबुल्लेखत्वात् तत्समयनिरूपणम-  
 साध्यम् । अत्र तावद् यानि दर्शनषट्कानि सुप्रचलितानि वर्तन्ते ।  
 तेषु किमपि दर्शनं न मूलतः स्वाधीनम् । सर्वाण्येव उपनिष-  
 न्मूलकत्वात् । वेदान्तदर्शनञ्च प्राधान्येन श्रुतिप्रमाणं, श्रुति-  
 समन्वयं, श्रुतेः समौचीना व्याख्या वेति वक्तुमलं शक्यम् ।  
 अस्मिन् किल दृष्टितत्त्वेश्वररूपजन्मान्तरतत्त्वादिनिरूपक-  
 विविधविषयज्ञानं ब्रह्मज्ञानञ्च सुष्ठु पर्यालोचितम् । अवाङ्-  
 मनसगोचरस्य तद्ब्रह्मणो नान्वयेन व्यतिरेकेण वा केनापि  
 दृष्टान्तेन वा विशेषणेन वा स्वरूपं वेद्यम् । तथा च श्रुतिः—

“यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युच्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।  
 तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥  
 यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूषि पश्यति ।  
 तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥  
 यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।  
 तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥  
 यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणोयते ।  
 तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥”

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा । येन वा  
 रूपं पश्यति, येन वा शब्दं शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति,  
 येन वाचं व्याकरोति, येन वा खादु चास्मादु च विजानाति ।  
 यदेतत् हृदयं मनश्चेतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा-  
 दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मेणोपा ज्योतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुर्ग्ये कामो वश  
 इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ।

“अशब्दमस्पर्शनरूपमव्ययं  
 तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।  
 अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं  
 निवार्यं तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥  
 न तस्मै सूर्यो भाति न चन्द्रतारके  
 नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।  
 तमेव भान्तमनुभाति सर्वं  
 तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

ब्रह्मप्रतिपादकाभिराभिः श्रुतिभिः कथञ्चित् ब्रह्मस्वरूप-  
ज्ञानं घटेत ; परं निर्गुणस्य तस्य न किमपि कार्यञ्चाह  
तथाहि—

न तस्य कार्यं कारणञ्च विद्यते  
न तत्समस्याभ्यधिकञ्च दृश्यते ।  
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते  
स्वाभाविको ज्ञानवलक्रिया च ॥  
अपानिपादो जवनो ग्रहोता  
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णैः ।  
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता  
तमाहुरग्रं पुरुष महान्तम् ॥  
न तस्य कथित् प्रातरस्ति लोके  
न वेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।  
न कारणं कारणाधिपाधिपो  
न चास्य कश्चिज्जनिता च चाधिपः ॥”

सगुणेऽप्यत्र सर्गादिकार्यजातकर्तृत्वमधिकक्षिपन्ति तत्रभवन्तो  
महर्षयः तथाहि—“आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसौत् । नान्यत्  
किञ्चनमिषत् स ईक्षते लोकान् नु सृजा इति । स इमान्  
लोकान् असृजत । ऋतञ्च सत्यञ्चाभीक्षात् तपसोऽध्यजायत  
ततो रात्रिजायत ततः समुद्रोऽण्वः । समुद्रादण्वार्दधिसम्बत्-  
सरोऽजायत ग्रहोरात्राणि विदधत् विस्वश्चमिषतो वशी ।  
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीञ्चा-

न्तरोक्षमधः स्वः ।” इति क्षुद्रतमेऽस्मिन् प्रबन्धे विस्तरशो वेदान्तविषयप्रतिपादनमसम्भवम् ।

अनतिप्रसरे प्रबन्धे उपनिषत्प्रतिपाद्यं ब्रह्मस्वरूपादि-  
कीर्तनमङ्गुल्या समुद्रपरिमाणवत् सम्पूर्णमुक्तचेष्टितम् । अतस्तु  
हन्त ! वयं प्रतिनिवृत्त्य सर्वोपनिषच्छसारं प्राचीनवचनं  
संस्मृत्य प्रतिनिवृत्ता भवामः—

“श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥” इति ।

## पाणिनिव्याकरणविषयिणौ

इह किल भारते वर्षे सकलदर्शनानां प्रचारे सत्यपि साम्प्रतं  
वेदाङ्गेषु प्रधानमिति च व्याकरणं विद्वद्भिरतीवाद्रियते । तच्च  
व्याकरणं प्रथमतो वैदिकशब्दनिवहमुपजीव्य शाब्दिकशिरो-  
मणिभिः शाकटायनापिशलिगार्ग्यगालवस्फोटायनप्रभृतिभिः  
प्रणीतं वैदिकशब्दव्युत्पादकमासीत् । कालक्रमेण तस्मिन्नैव  
व्याकरणे विरलप्रचारतया तिरोहिते, भगवता पाणिनिना तेषां  
वैयाकरणानां मतमाकृष्य लौकिकानां तथा वैदिकानामपि  
अनुशासनं सङ्गमय्य सर्वेषां साम्प्रदायिकानामुपयोगिपरम-  
रमणीयमेतद्व्याकरणं निरमायि । इदानीं प्रचलितेषु शब्दानु-

शासनेषु इतोऽन्यत् नास्ति प्राचीनतमं व्याकरणमिति अविसंवादि  
मतम् ।

केऽपि खलु मन्यन्ते इदमेव व्याकरणानामग्रम , तत्तु  
न श्रद्धेयं सद्दयानाम । यतो हि 'त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ।'  
८।४।५ । 'वा सुप्यापिशलेः ।' ६।१।६ । इत्यादिसूत्रपाठेन स्फुटत  
एव प्रतिभाति यन्महर्षेरुर्हितने काले वर्त्तन्तेऽप्यन्ते वैयाकरणाः,  
नचेत् कथं तेषां नामानि सूत्रेषु विनिवेशितानि तत्रभवता  
महर्षिणा पाणिनिना । अपि च सुग्वबोधनिर्मात्रा वोपदेवेन  
स्वनिबद्धकविकल्पद्रुमोपक्रमे ये चाष्टौ शाब्दिकमुख्या निर्दिष्टाः ;  
तेषु पर्यायेण आपिशलेश्चतुर्थत्वेन शाकटायनस्य पञ्चमत्वेन विनि-  
र्दिष्टतया कैश्चिदेवमेवानुमोयते यत् प्राचीनतातारतम्येन तस्य  
तथाविधौ निर्देश इति । एवमपि गौर्यते तैः स्त्रीष्टजन्ततः पूर्वं  
चतुःसप्तत्यधिकचतुःशततमो वर्ष उत पञ्चसप्तत्यधिकचतुःशत-  
तमो वर्षो वा एतस्य व्याकरणनिबन्धकारस्य समयः । कृतं  
संप्रति तदालोचनयास्माकम् ।

एतदेव व्याकरणं यदतिमात्रं विमोहयति रिदुषस्तत् सर्वथै-  
वायमवितर्कितः सिद्धान्तः । एतस्यैव व्याकरणस्य तावत्  
वर्त्तन्ते सूत्रपाठो गणपाठो धातुपाठो लिङ्गानुशासनच्चेति चत्वारो  
विभागाः, किन्तु तदेव हि व्याकरणं शिक्षाविषये नातिपर्याप्ततया  
न्यूनांशपरिपूरणेनात्यन्तावश्यकान्तेपसमाधिप्रदर्शनेन च मुनिना  
काल्यायनेन संपादितकल्पवैशद्यमपि विस्तृतेन व्याख्यानेन भग-  
वता भाष्यकारेण पतञ्जलिना सुपरिष्कृतं विजयतेतराम् । क्रमेण

संग्रदायस्य विरलभावेन भाष्यस्य गूढाशयतया तत्रत्यानामभ्युप-  
गमवादानामेकदेशिवादानां सिद्धान्तवादानाञ्च दुरुहतया मन्द-  
मतौनां ततोऽभौष्टसिद्धावन्तरायमालोच्य सरलात् निबन्धान्  
निर्मिन्वता सर्वाचां विभिन्ना विभिन्ना शैलो लक्ष्यते ।

केचन सूत्रपाठक्रमेण व्याचख्युस्ततः शब्दसिद्धौ भूयांसं विल-  
म्बमवगम्य तच्छब्दसाधुत्वोपयोगिनां भिन्नभिन्नप्रकरणपठिताना  
मपि वचनानामेकत्र सङ्कलनपूर्वकं चापरे तेऽपि धातुपाठे व्यत्या-  
सकरणि विशेषसलभमानस्तं तथैवोददोधरन् । वेदभाष्यकारः  
निखिलविद्वन्माननोयमनोषी सायणाचार्यस्तु 'शब्दयोनिश्च  
धातवः' इत्यभियुक्तोक्तिं सर्वनाम धातुजमाह शकटस्य च स्तोक्-  
मिति भाष्यकारोक्तिं च मनसोकृत्य सर्वानेव शब्दान् साक्षात्पर-  
म्परया वा धातुप्रकृतिकानेव मन्यमानो धातुपाठमेव मुख्यस्थाने  
प्रकल्प्य तद्व्याख्यानक्रमेण तिङन्तरूपाणि कृदन्तरूपाणि तत  
एव सुव्विभक्तितद्धितादिप्रत्ययांश्च पर्य्यदर्शयत् । तदभाष्य-  
कारादिवचनानुरूपा वर्तन्ते च तावदेतस्य बहवो मान्यविद्वद्वर-  
प्रणीता महान्तो निबन्धास्तथापि व्युत्पत्तिसौकर्यानुरोधेन  
विद्वत्कुलतिलकपदवाक्यप्रमाणपारावारोणभट्टोजीदीक्षितविर-  
चिता सिद्धान्तकौमुदी विद्वज्जनमानसकैरवकौमुदीव पठन-  
पाठनादिप्रचुरप्रचारा सर्वैरेव विद्वद्वरैरत्यन्तमुपकारिणौति शिर-  
साद्रियते ।

एतस्य पुनः सन्ति यावन्ति भाष्यटीकाटिप्पणादीनि  
परमैश्वर्याणि न तावन्ति कस्यापि शब्दानुशासनस्य प्रचुरतया

परिकल्पितानि आचार्यपादैः । परं एतदधीयानानां करतला-  
मलकवत् निखिलशास्त्रार्थोपपत्तेः सुलभतया प्राधान्यमस्य सर्वै-  
रेव स्वीकरणीयम् । सुरतामेतदेव व्याकरणं किं प्राचीनत्वेन  
किमार्त्वेन वा विजयतेतरां स्वगौरवमहिम्नात्र जगति । परमे-  
तस्य समधिकदोषगुणकौर्त्तनपूर्विका समालोचना दुःसाध्या  
बाहुल्यसापेक्षा चेति गौरवधिया उज्झिता स्वल्पयैव वाचा ।  
अतः परं सूक्ष्मदर्शिगुणग्राहिणः प्रति एतस्य विचारणभार-  
समर्पणमेव विधेयं गवेषणोद्यच्च तैरित्यलं शास्त्राचक्रमणेन ।

## कलापविप्रियणी

इह खलु व्याकरणं नाम शब्दानुशासनम् “अथ शब्दानु-  
शासनम्” इति भाष्योक्तेः । अपि च ‘एक शब्दः प्रयुक्तः सम्यग्-  
ज्ञातः स्वर्गे लोके च कालधुग् भवति ।’ इत्यादि श्रुतिवाक्ये-  
भ्यश्च सुप्रतीतमेव शिष्टशब्दानामुपादेयत्वम् । व्याकरणानि  
तावत् बहुनि वर्त्तन्ते, तानि च प्रदेशभेदेन आद्रियन्ते लोकाः ।  
काश्यादिप्रदेशेषु पञ्चनदादिस्थलेषु च पाणिनीय-सारस्वतयोः  
समधिकादरः । वङ्गेषु क्वचित् संचिह्नसारस्य क्वचिदपि सुपद्मस्य  
क्वचिदपि वा मुग्धबोधस्य कुत्रचित् प्रदेशे रत्नमालायाः कुत्र-  
चिदपि कलापव्याकरणस्य पठनं पाठनञ्च प्रचलति । एषु  
पाणिनीयस्य ऋषिप्रणीततया भगवतः पतञ्जलीर्भाष्यकृतत्वेन

परं छन्दोऽंशेन च व्याकरणानामग्रमङ्गोक्रियते सहृदयः ।  
किन्तु रचनापारिपाद्येन शृङ्खलोपनिबन्धनेन च निरसेषु व्याक-  
रणेषु कलापव्याकरणं सनातनमिति नास्त्यत्र कियानपि सन्देहा-  
वसरः क्षुद्रोऽपि ।

संक्षेपेणेह लौकिकानि पदानि व्युत्पादयिषुणाचार्य्येण  
सर्व्ववर्म्मणा कलापापरनामधेयं कातन्त्रं नाम व्याकरणं ऽणो-  
तम् । आख्यातान्तं विरच्यन्यम् प्रसिद्धत्वादुपेक्षितम् । तच्चार्य्येण  
कदन्तशब्दजार्तं कात्यायनेन व्युत्पादितम् । भगवता दुर्गभिहे-  
नाचार्य्यसूत्राणां कात्यायनसूत्राणाञ्चोपरि समौचना वात्त-  
व्यरचि । सैवेदानीं पठनपाठनयाः प्रचरति । कात्यायनः किल  
कतिचित् छान्दसानि कदन्तपदान्यपि व्युत्पादितवान् । कदन्त-  
भिन्नानां छान्दसानां पदानां कदन्तानामपि मर्द्ध्वां छान्दस-  
पदानां व्युत्पादनं कातन्त्रव्याकरणे न विद्यते, कात्यायनो हि  
लोके यानि प्रयुज्यन्ते तान्येव छान्दसानि पदानि व्युत्पादयामास  
न सर्वाणि ।

ततो निखिलशब्दार्थशास्त्रपारंगतेन महात्मना श्रीपति-  
दत्तेन तदवशिष्टानि कलापपरिशिष्टानि निर्माय लघु-  
वपुः कलापः किञ्चिस्थौल्यमनायि । हा ! हा ! किं दुर्भाग्यं  
कालापिकानाम् ? सन्धितः समासस्य कति सूत्राणि संरचयन्  
निर्ममकालेनाग्राहि स पुरुषवर्यी महात्मा श्रीपतिदत्तः ।  
ततः प्रभृति असंपूर्णमासीत् कलापकायः । साम्प्रतच्च महामहो-  
पाध्यायेन श्रीमता चन्द्रकान्ततर्कालङ्कारिणास्य छान्दसप्रकरणं



प्रणीय पाणिनेरविशेषः अन्वष्टायि । निखिलदोषोपस्कारिणी च  
सलक्षणा या भाष्यैरप्यनिन्दिता कलापचन्द्राख्या टीकास्मिन्  
आचार्यपादेन सुसेननान्ना निरमायि । तादृशी विद्वज्जनगण-  
मनोहारिणी विचारभावपरिशुद्धा सिद्धान्तसन्दोहनी टीका  
केष्वपि व्याकरणेषु न विद्यते । तथाहि आचार्याः—

“नत्वा शिदं कृतिकृतास्तन्वन्वसिन्धुमुन्मथ्य स्रुतिमय-

चारुपयः प्रबन्धम्

ज्ञात्वा गुरोर्बिबुधवृन्दविनोदनाय कामं तनोति विकलङ्क-

कलापचन्द्रम् ॥

श्रीमत्त्रिलोचनकृताखिलप्रज्ञिकायां दोषान्धकार-

निकरं प्रतिपक्षदत्तम्

निःसार्य सत्यश्रगतेरपि दर्शकोऽयं कामं भविष्यति

मदीयकलापचन्द्रः ॥”

अपि च पाणिनेर्यथा आर्षत्वेन प्रामाण्यं कलापस्यापि  
तथैवदैवतत्वेन प्रामाण्यमवश्यमेव स्वीकर्णीयम् । यथा—

“शङ्करस्य सुखादायं श्रुत्वा चैव षड्गणनः ।

लिलेख शिखिनः पुच्छे कलाप इति कथ्यते ॥”

इत्युक्तेः एतद्व्याकरणं पुनः कुमारवक्त्रानिर्गलितत्वेन  
कौमारनान्ना ख्यातम् । अस्ति तावत् आख्यायिका कथासरित्-  
सागरे—“आचार्यो निराहारकच्छं तपस्वरन् तुणोभूय  
किञ्चित् गते तपःक्लिष्टतया निःसङ्गो घरणीतलं पपात । ततः  
शक्तिहस्तो दिव्यपुरुष एकः समागत्य—‘हे पुत्र ! सर्वं ते स्फुटं

सम्पत्स्यत' इत्यवोचत् । अथ तेनामृतासारसंसिक्त इव तत्त्वज्ञं प्रबुद्धः क्षुत्पिपासादिरहितः स्वस्थो बभूव । ततो-  
भगवान् स्वन्दस्तं 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' इति सूत्रमवादीत् ।  
तत् श्रुत्वा आचार्यो मनुष्यचापल्येनोत्तरसूत्रं व्याजहार । तदा-  
कार्यं शक्तिधरः सविमर्षमाचष्ट—'अहो ! यद्यपि त्वसुत्तरसूत्र-  
नावदित्यस्तर्हि पाणिनियोपसर्दकमेतत् शब्दशास्त्रमभविष्यत्'  
इति ।" तथाहि—

“अथाब्रवीत् स देवोमां नावदिष्यः स्वयं यदि ।

अभविष्यदिदं शास्त्रं पाणिनोयोपसर्दकम् ॥

अधुना स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भरिष्यति ।

महाहनकलापस्य नाम्ना कालापकं तथा ॥

इत्युक्त्वा शब्दशास्त्रं तत् प्रकाश्यामि नवं लघु ॥” इति

एतस्य पुनः हृदयमप्यवश्यमेव स्वीकर्त्तव्यं सन्ध्यानाम् । येन  
हि गरुड़पुराणादावपि प्रामाणिकग्रन्थेऽस्योल्लोखो वर्त्तते ।  
तथाहि—

“कुमार उवाच—अथ व्याकरणं वक्ष्ये कात्यायनसमासतः ।

सिद्धशब्दविवेकाय बालव्युत्पत्तिहेतवे ॥”

इत्यादि वाक्यसन्दर्भेण । अपि च—“आधारकर्म्मविहिते  
द्विविधे च क्यचि क्यङि इत्यादौ क्यच् क्यङ्णमुलः कलापमते  
यिनाप्यणमः” इति दर्पणकारोक्तोरप्रतिहत एवास्माकं सिद्धान्त  
इति किं बहुना वाक्प्रपञ्चेन ।

## मुग्धबोधविषयिणी

सन्ति यावन्ति शब्दशास्त्राणि तेषु संचितप्रचनकौशलेन  
मुग्धबोधमेवान्येभ्यः सविशेषादरास्यदमलंकृतमिति नास्ति तत्र  
क्रियानपि विकल्पः । तत्पठनपाठनयोः स्वल्पदिनसाध्यत्वेन  
नौरसमप्येतद्व्याकरणमाकर्षत्यतिमात्रं चेतः सहृदयानाम् ॥  
विशेषतः कारकप्रकरणं कृदन्तांशश्चामुष्य निरुत्तमत्तेन समधिक-  
माद्रियन्ते महनीयगुणग्रामा महान्तः । तद्वि शब्दार्थपारंगतो-  
वन्दनोपदारविन्दो महात्मा वोपदेवः स्वयमिन्द्रचन्द्राद्यखिल-  
शाब्दिकमतमुदधिमालोद्य तस्मात् महार्धमणिनिचयवदुपादेय-  
वचनजातञ्चाहृत्य तदायासमङ्गीकर्तुमशक्तानां संचेषतो  
व्याकरणबोधलिप्सूनां तदुपहारेण महोपकारमकरोत् । आह  
स्वयञ्चास्य पठनीयतामुक्तेत्य—

“गौर्वाणवाणोवदनं मुकुन्दसंकीर्तनञ्चेत्यभयं हि लोके ।

सुदुर्लभं तच्च न मुग्धबोधान्नलभ्यतेऽतः पठनीयमेतत् ॥” इति

तस्यैवाचार्यचक्रचूडामणेरपराकृतिः कविकल्पद्रुमो नाम  
धातुपाठः । स हि कवीनामभौष्टफलदाहृतया कविकल्पद्रुम  
इत्यन्वर्थनामधेयो धातुपाठः यथा तदुपयोगित्वेन सकलवैया-  
करणसंप्रदायेषु समानादरं लभते । उक्तञ्च केनापि वोपदेवगुण-  
ग्राहिणा—

“दौर्वाचस्पतिनेव पन्नगपुरी शेषाहिनेवाभवत्

येनैकेन विदुषती वसुमतो मुखेन रांख्यावताम् ।”

सीऽयं व्याकरणान्वैकतरणिश्चातुर्थचिन्तामणिः

जौयात् कोविदगर्व्वपर्व्वतपविः श्रीवोपदेवः कविः ॥” इति

अस्य तावद्द्वाराकरणस्य द्वे टौके स्तः । एका श्रीमद्दूर्गादास-  
विद्यावागीशकृता । अपरा च परमविदुषा महानुभवेन  
श्रीमता श्रीरामतर्कवागीशेन विरचिता । अनयोस्तर्कवागीश-  
टौकाया एव समधिकादरो दृश्यते । शाब्दिकमुख्येन श्रीमन्नन्द-  
किशोरचक्रवर्त्तिना पुनर्विरचितं सुगन्धबोधपरिशिष्टं नामापर-  
मत्युपादेयमेकं परिशिष्टमेतद्द्वाराकरणस्य ।

स खलु शब्दार्थविज्ञानधुरोणो वोपदेवः कस्मिन् समये कतमं  
देशं जन्मनालङ्घतवान् तद्यथावदवधारयितुं न शक्यते । परन्तु  
प्रवृत्तत्त्वान्नेपिणः कतिशः कृतिनो मानवाः द्व्यशौत्युत्तरैकादश-  
शततमशकसंवत्सरे हिवादिवत्सरन्यूनाधिके वा स किल महात्मा  
भिषग्व्यवसायिनः केशवनान्तो विप्राह्वज्जन्मा विदुषो धनेश्वर-  
मिश्रादधिगतविद्यो दक्षिणापथवर्त्तिन्या अधुनातन ‘दौलातवाद्’  
इत्याख्याया देवगिरिराजधान्या अधिपतेर्महादेवस्य सभापण्डि-  
तपदमास्थाय तन्नावासेति निर्णीतवन्तः । चतुर्व्वर्गचिन्तामणि-  
निबन्धकारो हेमाद्रिरपि तस्यैव राज्ञः समस्तकरणाधीश्वरः  
प्रधानामात्यपदमभ्यासितः । तेन सह वोपदेवस्य परं सौहार्द-  
मासौत् । तेन प्ररोचितः स हरिलौलाख्यं मुक्ताफलनामधेयञ्च  
भागवतव्याख्यानं निबदन्ध । तथा हि तत्र हरिलौलाटौकायां—  
‘मन्त्रिहेमाद्रितुष्टये’ मुक्ताफलग्रन्थे च,—

‘विद्वद्भनेशशिष्येण भिषक्केशवसूनुना ।

हेमाद्रिर्वोपदेवेन मुक्ताफलमचौकरत् ॥

इत्यनेनान्योन्ययोः परं सौहादं स्मारयतीति । एवं नाम अस्ति तावद्वोपदेवसम्बन्धिनी कापि परमाद्भूता किंवदन्ती—  
 वोपदेवो बाल्ये वयसि व्याकरणमधौघानो दुर्मेधतया व्याक-  
 रणार्थं मनागपि स्थायत्वं कर्तुं नाभिशशाक । ततश्चैकदा  
 परिजनतिरस्कृतेन परमनिर्वेदं गतो जीवनपातार्थमरणमेकं  
 विवेश । तत्र मार्गगमनजनितक्लेशेन क्लिश्यन् जलं पातुं सरसौ-  
 मेकां गत्वा पीत्वा च सलिलं श्रमोपनोदनार्थं तस्य सुरम्य-  
 सोपानशिलातलमुपावसत् ; तत्र क्षणे कलसमुद्बभूव कापि  
 रमणी सहसागत्य सोपानशिलायां तमेव कलसमास्थाप्य  
 सम्पादितज्ञाना तं कलसमुदकेन पूरयन्ती भूयो गृहमगात् ।  
 तदपश्यद्वोपदेवः पाषाणनिर्मितमपि सोपानं नारीनिहितमृगमय-  
 कलससंसर्गेण क्षयमेत्य गोलाकारो गर्त्तक एकः संहत इति ।  
 तत् समीक्ष्य च तस्याध्ययने पुनः प्रवृत्तिरभवत्, यत् कठिन-  
 मपि आवनिर्मितसोपानं बहुवासरतो बहुशो मृदभाण्डवर्षणे-  
 नापचयं यातम् । तन्मन्दापि मतिर्मे सुहुरालोचनयावश्यमेव  
 तोक्ष्यतामापत्स्यति । ततो गृहमागत्य कृतोद्दमेन तेनाधौत्य  
 स्वाभीष्टफलमपेदे । केऽप्याहुः श्रौमदुभागवतमपि तेन वोप-  
 देवेन निर्भाय वेदव्यासनान्ना प्रक्षिप्तमिति । भवतु तद्वा न वेति  
 तत्र न किञ्चिद्वक्तुं मामकानामवकाशः । किन्तु स यदिदमपल-  
 वितमल्पसमयसमापनीयं विबुधसुखमखण्डनं सुगन्धबोधं नाम  
 व्याकरणं प्रणीयासाधारणीं शक्तिं प्रकटयामास, तेनैव विमुग्धा

विदग्धाः । तत्कृतौ किमपि वक्तुं नालमलम् । परं यावत्  
भवति रात्रिन्दिवं यावदुदेति च चन्द्रमास्तावदेव तस्य पुण्य-  
कौर्त्तेरिदं व्याकरणमधौयानानां निःश्रेयसमार्गमुपदेक्ष्यतीति  
किं बहुवाक्योपन्यासेन ।

---

## सांख्यविषयिणी

आत्मानुसन्धानमन्तरेण दर्शनशास्त्रे प्रवृत्तिर्न जायेत ।  
कोऽहमासं किं भविष्यामि, किं मे स्वरूपमिति केन वा रूपेण  
विश्वस्य सृष्टिरभूत् ? कथं वास्य प्रलयो भवेत् ? जन्म-  
मरणादिदुःखमात्मनः स्वभावसिद्धो न वा ? तदुच्छेदोपायः  
सम्भवोऽस्ति न वा ? इत्यादयो बहवः प्रश्नाः मनीषिणां चेतसि  
स्वत एव समुत्पद्यन्ते । त एव प्रश्नाः चिन्ता वा मननशास्त्र-  
स्याविर्भावे हेतुः । प्रवर्त्तमानेऽस्मिन् क्षुद्रे प्रबन्धे कापिलदर्शनानु-  
सारिण्येवामोषां प्रश्नानां सूक्ष्मसिद्धान्तः न संक्षेपेण सम्भवति ।  
स्थूलत एव तत्र 'प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्व्वमनित्वम्' इत्युच्यते  
आचार्य्यपादैः । पुरुषो निर्गुणश्चेतनो विभुरनेकश्च । प्रकृतिरचे-  
तना विभुरेका परिणामस्वभावा च । पुरुषसन्निधानतया अस्या  
जगदविरासोत् । उपादानकारणगुणानुसारेण कार्य्यद्रव्येषु  
गुणः समजनि तथा च 'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारम्भन्ते' इति ।  
अतः कार्य्यगुणानुरोधेन कारणगुणकल्पना प्रामाणिकानां न

दुःखावहाः । दृश्यन्ते कार्यवर्गेषु ज्ञान-सुखप्रसाद-प्रवृत्ति-दुःख-  
मोहावरणादयोऽनेके गुणास्तदनुसारेणैव मूलकारणे प्रकृता-  
वप्येते गुणाः नूनमेव विद्यन्त इति कल्पनाप्रमाणकुशलैर्विद्वद्भिः  
स्वीचक्रे । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थोपलक्षिता हि सा  
प्रधाना तथा हि—

“सत्त्वं रजस्तम इति गुणत्रयमुदाहृतम् ।

साम्यावस्थितिरेतेषामव्यक्तां प्रकृतिं विदुः ॥” इति

सत्त्वस्य ज्ञानसुखादयोः, रजसो दुःखप्रवृत्त्यादयः, तमसस्य  
मोहावरणादयो धर्मा इति । ते च सत्त्वादयो गुणा न न्याय-  
वैशेषिकाभिमतरूपरसादिवदात्मनो धर्माः । ते हि गुणाः  
पुरुषं पशुवत् बन्धकत्वेन त्रिगुणरज्जुनिर्मातृकत्वेन च गुणशब्देन  
व्यपदिश्यन्ते ब्रह्मैः । न हि प्रकृतेर्गुणाः किन्तु गुणा एव प्रकृति-  
रिति ज्ञेयम् । ते च गुणा अनादिमिलिताः संयोगवियोगर-  
हिता अन्योन्याश्रयाश्रयिरूपेण नित्यसहचराः परस्परपरिणाम-  
स्वभावा एव । तथा च ‘परिणामस्वभावा हि गुणा नापरिणम्य  
क्षणमप्यवतिष्ठन्ते’ इति । सत्त्वादिगुणत्रयाणां बहुत्वं व्यक्ति-  
रूपेण स्वीकर्तव्यम् । यथा एकस्य वस्त्रकार्यस्य संख्यातीतानि  
सूत्ररूपाणि कारणानि दृश्यन्ते, तथानन्तस्य विश्वसंसारकार्य-  
जातस्य मूलकारणमेकमेवेति कल्पयितुं न शक्यते । अतिसूक्ष्म-  
तमस्य मूलकारणसमूहस्य समष्टिभावेन प्रकृतेरेकत्वमुच्यते ।  
अवयविभागाद्विभागस्य यत्र काष्ठाप्राप्तिः सैव मूलप्रकृतिः ।  
नैयायिकास्तावत् परमाणुषु विश्रमन्ति, परमाणवो हि तेषां

निरवयवा नित्याच्चेति सिद्धान्तम् । किन्तु ब्रह्मास्तेभ्योऽपि सूक्ष्म-  
तमेषु पदार्थानाधिच्छिपन्ति । तेषां तन्मात्राणि नैयायिकानां पर-  
माणवश्चैकदेशगतानीति कथञ्चिद् वक्तुं समीहते, केवलं पर-  
माणवो नित्याः, परं खलु जन्यानि तन्मात्राणीति ।

एतन्नये नास्त्यसतामुत्पत्तिः सतां वा विनाशः । सर्वावकाशे  
प्रलयेऽपि सर्वं एवानभिव्यक्ताः प्रकृतिमुपगता वर्तन्ते । ततः  
कर्मवशात् सृष्टेः प्रागाविर्भूय विकाशन्ते । अस्मिन् तावत् उत्प-  
त्तेर्नामाविर्भावः, विनाशस्य च तिरोभावः । वेदान्तवत् सृष्टिकर्तृ-  
त्वमोक्षरस्य नाङ्गीक्रियते । योगबलेनाणिमाद्यैश्वर्यवान् जीव  
एवेश्वरः । उभौ प्रकृतिपुरुषौ व्यापकावपि सृष्टेः प्राक् संयुज्येते ।  
संयोगश्चायं भोग्यभोक्तृत्वरूपसम्बन्धविशेषः । प्रकृतिर्भोग्या,  
पुरुषो भोक्ता । प्रकृतिपुरुषयोरयमेव संयोगो विश्वं जनयति ।  
यदा तु गुणत्रयं परस्परं वैरभावं परिहृत्य साम्यभावं भजते,  
तदैव प्रलयः । पुनः पुरुषसम्बन्धात् साम्यभाव परिहाय वैषम्य-  
भावं गृह्णन्ति गुणाः । तस्मादेव गुणवैषम्यादभवत् सृष्टिः ।

वैषम्यानाञ्च नानात्वेन विचित्रताकार्थ्याणाम् । तदवस्थायाः  
प्रकृतेः प्रथमपरिणतिर्बुद्धिः । अन्तःकरणरूपमेकमेवद्रव्यं कार्य-  
विशेषेण बुद्धरहंकारमनःशब्दवाच्यम् । निश्चयवृत्तिरूपं कार्यं  
बुद्धेः, अभिमानमहङ्कारस्य, सङ्कल्परूपञ्च मनसः । बुद्धिरूपपरि-  
णतायाः प्रकृतेः पुरुषेण सम्बन्धो विशिष्यते । प्रकृतिरूपपरि-  
णतानां गुणानां धर्माः पुरुषेणोपचर्यन्ते, किन्तु बुद्धिरूपेण  
परिणतानां धर्माः सुखदुःखादि आत्मन्यारोप्यते । तदा निर्मल-



स्वभावः स वरेण्योऽपि संसारकीटरूपेण परिणमति । तस्मैद-  
मनादिसंसारित्वं विवेकज्ञानेनोच्छिद्यते । बुद्धिगुणैश्च उत्पन्नापि  
सत्त्वाधिक्येन सत्त्ववती । अतएवास्यां ज्ञानसुखादीनां विकाशो  
जायते । सत्त्वाधिकादेवास्यां तादृश्येका शक्तिरास्ते, यस्याः  
प्रभावाद् बुद्धिः पुरुषचैतन्यं प्रगृह्य स्वयं चेतनायमाना जीव-  
भावेन संसारं निर्वहति । आविरभूज्जीवो जडचैतन्यमिश्रणात् ।  
तर्हि मिश्रणं हृदयग्रन्थिशब्दवाच्यम् । जडस्य स्थूलरूपपरि-  
णामेण सह जीवस्य भवति क्रमविकाशः । ततो बुद्धिधर्माः  
सुखादयः पुरुषेषु पुरुषाणां चिद्धर्मो बुद्धावुपचर्यते । यथा तस्मै  
अयसि वह्निलौहयोर्भेदेऽपि भेत्तुं न शक्यते । तथा बुद्धिपुरुषयो-  
रपीति सिद्धान्तम् एकस्य पुरुषस्य एकया बुद्धास्थनादिस्वस्वामि-  
भावसम्बन्धः ।

पतिरता हि बुद्धिः क्षणमपि पतिसम्पर्कं विहाय नाव-  
तिष्ठते । अयं सम्बन्धनाश एव लिङ्गशरीरनाश इत्युच्यते ।  
सैव मोक्षावस्था । तथा च बुद्ध्यहंकारैकादशेन्द्रियसूक्ष्मभूतपञ्च-  
कानां समुदाय एव लिङ्गशरीरम् । तत्र बुद्धेरेव प्राधान्यमङ्गौ-  
कुर्वन्ति वृद्धाः । तल्लिङ्गशरीरं स्वर्गनरकादिव्यवहारिकजीव  
शब्दवाच्यम् । स्थूलशरीराल्लिङ्गशरीरस्य निर्गमनं मरणम्,  
तस्मिन्नपि प्रवेशो जन्म । तथा च तत्त्वकौमुद्याम्—‘निकाय-  
विशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभिः पुरुष-  
स्थाभिसम्बन्धो जन्म, न तु पुरुषस्य परिणामस्तस्यापरिणामि-  
त्वात्’ इति । अन्यथा अनादिविश्वव्यापकस्यात्मनः कथं जन्म-

मरणं सम्भवति ? परेतपतिः सत्यवतः कायात् पुरुषमेकं निनावेति महाभारतवर्णनश्रवणात् पुरुषशब्देनात्र लिङ्गशरीरमेव बुध्यते । तथाहि—‘ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् ।

अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥’ इति

आत्मनस्तु परिमाणं महत्, अणुपरिमाणत्वे उपपन्नं भवति एकस्य शैत्यबोधे युगपत् सर्वशरीरे शैत्यस्य बोधत्वम् । मध्यपरिमाणत्वे घटपटादिवदात्मा विनाशी स्यात् । हाभ्यां स्थूलसूक्ष्मपरिमाणाभ्यामभिन्नरूपेण भाषमाणः पुरुषः अहं सुखी दुःखो करोमि शृणोमि गच्छामि अन्धो वधिर इत्यादि सकलसंसारव्यवहारं निर्वहति । लिङ्गशरीरविनाशादेवात्मनो भवति स्वरूपेणावस्थानम् । तदा तस्मिन्नात्मनि बुद्धिधर्माः सुखादयो न प्रतिभान्ति । इदमेवात्मनः स्वरूपेणावस्थानं मुक्तिशब्देन व्यपदिष्यते प्रेक्षावद्भिरिति दिक् ।

## छन्दोविषयिणी

दृश्यते हि संस्कृतकाव्यनाटकादिषु प्राय एव एकादशाक्षरवृत्तित आरभ्य समवृत्तान्तर्गतानां छन्दसां बाहुल्येन व्यवहारः । नितरां क्षुद्रतमेऽस्मिन् प्रबन्धे सन्दर्भगौरवभयादस्माभिरेकाक्षरादिवृत्तानां व्यवहारं विहाय एकादशाक्षरादारभ्य महाकाव्यान्तर्गतानां छन्दसां यथाकथञ्चिदुदाहरणानि प्रियसुहृद्भिः

उपक्रियन्ते । एकादशाक्षरयोरिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः शुद्धोदाहरण-  
मतिविरलमेव, किन्तु तयोरुपजातिस्तु कवौनामतिहृद्येति  
प्रतीयते । नास्ति किमपि महाकाव्यम्, यस्मिन्नैषा दृष्टिपथ-  
वर्तिनौ भवेत् । कुमारसम्भवस्य प्रथमं सर्गम्, रघुवंशस्य  
द्वितीयम्, शिशुपालवधनैषधचरितयोस्तृतीयं सर्गम् इन्द्रवज्रोपेन्द्र-  
वज्रयोरुपजातिवृत्तेन रचितम् ।

अमरविलसिता—‘प्रोतेर्यूनां व्यवहिततपना’ शिशु ४।६२ ।

शालिनी—‘यत् सावित्रैर्दोषितं भूमिपालैः’ उत्तरराम ।

दोधकम्—‘इत्यममं विलपन्तमसुञ्चत् दीनदयालुतया-  
वनिपालः ॥’ नैषध ११।४७ ।

स्वागता—वृत्तमिदं शिशुपालवधस्य दशमे, किराता-  
ज्जुनीयस्य नवमे, नैषधचरितस्य पञ्चमैकविंशयोर्व्यवहृतम् ।

रथोद्धता—एतदपि वृत्तं कविभिर्बाहुल्येन व्यवहृतम् ।  
कुमारसम्भवस्य अष्टमे, रघुवंशस्य दशमैकादशयोः, नैषधचरित-  
स्याष्टादशे, शिशुपालवधस्य चतुर्दशे, किराताज्जुनीयस्य त्रयो-  
दशोत्तरार्धे ।

द्वादशाक्षरावृत्तिषु—

तोटकम्—‘स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो,  
विससर्ज मुनिम् ।’ रघु ८।८१ ।

वैश्वदेवौ—‘पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं वापी

विस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम् ।' सृच्छक० । 'इष्टं कृत्वायं पत्रिणः शाङ्गपाणेः ।' शिशु० १८।११६ ।

मन्दाकिनौ, प्रसुदितवदना, पञ्चलाक्षिका,  
गौरौ वा प्रभा—'अतिसुरभिरभाजि पुष्पश्रियाम्' शिशु०  
५।५७ । 'व्रजति शुचिपदं त्वयि प्रोतिमान्' किरा० १८।२६ ।

जलोद्धतगतिः—'समीरशिशिरः शिरःसु वसताम्'  
शिशु० ४।५४ । 'सनाकवनितं नितम्बरुचिरम्' किरा० ५।२७ ।

प्रमिताक्षरा—वृत्तमिदं शिशुपालवधस्य नवमे, किरा-  
तार्जुनीयस्य षष्ठे यथा—'अपराह्णशीतलतरेण शनैः' शिशु० ८।४ ।  
'सुकुमारमेकमनु मर्मभिदाम्' किरा० ६।४० ।

द्रुतविलम्बितम्—शृङ्गारादावनुवृत्ते वाक्ये अस्य व्यव-  
हारो यथा—शिशुपालवधस्य षष्ठे, नैषधचरितस्य चतुर्थे, रघु-  
वंशस्य नवमे, किरातार्जुनीयस्य चाष्टादशे सर्गे ।

वंशस्थवृत्तम्—एतेनैव हि शिशुपालवधस्य प्रथमः,  
किरातार्जुनीयस्य प्रथमश्चतुर्थः, अष्टमश्चतुर्दशश्च । नैषधचरितस्य  
प्रथमो द्वादशश्च, रघुवंशस्य तृतीयः, कुमारसम्भवस्य पञ्चमः सर्गः  
ग्रथितः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरिव वंशस्थेन्द्रवंशयोरप्युपजातिः  
स्यात् । शिशुपालवधस्याष्टादशः सर्गः अनया निर्मितः ।

जलधरमाला—'दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागाः  
रागायते निपतितपुष्पापीडाः ।' किरा० ५।२३ ।

भुजङ्गप्रयातम्—‘धनैर्दुष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति’

उद्घटः ।

त्रयोदशाक्षरावृत्तिषु—

कुटजा, नन्दिनी वा—‘कुटजानि वीक्ष्य शिखिभिः  
शिखरीन्द्रम् समयावनौ घनमदभ्रमराणि ।’ शिशु० ६।१३ ।

कुटिलगतिः, क्षमा वा—‘इह दुरधिगमैः किञ्चि-  
देवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम् ।’ किरा० ५।१८ ।

सत्तमयूरवृत्तम्—‘दृष्ट्वा दृष्ट्यान्धावरणीयानि विधाय’  
किरा० १८।८ । ‘हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषस्यः’ रघु०  
६।७५ ।

कनकप्रभा, मञ्जुभाषिणी वा—‘समयः सः वर्त्तत  
इवैष यत्र सां समनन्दयत् सुसुखि गीतमार्पितः ।’ उत्तरराम ।  
‘यदि शस्त्रमुज्जितमशस्त्रपाणयः’ वेणीसंहारः ।

ओजोगुणव्यञ्जकवाक्येषु प्रहर्षिणीवृत्तम्—  
‘त्वं ब्रह्मा पशुपतिरर्थ्यमा विधाता ।’ रुचिरा—शिशुपालबधस्य  
सप्तदशः सर्गः एतेन रचितः । अथोच्चलत् कलकलघोषभौष-  
णम् ।’ शिशु० १७ ।

चतुर्दशाक्षरावृत्तिषु—

वसन्ततिलकम्—उत्तेनानेन चौरपञ्चाशिका शिशु-  
पालबधस्य पञ्चमः सर्गः, नैषधचरितस्यैकादशत्रयोदशौ, कुमार-  
सम्भवस्य सप्तदशः, ऋतुसंहारस्य तृतीयः सर्गश्च ग्रथितः ।

पथ्या—‘स्यगयन्त्यमूः समितचातकार्तस्वराः जलदा-  
स्तद्धितुलितकान्तकार्तस्वराः ।’ शिशु० ४।२४ ।

कुटिला—‘नोतोच्छायं मुहुरशिशिरश्मेरुस्रैः, आनीला  
भैविरेचितपदभागा रत्नैः ।’ किरा० ५।३ ।

पञ्चदशाक्षरावृत्तिषु—

मालिनौ—वित्तमिदं विदुषामतिसन्तोषकरम्, एतेनैव  
शिशुपालवधस्यैकादशः सर्गो रचितः । प्रायशः काव्यानामपि  
सर्गावमाने अस्य व्यवहारो दृश्यते ।

पञ्चचामरम्—वृत्तमिदं स्तोत्रादौ बाहुल्येन कविभिः  
प्रयुज्यते । ‘जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्भरो विलोलवीचि-  
वक्त्रो विराजमानसूर्द्धणि ।’ शिवताडवस्तोत्रम् ।

सप्तदशाक्षरावृत्तिषु—

हृदिणो—‘प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मिलन्मनोहरकुन्तलैर्दशन-  
सुकुलैर्मुग्धात्तोकं शिशुर्दधती मुखम् ।’ उत्तरराम० ।

शिखरिणी—वृत्तमिदं हृदयस्य स्फुरणं द्रवीभावं वा  
जनयति । आनन्दलहरोहंसदूतादयः ग्रन्थाः एतेनैव रचिताः  
‘इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोरसावस्याः स्पर्शो वपुषि  
बहलश्चन्दनरसः । उत्तरराम० ।

पृथ्वी—भावगाभीर्थद्योतकमिदं वृत्तम् । ‘प्रचण्डपरि-  
पण्डितः स्तिमिरवृत्तिरन्तमुखम् ।’

मन्दाक्रान्ता—मेघदूतपदाङ्कदूतादयो ग्रन्था एतेनैव  
वृत्तेन ग्रथिताः । 'तीर्थेतोयव्यतिकरमवे जङ्गुकन्यासरयोः' रघु०  
८।८१ ।

वंशपत्रप्रतिता(तं)—'दर्पणनिर्मलासु पतिते घन-  
तिमिरसुषि, ज्योतिषि रौप्यमिन्त्रिषु पुरः प्रतिफलति मुहुः ।  
शिशु० ४।५७ । 'सम्प्रतिलब्धजन्मशनकैः कथमपि लघुनि,  
क्षीणपयस्यपेयुषिभिदां जलधरपटले । किरा० ५।४३ ।

अतिशयिनो—'इति धौतपुरन्ध्रिमत्सरान् सरसि सज्ज  
नेन, श्रियमासवतोऽतिशयिनोमपमलाङ्गभासः । शिशु० ८।७९ ।

अष्टादशाक्षरावृत्तिषु—

महामालिनी, महामालिका, तारका, नारा-  
चकं वा—'कृतसकलजगद्बिबोधोऽवधूतान्धकारादयः । शिशु०  
११।६७ । 'रघुपतिरपि जातवेदो विशुद्धां प्रगृह्य प्रियाम् ।'  
रघु० १२।१०४ ।

ऊनविंशत्यक्षरावृत्तिषु—

शाटू लविक्रौडितम्—वृत्तमिदमुद्धतवाक्ये वीरचरि-  
तादौ लक्ष्यते । 'चञ्चत्पञ्चशिखण्डमण्डनमसौ मुग्धः प्रचण्डः  
शिशुः ।' वीरचरि० ।

मेघविस्फूर्जिता—'श्रिया जुष्टं दिव्यैः सुपटहरवैरम्बितं  
पुष्पवर्षैः । शिशु० २०।७२ ।

सुमधुरा—‘विदार्थान् प्रकृतस्त्व’ वदसि न च ते जिह्वा  
निपतिता ।’ मृच्छक० ।

विंशत्यक्षरावृत्तिषु—

सुवदना—‘उत्तुङ्गास्तुङ्गकूलं श्रुतमदसलिलाः प्रस्यन्दि-  
सलिलम् । सुद्रारा० ।

एकविंशत्यक्षरावृत्तिषु—

सुगंधरा—वृत्तमिदं समुद्धते वाचे, रौद्रे, वीरे, भयानके  
च रसे सम्यगुपयोगमर्हति । ‘उत्कृत्योत्कृत्यगर्भानपि शकल-  
यतः क्षत्रसन्तानरोषात् ।’ वीरचरि० ।

अर्द्धसमवृत्तेषु—

वियोगिनी सुन्दरी वा—वृत्तस्यास्य करुणरसे सम्य-  
गुपयोगो लक्ष्यते । कुमारसम्भवस्य चतुर्थः, रघुवंशस्याष्टमः,  
शिशपालबधस्य षोडशः, किरातार्जुनीयस्य द्वितीयश्च सर्गः अनेन  
विरचितः ।

औपच्छन्दसिकं—वृत्तस्यास्य वीररसे भूयान् व्यवहारो  
दृश्यते, ‘चमरान् परितः प्रवर्त्तिताश्वः क्वचिदाकर्ण्य निष्कृष्टवस्त्रभ-  
वर्षी । नृपतीनिव तान् वियोज्य सद्यः सितबालव्यजनैर्जगाम  
शान्तिम् ॥’ रघु० ८।६६ । ‘व्यवहार इवानृताभियोगं तिमिरं  
निर्जितवत्यथ प्रकाशे’ शिशु० २०।४१ ।

मालभहारिणी—‘इयमस्मादुपाश्रयैकचित्ता मनसा



प्रेमनिबद्धमत्सरेण । नियतं कुपितातिवृत्तमत्वात् स्वयमुद्येक्ष्य  
ममापराधलेशम् । वेणीसंहारः ।

गाथा—अस्य तावत् च्छन्दसः किमपि लक्षणं न पर्या-  
प्ततया संलभामहे ; केवलसुदाहरणतो ज्ञातव्यमिति ।

‘अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्णयाः समिदन्तः प्राप्तसंस्तीर्णदर्भाः ।

अपघ्नन्तो दूरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां बह्वयः पावयन्तु ॥’

इति महाभारतादिषु पुराणनिवहेषु अस्य तावत् भूयान्  
व्यवहारो दृश्यते । सन्दर्भगौरवमयात् तानि तान्युदाहरणानि  
उज्जितानि । आशास्महे च्छन्दोविषयकज्ञानमभीप्सूनां यथा-  
कथञ्चिदुपकारमातन्विष्यत्ययं सन्दर्भ इति कृतं विस्तारेण ।

### पुराणिकेतिवृत्तानि—

अंशुमतः—सर्वानवहणम्,—महर्षेः कपिलस्य क्रोधाग्नी  
सूर्यवंशावतंसे षष्ठिसहस्रे सगरसन्ताने विनाशसुपगते पितामह-  
निदेशेनासौ पातालभवनं गत्वा सहर्षिं संस्तूय यज्ञीयाश्वं  
गृहीत्वा पितामहसगरस्य शतक्रतुं निर्वाहयामास ।

अकचस्य उत्पत्तिः—पुरा किल देवानां समुद्रमथनो-  
द्भवायाः सुधायाः पानावसरे प्रच्छन्नदैत्यभावस्य केतोर्गलमात्र-  
पर्यवसिते पीयूषे सूर्याचन्द्रमसौ तद्रहस्यं नारायणं व्याचक्षाते ।  
ततः स सपदि चक्रेण तस्य शिरश्चिच्छेद । ततःप्रभृति विदे-

हस्य तस्य उत्तमाङ्गं राहुरपराङ्गं केतुश्चेति कीर्त्यते । तदारभ्या-  
मर्षतया लोकसाक्षिणं चन्द्रमसञ्च पर्वणि ग्रसति ।

**अग्नेः खाण्डवभक्षणम्—**कदाचिदग्निः श्वेतकि-  
राजयज्ञे प्रभूतहविर्भक्षणजनितं विकारं परिहर्तुं ब्राह्मणरूपेण  
कृष्णार्जुनयोरातिथ्यं स्वीकृत्य तयोः साहाय्येन बहुप्राणिशङ्कुलं  
खाण्डवारण्यं षट्प्राणिमात्रवर्जं समस्तं कवलयन् पुनः  
सास्थ्यमापेदे । निरुक्ताः षट् प्राणिनश्च किरीटिशरण्यो मयो  
नाम दनुजः, जनन्यामिषेनापवाहितस्तत्तत्कतनयो हतबन्धुरश्व-  
सेनः, कृशानोरनुग्रहजोविताश्वत्वारो मन्दपालसूनुवः शाङ्गका-  
श्चेति ।

**शुकं प्रत्यभिसम्पातः—**अथैकदाग्निः अश्वत्यान्निर्गत्य  
शमीगर्भगत इति शुकेन प्रस्तुतत्वात् शुकजातिं प्रति तेनाभि-  
शप्तम्—‘वाग्विह्वीनो भूयाः’ इति ।

**वारणेष्वभिसम्पातः—**कदाचिद्देवगणानुरोधादूर्ध्वरेतसः  
कालिकापतेः क्षरितमौषद्रेतः संगृह्य चण्डीशापभयात् सुहृन्तं  
तारकघातिसुतोत्पादनक्षममनलमश्वत्यस्थमन्विथङ्गाः सुरेभ्यः  
कोऽपि करी व्याजहार । तेन कुपितेन हुतवहे—‘प्रतोपा वो  
रसना भवेत्’ इत्यभिसप्तम् ।

**अगस्त्यस्य उत्पत्तिः—**एकदोर्वृक्षौमभिलषतोः मित्रा-  
वरुणयोः कुम्भन्यस्तात्तेजसोऽगस्त्यो निमिशपाक्षिदेहो वशिष्ठश्च  
संजज्ञाते । तेन तौ मित्रावरुणसंज्ञां संलभेते ।

**विन्ध्यशासनम्**—अथ कदाचिदगस्त्यो देवैरभ्यर्थितो  
 मेरुस्यर्द्धया दिनकरगमनवर्त्तानमवरोडुमिच्छन्तं विन्ध्यगिरि-  
 मगमत् । तत्र मुनिमभ्यर्थितुमवनते च तस्मिन् 'पुनर्गमनं  
 यावत् नतशिरसैव वर्त्तितव्यम्' इत्युक्त्वा तस्मात् परेताचरितां  
 दिशं प्रस्थितो न पुनस्तत्रागमत् ।

**नहुषशापः**—सोमवंशावतंसो नहुषभूपतिरिन्द्रपदं प्राप्या-  
 गस्तादिभिर्महर्षिभिः शिविकां वाहयन् तमगस्त्यं दुर्मतितया  
 पादेनासृशन् तच्छापेन भुजङ्गमयोनिमासाद्य तिर्यक्त्वमापन्नो  
 राज्ञा युधिष्ठिरेण तस्मान्मोचितः । ततः स त्रिदशालयं  
 ययौ ।

**वातापिदलनम्**—महर्षिरगस्त्यः कदाचित् स्वभार्यायाः  
 लोपामुद्रायाः सन्तोषार्थं धनलिप्सुर्धरणीमभिचरन् इल्ललजनपदं  
 गत्वा तस्य राज्ञः आतिथ्यं स्वीचकार । दनुजपतिरिल्ललः सहो-  
 दरं वातापिनं ह्यगं विधाय तस्य पिशितैर्गृहागतान् प्रथमं  
 भोजयामास, अनन्तरं मृतसञ्जीवनीप्रभावेणोज्जीवितेन तेन  
 जठरं विदार्थ्य निष्क्रामता घातयित्वा अतिथोनां धनानि समा-  
 दधिरे, तान् मुनिर्विज्ञाय भुक्तं वातापिनमतित्वरितं कुक्षि-  
 वल्लीना पपाच ।

**समुद्रपानम्**—अथैकदामरसंस्तुतो मुनिः सागरगर्भलुक्ता  
 यितानां कालकेयादिदनुजानां वधार्थं सागरोदकं गण्डूषेण  
 निःशेषं पीत्वा तेषां वधशरणीं प्रदर्शयामास ।

**दक्षिणस्यामुदयः—**श्रूयते हि श्रुतो शरदि दक्षिणस्यां दिशि नक्षत्ररूपेण समुदिते शुनौ सर्वत्र जलं शुध्यतीति ।

**अघासुरस्य बधः—**नन्दालये कंसप्रेषितयोः पुतना-  
वकासुरयोर्नालकृष्णकरेण निधनमुपगतयोस्तयोर्भ्राता अघासुरो  
वृन्दावनं गत्वा वासुदेवबधार्थं मायया अजागरूपं परिगृह्य  
क्रीडद्भिर्बालैः सह श्रीकृष्णं कवलीकृतवान् । ततश्च तन्मायां  
ज्ञात्वा हरिर्विश्वेश्वररूपेण आत्मदेहं विस्तीर्य तस्य गलनालीं  
शीर्षञ्च विदार्य बहिरगात् ।

**अनिरुद्धस्य उषासमागमः—**स्वप्नदृष्टमनिरुद्धं प्रति  
बाणतनयाया उषायाः प्रगाढमनुरागमवगमस्य तत्तत्स्त्री चित्रलेखा  
गूढं तमनिरुद्धमानीय समागमयत् । ततोऽसौ तया सह रहो  
विहरति स्म । अथ गच्छता कालेन, बाणेन ज्ञातः बद्धश्च । अन-  
न्तरं नारदमुखादुपलब्धवृत्तान्ताः यदुकुलप्रमुखाः कृष्णादयः  
ईशानगुप्तं शोणितपुरं गत्वा संग्रामं विधाय विजित्य च बाण-  
मनिरुद्धं मोचयित्वा उषया सह द्वारकापुरं संप्रापुः ।

**आस्तिकस्य सर्पौज्जीवनम्—**पुरा किल वासुकि-  
भगिन्यां मनसादेव्यां जरत्कारुमुनिसम्भवः आस्तिकः सर्पसच-  
कारिणं जनमेजयमनुनीय कद्रोरभिसम्प्राप्तात् तद्वयस्त्रे निधनता-  
मुपागच्छन्तं भुजङ्गमकुलं परिररच्च ।

**इन्द्रस्य गौतमपत्नीधर्षणम्—**पुरा किल अहल्या-  
रूपविमुग्ध इन्द्रो गौतमरूपं धृत्वा तदाश्रमपदमभ्युपेत्य सुरत-

प्रार्थनयायत्तीकृतासहस्रां धर्षयित्वा वहिरागच्छन् देवात्  
मुनिनावलोकितोऽभिगत्य सीमो शून्यस्तव भविष्यतीति ।  
अहल्यापि श्रीरामचरणस्पर्शनसृते अदृष्ट्या निराहाराश्मश-  
यिनीत्यभिगता ।

वृत्तहृन्ननम्—पुरा किलाखण्डलशासनाय त्वष्टुरत्-  
पन्नो वृत्तो नामासुरस्तपस्यन्नेवान्तर्निविष्टनारायणांशेनेन्द्रेण  
सकलदेवताप्रार्थितकायस्य पुत्राप्नो मन्त्रासुनेर्गृहीतपरोपकार-  
व्रतस्य दधीचेः कङ्कालैर्विनिर्मितेन कुलिशेन निहतः ।

पर्वतपक्षकर्त्तनम्—यत्र कुत्रचित् पक्षवलेन गमन-  
शक्तानां पर्वतानां गमनेन सहदनिष्टशङ्कां भावयता मववता  
तेषां पक्षाः कर्त्तिताः । तेषु नगाधिपतरात्मजो मैनाको जल-  
निधेरम्भसि निमज्ज्यालूनपक्ष एव वर्त्तते ।

उशीनरसूनोः शरणागतरक्षणम्—पुरा किला-  
ग्निः पारावतविग्रहेण चन्द्रवंशीयं शरणागतवत्सलं राजानं  
शिविमभ्येत्य 'श्वेनभयत्रस्तोऽहम्' इत्युक्त्वा राजप्रसादं लेभे ।  
ततश्च श्वेनरूप इन्द्रसूक्ष्मक्षणाद्य राजानमागत्य तं प्रार्थयामास ।  
राजनि तु तदङ्गविनिमयेनात्मशरीरतः स्वमांसं दातुं प्रवृत्ते  
सूक्ष्मरूपेण तौ वज्रीन्द्रौ सन्मुखीभूय वरं दत्त्वा अन्तर्हिती ।

ऋष्यशृङ्गस्य अयोध्यानयनम्—त्रिभाण्डकस्य मुनिः  
पुनर्मृत्युशृङ्गं पुरा द्वादशवर्षव्यापिन्या अनादृष्ट्या राज्यनाशोप-  
क्रमे राज्ञा दशरथेन आनीय यज्ञ कृत्वा राज्यरक्षा अकारि ।

एकलव्यस्य गुरुदक्षिणादानम्—निषादाधिपते-  
 हिरेण्यधनुषस्तनयः एकलव्यो धनुर्विद्यामभ्यसितुमाचार्यं द्रोण-  
 मुपगम्य शवरजातित्वेन प्रत्याख्यातः गृहं गत्वा मृगमयं द्रोण-  
 विग्रहं निर्माय ततः निखिलामायुधविद्यां लेभे । ततश्चायं  
 कदाचिदर्जुनतोषविधिस्तवे अभिसन्धानार्थं समुपस्थिताय आचा-  
 र्याय निजदक्षिणाङ्गं हित्वा तदभ्यर्थनानुरूपं दक्षिणामदात् ।

काकुत्स्थस्य युद्धम्—वेवस्वतान्वयसम्भवस्य राज्ञः  
 शशादस्य सूनुः पुरञ्जयः सुरासुराणां महाहवे विष्णोरादेशेन  
 हपरूपिणः इन्द्रस्य ककुदमास्थाय युद्धमकरोत् । ततः प्रभृत्ययं  
 वंशः काकुत्स्थ इति संज्ञामाप ।

कर्णस्य दातृत्वम्—पुरा किल कर्णः प्रभाकरेण  
 निषिध्यमानोऽपि स्त्रीशामङ्गलं ज्ञात्वा च प्रार्थिताय पुरन्दराय  
 स्वाङ्गतः उत्कृत्य सहजातं कवचकुण्डलमदात् ।

कार्तवीर्यार्जुनस्य नर्मदारोधः—कदाचिदसौ  
 हैहयः कृतवीर्यसूनुरर्जुनो नाम भूपतिः जलकेलिब्यापारे भुज-  
 सहस्रेणावरुध्य नर्मदां प्रतोपगा चकार ।

दशाननशासनम्—अथ कदाचिदनेन हैहयेन योद्ध-  
 मिच्छन् दशाननो नर्मदारोधसि दोर्मिर्निर्जितो बद्धा निजायतन-  
 मानोतः पुलस्त्यानुरोधान्मोचितश्च ।

किरौटिनः गुरुदक्षिणा—अथाचार्यद्रोणनिदेशेन

किरीटी तद्वक्षिणायै द्रोणद्वेषिणं द्रुपदराजं बद्धा दक्षिणारूपं  
तं दत्तवान् । तेनासौ द्रोणोऽर्जुनं प्रति प्रसन्नो भूत्वा सर्वेभ्यः  
शिष्येभ्यः समधिकसादरं हतवान् ।

**कुन्त्याः सन्तलाभः**—अथैकदा दुर्वासा मुनिस्त्रोथ-  
यात्माप्रसङ्गेन कुन्तिभोजराजगृहं वर्षमेकमुवास । तदा कुन्ति-  
भोजाय पुत्रौत्वेन प्रदत्ता शूरसेनभूपतेः कन्या वसुदेवस्य खसा  
पृथा ऋषिरत्नकुतां परिचर्यासकरोत् । तत्परिचर्याया परितुष्टो-  
मुनिस्त्रोथै देवाकर्षणमन्त्रमेकमदात् । तच्चान्तपरीक्षार्थं भार्त्तण्ड-  
स्मरणेन तदौरसेन कर्ण इति सुतोऽजनयि । तं तु कानीनत्वात्  
मञ्जुष्यायां संस्थाप्य नदीप्रवाहे विक्षेप । ततश्च स्वयंवरविधिना  
पाण्डुराजेन सह तस्या विवाहोऽभूत् । एकदा वनधूमणावसरे  
ब्राह्मणाभिसम्प्रातेन स्त्रोसंसर्गवच्चितः पाण्डुरन्धेन पुत्रोत्पादनाय  
पृथामादिदेश । ततः सा ऋषिदत्तमन्त्रबलेन धर्मराजं पवन-  
मिन्द्रश्च स्मृत्वा तेषामौरसेन युधिष्ठिरं भीममर्जुनश्च सुता-  
नुत्पादयामास । सपत्नी माद्री तच्चान्तप्रभावेण च अश्विनीकुमारौ  
स्मत्वा नकुलसहदेवौ कुमारौ लेभे ।

**कृष्णस्य पूतनावधः**—पुरा किल स्तनन्धयो हरिः  
कंसप्रेषितया मायाविन्या पूतनया समर्पितो गरलसमासक्तस्तन-  
चुचुकं तज्जीवनैः साहं पपौ ।

**शक्राटभञ्जनम्**—अथैकदा शक्राधःशयानो हरिश्चर-  
णेन घोरं तं दनुजं वभञ्ज ।

यसल्लार्जुनभङ्गः—अथ कदाचिच्चालोऽसौ बलदेवेनो-  
द्धृतं खेलयन् यशोदयोदूखलवद्वस्तुमुदूहृतं कर्षयन् यमलार्जुन-  
पादपान्तर्गतस्तौ आकृष्टोदूखलेन बभञ्ज ।

अरिष्टवधः—कदाचिदसौ रजनौमुखे रासलीलासमा-  
शक्तौ गोमुनिगणानुहंजयन्तं पण्डुरूपधरसरिष्टाख्यमश्वरमुत्पा-  
टितैर्नैकेन तत् शृङ्गेन जघान ।

गोवर्द्धनधारणम्—अथैकदा कृष्णोपदेशेन इन्द्रमख-  
भङ्गात् व्रजवासिनः प्रति कुपितेन इन्द्रेण सहदुत्पातो व्यकारि ।  
तद्वारणाय वामकनिष्ठाङ्गलिना गोवर्द्धनगिरिं दधार ।

कंसवधः—अथासौ आत्मवेपिणमुग्रसेनतनयं मथुरा-  
धौखरं सातुलं कंसं मथुरां गत्वा तिपात्य पितर वसुदेवं मातरं  
देवकौञ्च वन्धनादुन्मुच्य कसादधिहतामिन्नामुग्रसेनायादात् ।

गुरुदक्षिणा—अथ कदाचिदयमध्ययनार्थी बलदेवेना-  
वन्तौमुपेत्य चतुःपद्मलोभिः सान्द्रौपनिमुनेरधौत्य निखिलां  
विद्यां तदङ्गजहन्तारं शङ्ख पञ्चजनासुरं विनिपात्य तदस्थिजं  
पाञ्चजन्यमापूरयन् शमनं विजित्य तदन्तिकादानौय गुरुपुत्रं  
गुरवे दक्षिणामदात् ।

रुक्मिणीहरणम्—अथ कदाचित् हरिः राजन्यवृन्दं  
विजित्य चेदिप्रतये शिशुपालाय दिव्यतां भोषकपुत्रीं रुक्मिणीं  
राक्षसविधिना उदाह्य तस्यासनङ्गावतारं प्रद्युम्नमजीजनत् ।



जरासन्धभौतिः—अयं कृष्णः कंसपत्नौसमुत्तेजिताज्ज-  
रासन्धात् भयिन प्रपल्य्य रैवतकाद्रिप्रकारां कुशस्थलोमध्यवास ।

मुचुकुन्दतल्पशयनम्—अथ कदाचिद् यादवाक्षे-  
पिणा यवनपतिना कालयवनेनाक्रम्यमानोऽसौ कामपि गिरि-  
गुहां प्रविश्य तत्र देवासुरयुद्धे प्रसन्नैर्देवैः स्नाम्यमानस्य मुचुकुन्द-  
भूपतेः प्रार्थनया तस्मै दीर्घकालं निद्रासुखमर्पितम् । तदन्तरा  
यो हि निद्राव्याघातं घटयिष्यति स भूपतेर्दृष्टिमात्रेण भस्मत्व-  
मेष्यतीति वरलब्धप्रसुप्तस्य तस्य तल्पलीन आसीत् । कालयवनस्तु  
तदनुसरणक्रमेण प्रविश्य कृष्णभ्रान्त्या पादेन ताडयन् तेन दृष्ट्या  
भस्मीकृतः ।

परोक्षिदुज्जीवनम्—कदाचिदसौ अश्वत्थाम्ना ऐषि-  
कास्त्रेण विनाशितमुत्तराजठरगतसभिमन्यतनयं परोक्षितमु-  
ज्जीवयामास ।

खुल्लनाथाः जन्म—इयं खलु तपस्विनी रत्नमाला-  
नाम्नी काचित् स्वर्गविद्याधरी, पुरा चण्डिकाकोपेन लक्ष्मपति-  
वर्णिज औरसेन जाता । धनपतिसार्थवाहेन परिणीता । अस्या-  
स्तनयः श्रीमन्तो नाम ।

गरुडस्य निषादपुरग्रासः—क्षुब्धामकण्ठेनानेन  
मातृनिधोगादुदधिस्थं निषादपुरमश्रुता खगपतिना गिलितो  
निषादीभार्यः कश्चिद् ब्राह्मणः कण्ठं दहन् समुज्जितः ।

चन्द्रस्य गुरुपत्नीहरणम्—अथ कदाचिदनङ्गपोडितः  
शशी ब्रह्मसतेः पत्नीं तारां बलादपहृत्य तस्यां बुधनामानं सुत-  
मुत्पादयामास ।

दक्षादभिम्पातः—रोहिणीनक्षत्रमात्रैकनिरतस्य श-  
शिनो निजदौर्भाग्यदुःखिताभिर्दक्षपुत्रीभिः सप्तविंशत्या स्वपत्नी-  
भिरावेदितस्य प्रजापतेः शापादेष यक्षणाभिक्रान्तः शङ्करं तपसा-  
राध्य निरामयोऽभवत् ।

जरासन्धस्य उत्पत्तिः—ब्रह्मद्रयो नाम राजा सन्तान-  
हीनतया काचीवत्तनयं चण्डकौशिकमृषिं प्रस्तूय शरणं प्रपन्नः ।  
ततस्तेन ऋषिणा प्रसादोक्तमास्त्रफलमेकं राज्ञे दत्तम् । स तु  
राजा निर्वन्धप्रेरिततया तत् फलं यमजाभ्यां काशीराजतनयाभ्यां  
भार्याभ्यामर्पितवान् । ते च महिष्यौ तत् फलं समभागेन भुक्त्वा  
दोहदवत्यौ स्तः । ततस्तु पूर्णे दशमे मासे जीवितमर्द्धशरीरद्वयं  
प्रसूय परिचारिकया व्यसर्जयताम् । अथ सूनापरिचरा जरा  
नाम्नो कापि राजसौ बालमृन्मांसार्थिनी कौतूहलवशवर्त्तितया  
तद्भागद्वयमेकौकृत्य रुदन्तं बालकं वोच्य साधर्या राज्ञे उपायनं  
कृतवती ।

जामदग्न्यस्य मातृशिरश्छेदः—अथैकदा राम-  
माता रेणुका कामपि स्रोतस्त्रिणीं ज्ञातुमभ्येत्य तत्र जलक्रीडा-  
नुसंशक्तं गन्धर्व्वराजं चित्ररथं समीक्ष्य सञ्ज्ञाताभिलाषोन्मनस्का-

अमपदमागतेति विदितभूताद्येन सुनिना कुपितेन समादिष्टो  
जामदग्न्यः कुठारेण साहशिरश्चित्वा पितुः सन्तोषान्माहप्रत्य-  
ज्जीवनादिकान् वाञ्छितान् वरान् समालेभे ।

षड्जाननविजयः—ब्राम्हकात् धनुरूपनिषदमधौया-  
नेन जामदग्न्येन इन्द्रारम्भे षड्जाननं प्रति त्रैयक्षशरे संयोजिते  
चण्डिका तयोर्मध्यस्थैर्न न्यवारयत् ।

क्रौञ्चभेदनम्—अथ कदाचिद्रामः कार्तिकेयस्य  
सर्द्धया क्रौञ्चगिरिमतिनिशितविशिखसुखेन लीलया मृत्पिण्ड-  
भेदमिव बिभेद ।

निःक्षत्रौकारणम्—अथ कदाचिन्मृगयानुरक्तः कार्त-  
वीर्याङ्गुनोऽटवीं पथ्यटन् जमदग्नेराश्रमं प्राप्य सुनिमत्कृतोऽसौ  
तं महोयसो विभवरूपां कामधेनुं ययाचे । किन्तु प्राणव्यये-  
नापि तामदित्सन्तं सुनिमाहवे हत्वा होमधेनुं स्वपुरं नीतवान् ।  
ततश्च पुष्करतीर्थात् प्रत्यावर्त्य कुपितो रामः त्रिःसप्तकृतः क्षत्र-  
बधमङ्गीकृत्य पितृहोषिणं द्वैहयं सवान्धवं प्रतिज्ञातसंख्यया च  
सबालक्षात्रदीरान् निपात्य स्वसन्तपञ्चके पञ्चसरःसु सञ्चितेन  
तच्छोणितेन पितृपुरुषान् तर्पयति स्म ।

पृथ्वीदानम्—अथासौ रामः समग्रां पृथ्वीं विजित्य  
तर्पितैः पितृपुरुषैर्निवारितहननव्यवसायो जज्ञेन देवान् प्रणीय  
गुरुकश्यपाय तावतीमिलां समर्प्य महेन्द्रगिरौ तपस्यायै ययौ ।

गणेशदन्तभञ्जनम्—कदाचिदभार्गवः कालिका-  
पतिसमिष्टोत्तमुपगच्छन् पथि गणेशेन प्रतिनिवृत्तो प्रज्वलदनले-  
नेव क्षात्रतेजसा तमभिभूय परशुना तस्यैकं दन्तं वमञ्च ।

भोष्णेण पराभवः—अथ कदाचित् सत्यसन्धो निखि-  
लोपचोयमानक्षत्रवैर्यो भोष्णः स्वाचार्य्यरामेणादिष्टोऽपि शैल्य-  
राजानुरक्तामात्रविजयलब्धपरित्यक्तां काशौराजसुतामस्वामुद-  
जहार । तस्माच्च कुपितं जामदग्न्यमाहवे आह्वय महासंग्राम-  
मभिनोय पराजितः ।

ताडकायाः शापावसानम्—पुरा किल श्वेतकेतु-  
नाम कश्चित् यक्षस्तपस्यया पितामहात् 'सहस्रमत्तमातङ्ग इव  
वल्लवती कन्या भविष्यति' इति वरं लब्ध्वा प्राप्तमातङ्गवल्लवतीं  
कन्या सुन्दाय ददौ । ततस्तस्यां सुन्दरसेन मारीचो नाम  
पुत्रो जज्ञे । अगस्त्यक्रोधाग्निना निहते सुन्दे समावृक्तो मारीचो  
मुनिं हस्तमुद्रतः । ततः कुपितो मुनिस्तौ 'राक्षसयोनिं प्राप'  
इति शशाप । ततः प्रभृति राक्षसो भूत्वा मुनेराश्रमं प्राणिशून्यं  
हृत्लोपतुः । अथ गच्छति काले विश्वामित्रमखरक्षावसरे राम-  
चन्द्रेण सा विनष्टा ।

दक्षस्य अ. नृण्डम्—अथैकदा अगुयन्नसमुपागतो  
दक्षः शिवेनाकृतसत्कारः क्रुद्धन् शिवं निर्जेतुं तमन्तरा निखिल-  
देवसामन्त्र्य मखमारब्धे । तत्र अनाहता कनिष्ठतनया शिव-  
भार्या सती अहेतुकौ शिवनिन्दा श्रुत्वा प्राणान् जहौ । तेन

जातामर्षाः प्रसथाः यज्ञं विनश्य दक्षशीर्षञ्चापि यज्ञाग्नौ ददद्हुः ।  
ततो दक्षर्भार्थ्यायाः प्रसूत्याः स्तुवेन प्रसन्नो हरो दक्षदेहे क्राग-  
सुण्डमेकं संयुज्य तमुज्जीवयामास ।

**दुर्व्याससः भार्याभस्मौकरणम्—**अयं खलु विदि-  
तवैभवो महातपा ऋषिरत्रेरोरसेनानुसूयायां जातः । श्वशुरौ-  
वानुरोधेनासौ कन्दल्याः पाणिग्रहणसमये तस्याः शतापराधं  
मर्षयिष्यामीति प्रतिज्ञातवान् । ततो गच्छता कालेन कन्दल्या  
उत्पन्ने शतैकेऽपराधे क्रोधाग्निना स तां ददाह ।

**द्वन्द्वं प्रत्यभिसम्पातः—**अथ कदाचिदसौ मुनिः  
महीमटन् गच्छन्तमिन्द्रं दृष्ट्वा तस्मै पारिजातस्रजं दत्तवान् । स  
तु तां यथायोग्यस्थाने अप्रापिततया क्रुद्धेन मुनिना 'श्रीहीनो  
भूयाः' इति शेषे ।

**पाण्डवान् प्रति सन्तोषः—**सुयोधनसत्कृतप्रसन्नेन  
मुनिना द्रौपदीभोजनोत्तरं पाण्डवेभ्यः सशिष्यमातिथ्यं प्रार्थयि-  
ष्यतीति तस्मै दुर्योधनाय वरं दत्त्वा हरिव्रतपारणावसरे तानभ्ये-  
त्यातिथ्यं ययाचे । ततो विपन्नाः पाण्डवाः हरिसहायेन आदित्य-  
दत्तस्थालीलम्बेन शाकान्नेन सशिष्यान् मुनोन् तोषयित्वा परां  
प्रीतिं लेभिरे ।

**अश्वरौषात् पराभवः—**अथैकदा विष्णुभक्तस्य राज्ञो-  
ऽश्वरौषस्यातिथ्यमसौ मुनिः स्वीकृत्य स्नानाय काञ्चित् सरिद्धरां

गतः । ततो बहुकालात्ययेनापि समुपागतं तं नासमीक्ष्य त्रिदि-  
नमुपोषिणा राज्ञा ह्युत्तामकण्ठतया किञ्चिज्जलं गृहीतम् इति  
विज्ञाय मुनिः क्रोधेन स्वशिरस्थामिकां जटां संक्लिन्य भूमौ  
पातयामास । ततः सपदि प्रत्युत्पन्नेनैकेन पुरुषेणाश्वरौषः  
समाक्रान्तः । विष्णुचक्रो हि तं व्यापाद्य मुनिं हन्तुमुद्यतः ।  
ततस्तेन विद्वस्तो मुनिर्भुवमटित्वा कुत्रापि रक्षितार नासाद्य  
विष्णोरुपदेशेनाश्वरौषशरणं गत्वा निष्कृतिमाप ।

यादवान् प्रत्यभिसम्पातः—अथ कदाचित् स्त्रीज-  
नोचितवेशभूषितः शाल्वः द्वारकागतं मुनिमभ्येत्य 'किं मे गर्भं  
भविष्यति' इति जिज्ञासयामास । ततस्त्वेतः प्रभावेण विदिता-  
र्थोऽसौ 'भूपलं भविष्यति, तेन त्वत्कुलं निर्मूलं यास्यति' इति  
जग्राप ।

धृष्टद्युम्नस्य जन्म—पुरा किल द्रोणेन निर्जितो द्रुपद-  
राजः परमनिर्व्वेदमालभमानो तद्वधार्थं पुत्रेष्टिं कृत्वा धृष्टद्युम्न  
इति नाम पुत्रं लेभे ।

द्रोणस्य वधः—भारतयुद्धस्य पञ्चदशदिवसे 'अश्वत्यामा  
हतः' इत्युच्चैः 'गजः' इति लघुस्वरेण व्याहृतं युधिष्ठिरेण  
द्रोणिर्हत इति बुद्ध्या द्रोणः पुत्रशोकेन नाशायवर्त्तिप्राणो रथतल-  
लग्नो धृष्टद्युम्नेन खड्गेन हतः ।

धृष्टद्युम्ननिधनम्—भारतयुद्धस्य पञ्चावसानरजन्याम्  
अश्वत्यामा पाण्डवशिविरं गत्वा प्रसुप्तं पितृहन्तारं धृष्टद्युम्नं  
खड्गेन जघान ।

नरनारायणयोः सृष्टिः—धर्मराजस्य मूर्त्यभिधा-  
नायाः भार्यायाः जठरे नारायणाग्नेन एकात्मनोः विभिन्नवपुषो-  
स्तयोरेव जन्म । वदरिकाश्रमस्थयोस्तयोरुग्रं तपो दृष्ट्वा संव्रस्ते-  
र्देवगणैस्तपोभङ्गाय सहकामेनाप्सरसः प्रेरिताः । ततस्तद्रहस्यं  
विमृश्य तौ देवगर्वस्वर्वाय रमणोरत्नमुर्व्वंशौ संमृज्य देवभूमिं  
प्रापयताम् ।

नारायणस्य शेषशयनम्—अथासौ पुरा नारायणः  
कल्पान्ते समग्रां महौ खकुच्चौ निधाय कमलयोनिं नाभिकमले  
धारयन् रमया सेव्यमानचरणो योगनिद्राविमिलितेक्षणोऽनन्त-  
शय्यामधिशेते स्म ।

मधुकैटभबधः—एकार्णवे शयानस्यास्य कर्णमलादुत्-  
पन्नौ मधुकैटभनामानौ दनुजौ ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतौ, तस्माच्च  
भीतिग्रस्तेन हिरण्यगर्भेण संस्तूयमानो योगनिद्रातः उत्थाय पञ्च-  
सहस्रवर्षाणि युद्धं कृत्वा ताभ्यां वरं लब्ध्वा जघने तयोः शिर-  
स्त्रिच्छेद ।

पुरुवरसः जन्म—अयते हि पुरा वैवस्वतः पौत्रः इलः  
प्रद्युम्न इत्यपरं नाम; स तु भूपतिः सृगयाप्रसङ्गेनाटवोमटन् महे-  
ग्नेन प्रतिषिद्धगमनमुमाकाननं प्रविश्य सपदि स्त्रौत्वं परिजग्राह ।  
ततस्तद्रूपविमुग्धो बुधस्तस्याः सम्भोगिन पूर्णमनोरथः पुरुवरसं  
तनयमुत्पादयामास ।

पृथोः पृथ्वीदोहनम्—श्रूयते हि त्वेतायामङ्गराज-  
 स्त्रीरसेन सुनोथायामुत्पन्नो वेणः स्वराष्ट्रे देवार्चनां बलिञ्च  
 निवारयामास । तेन जातामर्षास्तत्त्रयाः ब्राह्मणाः मन्त्रपूत-  
 दर्भेण तं निजघ्नः । ततो मृतस्य तस्य दक्षभुजघर्षणादुत्पन्नः  
 पृथुर्नाम भूपतिः लोकहितकाम्यया धनुष्कोव्या पर्श्वतानुत्सार्य  
 वसुन्धरां समतलां नीन्ये । स्वायम्भुवं मनुं वत्स्यं परिकल्प्य  
 गोरूपिणौ सहीमोषधीश्च दुदोह । ततः प्रभृति धरण्याः  
 पृथ्वीति संज्ञाभवत् ।

प्रमद्वरायाः प्रत्युज्जीवनम्—मृगवंशीयः प्रमति-  
 तनयो रुक्मर्नाम कश्चिद् ब्राह्मणवटुः विश्वावसोरैरसेन मेनका-  
 यामुत्पन्नां प्रणयिनीं प्रमद्वरां सर्पदंशनेन त्यक्ताजीवितामात्म-  
 जीवनाद्वैनं प्रत्युज्जीव्योपयेमे ।

बभ्रुवाहनस्य पितृभिभाषणम्—पुरा कदाचित्  
 मणिपुरं गतः पार्थः कामयमानायां चित्राङ्गदायां बभ्रुवाहनं  
 सुतमजीजनत् । ततो गच्छति काले युधिष्ठिरेणानुष्टीय-  
 मानस्य यज्ञस्य हयरक्षणकार्यानुरोधेन पुनस्तत्रैवागतं विज्ञाया-  
 जुं निस्सामभ्यर्चितुमागत्य पार्थेन तिरस्कृतोऽभवत् । तस्माच्च  
 जातामर्षः ग्राहवे ग्राह्य पितरं चात्रवैर्येण पराजयते स्म ।

ब्रह्मणः जन्म—श्रूयते हि 'बहुस्यामजायत' इति पर-  
 मपुरुषस्य इच्छामादेण जलं तत्र निक्षिप्तानिखिलवीजादण्डं  
 ततश्च सर्वलोकपितामहः जज्ञे ।





स्याभिमन्त्रितयज्ञीयोदकपीतस्य राज्ञो युवनाश्वस्य वामकुक्षिं विभेद्यासौ जातः । जातमात्रेण 'कं धास्यति' इति ऋत्विजां प्रश्ने देवराट् सम्मुखोभूय 'ममायं धास्यति' इति प्रदेशिनीस्त्राविणीममृतधारां पीत्वा व्यवर्द्धत, तेन च मान्धातेति नामाभूत् । ततो गच्छति काले दिग्विजयक्रमेण ससया पृथ्वीं विजित्य स्वर्गं राज्यं जेतुमुद्यतो मान्धाता इन्द्रेण मधुवनं प्रेषयित्वा मधुनन्दनेन लवनेन विनाशितः ।

**मूकदानवस्य निधनम्**—मूको नाम दानवः शौकरूपं परिगृह्य देवकृत्यविघटनकामस्तपस्यन्तं पार्थं हिंष्यन् किरातार्जुनयोर्वाणेनासृन् तत्याज ।

**ययातेः जरासंक्रमणम्**—पुरा किल सोमादुद्धवान्वयस्य नहुषन्तपतेरात्मजो राजा ययातिरेकदा मृगयार्थं वनमटन् कूपमध्यपतितां शुक्रसूतां देवयानो दृष्ट्वा यत्नादुत्तोल्य भार्गवं प्रेषयामास । ततो गच्छता कालेन पुनराखेटार्थं सखीजनपरिहृतां तां दृष्ट्वा कामयमानः शुक्रानुमत्या विवाह्य तस्यां यदुतुर्व्वसू सूतौ जनयित्वा भूयोऽनुरोधपरतन्त्रोद्वाहितायां दैतराजवृषपर्व्वसूतायामुपयाचिकायां शर्मिष्ठायां द्रुह्यनुरून् तनयानुत्पादयामास । ततस्तद्विज्ञाय भर्त्तर्य्यभिमानिन्या देवयान्या वेदितस्य पितुरुषणसोऽभिसम्पातात् जराग्रस्योऽङ्गजेषु आत्मीयां जरां संक्रामयिष्यन् अनङ्गीकुर्व्वतश्चतुरस्तनयानभिसम्पातेन योजयित्वा कनिष्ठे स्त्रीकृते पुरौ तां विन्यस्य कतितिथीन् तथौ-

वनसुखेन विषयानुपभोज्य कनीयसे पुरवे राज्यं दत्त्वा भूयस्त-  
स्माज्जरामादाय चतुर्थाश्चमाचारमाचरितुं वनमगात् ।

याज्ञवल्क्यस्य दिवाकराराधना—अथ कदाचिद्  
याज्ञवल्क्यः वैशम्पायनाद् यजुर्वेदमधीत्य सन्नह्यचारिणोऽधि-  
क्षितवानिति क्रुद्धे गुरौ 'मत्तो यदधोतं तद्देहि' इति प्रार्थिते  
मूर्तिमन्ति यजूंषि उद्गीर्थ्य तस्मै प्रत्यर्पितवान् । ततोऽन्ये हि  
वैशम्पायनादधीतारस्तित्तिरास्तानि समादधुः । परतश्च तेना-  
दित्यमाराध्य शुक्लान्यजातयामानि यजूंषि लब्धानि ।

युवनाश्वस्य गङ्गां प्रति शापः—अथैकदा जाह्नवी  
तपस्यन्तं युवनाश्वं स्त्रीर्निर्मालया प्लावयति स्म । तस्माच्च  
क्रुपितो युवनाश्वः 'मर्त्यलोकं विश' इति शशाप । ततः प्रभृति  
अर्धवपुषा युवाश्वस्य कावेरी नाम्नो कन्यारूपेण जन्म परिजग्राह ।  
तेन कावेर्याः अर्धगङ्गेति नाम लोके प्रसिद्धम् ।

रवेः चन्द्राप्यायनम्—देवाः खलु सुधाधरस्य सुधा-  
मयीश्चतुर्दशकलाः कृष्णप्रतिपदमारभ्यासितचतुर्दशीं यावत् प्रति-  
दिनमेकैककलां संपीय पञ्चव्यापिनीं परमां तृप्तिमालभन्ते ।  
ततश्चापरयोः कलयोरमावास्यायां जललतासु व्ययितावशीषां  
पञ्चदशीं कलां पितृपुरुषाः पीत्वा मासव्यापिनीं तृप्तिं विन्दन्ति ।  
तदवशिष्टा षोडशी कला रवेरमाख्यमयूखमुपगता, तेनैव रविणा  
शुक्लप्रतिपदादारभ्य सुषुक्ता नामधेयेन रश्मिना क्रमेणाप्याय्य  
पुष्कलता समासादिता ।

वड्वालङ्घनम्—श्रूयते हि पुरा वैवस्वतभार्या विश्व-  
कर्म्मनन्दिनी संज्ञा भक्तृतेजः सोढुमशक्ता स्वच्छायां गृहे  
मंस्थाप्यात्मनातिगूढा वड्वाकूपिणी तपस्यन्ताटवीमधुरवास  
ततश्चैकदा च्छायापादप्रहारोद्यतं सपत्नीपुत्रं यमुनाभातरं  
'पादस्ते पततु' इति शशाप । तेन विवस्वान् समाधिदृष्ट्या  
संज्ञां परिज्ञाय वाजिरूपेण तद्वनं प्रविश्य तपस्यन्तरां तस्याम-  
श्विनीकुमारावपरञ्च रेवन्तं नामधेयं सुतानजौजनत् । रीतात्य-  
येन तृतीयकुमारस्य जन्मपरिग्रहात् रेवन्त इति नामासीत् ।

तेजःशातनम्—अथ कन्यादुःखेन विदूनमानसस्तथा जामा  
तरं श्रमियन्ते संस्थाप्य तस्याष्टधा क्षापितेन भूमौ निसर्त्तनेन  
तेजसा विष्णोयक्रं, शम्भोः शूलं, कुबेरस्य शिविकानामायु-  
धमन्येपामपि देवानां विविधानि ग्रहरणानि च निर्मितवान् ।

रामस्य—चक्रवाकेश्वभिसम्पातः,—यदा सीताविगीग-  
दुःखविदूनमानसी रामः सीतार्थं विलपति, तदा कश्चिच्चक्र-  
वाकस्तं जहास । तेन क्रुद्धः स चक्रवाकान् प्रति 'प्रतिदिनं'  
रजन्यां दयिताविच्छेददुःखं सह्यिषध्वे' इति शशाप ।

रावणस्य—मोहः—श्रूयते हि कदाचिदुवरदर्पितो रावण-  
स्तप्रस्त्रिन्धा वेदवत्या चर्षणतया तच्छापेन प्रक्षोणतया मोहं  
परिजग्राह ।

केतुसोत्पाटनम्—अथैकदा पुष्कररथेन विहरतो दशा-  
ननस्य कैलासशैलशृङ्गप्रतिहतगतित्वेनात्यवमर्षितस्तमेव शैल-

राजमुत्पाटयन् भीतिवस्तया भवान्या समाश्लेषितस्य शम्भोः  
पादाङ्गुष्ठेनावष्टब्धभूधरभरनिपीडितोभूजस्तवप्रसन्नादेव महेशात्  
व्यसनमुक्तिं देवादीनां मनुष्याणाञ्चावध्यत्वं वरमाजग्राह ।

शिरश्छेदः—अथ दशाननः पितामहमाराधयितुमुग्रं तपस्यन्  
प्रतिवर्षं सहस्रमेकैकं शिरो वज्जी प्रक्षिप्य नववर्षं सहस्रेषु व्यती-  
तेषु ब्रह्मणोऽनुग्रहालूनानि हतनवशिरांसि स्वाभिवाञ्छितञ्चापि  
वरं लब्धवान् ।

[ शिशुपालबधे तथा वीरचरितादौ च दशाननो महेशमारा-  
ध्यान्नौ शिरो जुहावेति वर्णनमासीत् । पुराणतत्त्वानि तत्र  
प्रमाणानि । मन्यन्ते केऽपि सभ्याः शैवाः कवयः पितामहार्थं  
शिरःकन्तनं महेशमाहात्म्यप्रकटितुं कल्पयन्ति इति । ]

वालिना सौख्यम्—अथैकदा बलदर्पितो रावणो दक्षिण-  
सागरे सङ्घ्यामुपासितेन वालिना युद्धार्थमुपगम्य तेन कक्षान्तर-  
सन्निवेशितः पूर्वापरादीन् नीरनिधीन् परिभ्राम्य स्वराजधानीं  
किष्किन्ध्यामानौतः । ततस्तेन निरतिशयां लज्जामनुभूय  
कपिराजेन सौख्यं विधाय स्वपुरमगात् ।

बले पराभवः—अथ कदाचिद्दशाननो दिग्विजयव्यापारेण  
पातालपुरं गत्वात्मबलं स्रष्टे स्म । तदाकर्ण्य पातालेश्वरः  
प्रह्लादनप्ता विरोचनतनयो बलिहिरण्यकशिपोः कुण्डलमुत्तोलि-  
तुमनुरोरोध । तदनुबुद्धो रावणः सुबहुचेष्टया मनागपि तदु-  
त्तोलितुं न शशाक । तस्मान्निरतिशयो लज्जितः लङ्कां प्रति  
ययौ ।

अनरणाब्धः :—पुरा किल राक्षसपतिर्दृशाननो दिग्विजय-  
व्यापारे सन्भुतनयमैक्षाकमनरणमाहवे यमसदनं प्रेरयामास ।

वलदेवस्य—यमुनाकर्षणम्,—पुरा कदाचित् हृन्दारणे  
गोपवधूभिः क्रीडयता मधुपानप्रमत्तेन वलदेवेन स्नानायाहता  
यमुना मत्त इत्यनाश्रवा हलयन्त्रेणाचक्षुषे ।

सूतहननं—तीर्थयात्राप्रसङ्गेन रैवतोद्यानमुपस्थितो हलायुधो  
द्विजगणैः कृतसत्कारस्तन्मध्वस्थं व्यासासनासीनं पुराण-  
व्याचक्षमाणं सूतमनभ्युदगमापराधेन व्यापाद्य परतोऽनुसूचयन्  
तत्पापसत्त्वानाथं सरस्वतीतीर्थे सस्रौ ।

वाङ्मनलस्य—उत्पत्तिः—श्रूयते हि पुरा लालसा-  
प्रणोदितेषु राजन्येषु कृतवीर्यसत्रलब्धनकनकादिसमृद्धान् भार्ग-  
वान्त दृग्भांश्च व्यपातयत्सु कयाचिद्भार्गवभार्ययोरुष्टतो गर्भः  
क्रोधादुक्तं विदार्यात्मतेजसा चैतानधर्षयत् । ततश्चान्वर्थनामासौ  
और्वीं लोकदिष्टक्षया तपश्चरन् पितृपुरुषप्रतिवारितः स्वकोपवह्निं  
जलधिजलेषु विससर्ज । ततःप्रभृति स एव ब्राह्मणोत्थकोपो  
वड्वातुण्डाकृतिरनलमुदगोरन् निखिलजनात्मकमुदकमिदानी-  
मपि पिबति ।

वायोः—अञ्जनाधर्षणम्,—अयं कदाचिद्वायुः क्रपि-  
राजस्य केशरिणः ऋतुस्नातायां भार्यायामञ्जनायां भुवनविश्रुतं  
वीरप्रधानं रामानुचरं हनूमन्तं शिवावतारमजनयत् ।

वालिनः—दुन्दुभिहननम्—महिषरूपधरो वलदर्पितो  
दुन्दुभिर्नासासुरो वालिना युद्धमभेत्त्य उभयोर्वलनिर्णये  
वालिना हतः ।

मायाविनिधनम्—दुन्दुभिपुत्रो मायावी पिहनिधन-  
मुपश्रुत्य वलजिज्ञासुर्योद्धुमभेत्त्य वालितेजसा पराभूय कमपि  
गिरिगह्वरं विवेश । ततस्तु तदनुधावितः कपिराजो भ्रातरं  
सुग्रीवं तद्विलङ्घानि संस्थाप्य स्वयं तत्र वर्षमेकमुषित्वा दानवं  
निहत्य बहिरगात् । अत्रान्तरे बहुतिथ्यावुपचितेऽपि भ्रातु-  
रागमनं नोपलभ्य सुग्रीवस्तस्य मरणं निश्चित्य राजधानीं  
प्रत्यावृत्तः राजसिंहासनमलं चकार । ततस्तु प्रत्यावृत्तेन  
वालिना प्रथमं भ्रातरं नासमीक्ष्य परतस्तस्य राज्याधिकारञ्च  
विज्ञाय अतिक्रुपितेन स राज्यात् चिरं निर्वाशितः । स तु  
परमनिर्व्वेदमालभन् कतिपयेः सहचरैः ऋष्यसूकाद्रिमधुष्य  
गच्छता कालेन रामेण सह मैत्रीं विधाय रामनिहते भ्रातरि  
पुनराज्यमधिचकार ।

विशामित्रस्य—ब्राह्मणप्राप्तः—अथैकदा गाधिराजसूनु  
विश्वामित्रे स्वविभवानुरूपैरनुचरैः सह वशिष्ठाश्रममागते  
ऋषिणा कामधेनोः श्वलायाः प्रसादात् तस्य राजयोग्यः  
सत्कारोऽकारि । तेनातिविस्मितो राजा श्वलायाः  
माहात्म्यमवगम्य तां ब्रह्मर्षिमयाचत । तामदित्सता वशिष्ठेन  
समं समरसवतार्य तद्ब्रह्मण्यतेजसाभिभूतः परमनिर्व्विषो  
ब्राह्मणप्राप्तये बहुसहस्रसमाः उग्रं तपस्तप्त्वा विरिञ्चि-

ममाद्रादुत्तरोत्तरेण राजर्षित्वं महर्षित्वं परिशिषे ब्राह्मणपञ्च  
ममालेभे ।

विगङ्गुडरणम्—वैवस्वदन्वयस्त्रिगङ्गुर्नाम राजा सवान्धवैः  
मगरीरं स्वर्गे यातुमभिलषन् तदुपयोगियज्ञार्थं सपुत्रवशिष्टदेव-  
मनुरोगोद । तेन महर्षिणा तदमम्भवं विभाव्य प्रत्याख्यातः ।  
भूयोभूयः सैव प्रार्थना विज्ञापितो राजा कुपितेन ऋषिणा  
'चण्डालत्व' याहि' इति, ज्ञेयं । ततश्च चण्डालभावमनुप्राप्त-  
न्विगङ्गुविश्रामित्वं शरणमुपलभ्य तदीयतपःप्रभावेण व्यामावि-  
गन् सववता च्यावितः परिपतन् कौशिकप्रतिनिवारितोऽई-  
मार्गेऽतिष्ठत् । अथ स्वतेजसा नूतनमेव स्वर्गं परिकल्पयन्  
देवानुनयनिवारितः स एव ऋषिः स्वकीये स्वर्गे तं त्रिशङ्कुम-  
स्थापयत् ।

शुन, शिफमोचनम्—ऐचाकवंशस्य अम्बरौपमूपते र्महाक्रतो-  
रङ्गसेधस्य यज्ञीयाग्ने देवराजिनापहृते तद्विघ्नोपशान्तये पशु-  
परिकल्पितो मातृपितृविक्रीतः ऋचिकात्मजः शुनःशिफः पथि  
विश्रामित्वं शरणमुपगम्य तत्तः प्राप्तमन्त्रेण वैश्वानरमाराध्य  
आत्मजीवनं राजानं तावद्वयज्ञफलं प्रापयामास ।

रक्षा प्रति शापः—पुरा किल उग्रं तपस्यन्तं कौशिकं  
मोहयितुं देवराजप्रेषिता रक्षा महर्षिशापेन पाषाणसयी बभूव ।

हृत्कोटरस्य—हिडिस्वनिधनं,—जतुगृहदाहानन्तरं  
समाहृक्को भीमो हिडिस्वनिधने विश्रामस्तुस्वमनुभवन् तन्नांसलोलुपं  
हिडिस्वराक्षसं द्योभ्यामाकलय पञ्चत्वमनयत् ।



सौगन्धिकाहरणम्—अथैकदा वदरिकाश्रमस्थेषु युधिष्ठि-  
रादिषु वृकोदरः पाञ्चालोपार्थनया तत्रत्यनिशाचरान् विजित्य  
कुवेरेणाभिनन्दितस्तत्पालिताया निर्भरिणा यथेप्सितान् सौग-  
न्धिकानाजहार ।

वृहस्पतेः—भ्रातृकलत्रधर्षणम् ;—अथ कदा आङ्गिरसो  
ज्यायसो भ्रातुरुतयस्य भार्यामन्तर्ज्वलीं ममताभिधानामुपगच्छत्  
प्रतिवारयता जठरस्थार्भकेण चरणेन तद्रेतो मार्गेऽवरुद्धे 'दीर्घं  
तमसि प्रवेक्ष्यसि' इति तमेव बालं शशाप । ततश्च गच्छता  
कालेन स जननमभिलभ्य दीर्घतमनाम्ना ख्यातः आसीत् ।

व्यासस्य—भ्रातृकलत्रगमगम्—श्रुयते हि पुरा जननी-  
सत्यवत्या निदेशेन पराशरतनयो व्यासः स्वसौदर्यस्य शान्तनु-  
नन्दनस्य विचित्रवीर्यस्य भार्ययोरस्त्रिकास्त्रालिकयो धृतराष्ट्रः  
पाण्डुश्च सूतौ जनयामास ।

शश्वरस्य—निधनम्—पुरा किल शश्वरोनामासुरः  
क्षणीरसोत्पन्नेन प्रदुग्धनाम्ना कामेनात्मविनाशो घटिष्यतीति  
ज्ञात्वा जातं बालं षष्ठेऽहनि सूतिकागृहे प्रविश्य चोरयित्वा  
सागरजले चिक्षेप । ततोऽसौ गच्छति काले दैवगत्या  
स्वगृहानीतस्य मीनस्य कुक्षौ जीवितबालंकमेकं प्राप्य  
तत्पोषणार्थं गृहस्थितायै प्रच्छन्नकामवल्लभायै मायावती-  
गृहीतनामधेयायै प्रत्यर्पयत् । सा च विदितवृत्तान्ता मायावती  
मत्तृनिर्विशेषेण पालयित्वा आसुरीं विदरां शिक्षयामास

ततश्च काले शम्बरं निपात्यासौ बालः भार्यया मायावत्या सह स्वभवनं ययौ ।

शिवस्य—मुनिपत्नीदूषणम्,—अथ कदाचित् हरिहरौ युवकयुवतोरूपधरो दारुवनं प्रविश्य तत्रत्याः युवकयुवतीर्मुनि-  
कन्यापत्नीर्भोहयामासतुः ।

त्रिपुरदहनम्,—अथ कदाचिदीशानः सुरहितेक्षया सर्व-  
देवमयं महत् स्यन्दनमाश्रित्य ब्रह्माणञ्च सारथिं कृत्वा विरिञ्चि-  
लब्धवरेण मयविनिर्मितातिदुर्भेदां दानवदुर्गं कालायसरजत-  
हैमं पुरत्रयं त्रिदैवतमयशक्तित्रययुक्तेन शरेण शुष्कपर्णदाहवत्  
ददाह ।

यज्ञमृगहननम्,—श्रूयते हि कदाचित् शम्भुना साङ्गजस्य  
यज्ञवराहस्य वधोऽकार ।

गजासुरमर्दनम्—पुरा किल कैलासपतिः पिनाकी नन्दि-  
केश्वरेण गजरूपधरं नौलटानवं घातयित्वा तस्य चर्मं विभ्नत्  
ताण्डवं कृतवान् ।

अश्वकविजयः—पुरा किल विधातवरदर्पितोऽश्वकनामा-  
सुरो भवानीं हर्तुमुद्यन् भवेशेन स्वायुवेन निहतस्तद्रक्तकणाद-  
संख्यकानश्वकासुरानुत्पन्नान् दृष्ट्वा स्वतः प्रतुष्टपन्नैर्मातृ-  
गणैर्नारायणसंसृष्टया च 'शुष्करेवत्या पीतासृजोऽसुराणाहवे  
निपात्य तेन पार्वतीपतिना मूलान्धकं शूलेन निर्भिदा-  
प्रस्तवते तदसुराय गाणपत्यपदमदायि ।

केतकीवर्जनम्,—अथ कदाचित् 'कोऽयं सृष्टिकर्ता' इति

परस्परं विवदमानयोर्हरिब्रह्मणोर्मध्ये महदेवं लिङ्गमावि-  
रासीत् । ततश्च 'य एवास्य पारं यातुं समर्थोऽस्ति, स एव  
महान्' इत्यन्तरीक्षवचनमाकर्ण्य अधोगतो विष्णुः पारमना-  
लभ्य परावृत्तः, ब्रह्मापुत्रपरि यातः पारमनाम्ना लिङ्गशीर्षात् प्रम-  
श्यमानं केतकीदलमादाय प्रत्योवृत्त्य विष्णुं 'पारमहमगमम्'  
इति केतकीं साक्षीकृत्यामृतं व्याजहार । तेन कुपितो हरः  
वितथभाषिणीं ब्रह्मवचनसमर्थितवतीं केतकीं परिजहौ ।

शिशुपालस्य—जननम्—श्रुयते हि पुरा शिशुपाल-  
श्चतुर्हस्तस्त्रिलोचनः संवृत्तः, जातमात्रश्च खरवन्ननर्हः । 'यस्य  
क्रोडाधिगतेनास्य अधिकभुजलोचने विलोपमेथ्यतः स एवास्य  
हन्ता इत्यशरीरिण्यां वाण्यामुन्नतायां पर्यायेण कृष्णाङ्ग-  
मधिरोपिते वृद्धङ्गे विलुप्ते वधाहं शतापराधमस्य मर्षिष्य-  
तीति अनुरुद्धेन कृष्णेण तथैव दिव्यमकारि ।

सौदासस्य—क्रव्यादत्वप्राप्तिः—अथ कदाचित् सौदासो  
नाम नरपतिः राक्षसमायाविमोहितो वशिष्ठाय नरपिषितं  
भक्ष्यार्थमदात् । तेन क्रुद्धो मुनिस्तु 'राक्षसी भवं' इति  
शशाप । परतश्च प्रणिधानेन सर्व्वं विज्ञाय महर्षिः शापस्य  
द्वादशवर्षकालं समयं निरूपयामास ।

हनुमतः—अर्कग्रहणोद्यमः—पुरा किल जातमात्रो हनु-  
मान् लोहितफलवुद्धार्कं भक्षितुमाचक्राम ।

त्रिशिरानिधनम्—कुम्भकर्णे निधने ततः पवननन्दनः  
रावणपुत्रस्य त्रिशिरसः सकौरिटीनि त्रीणि शिरांसि खड्गेन  
चिच्छेद ।

द्रोणाद्रिहरणम्—पुरा किल रामरावणयोर्युद्धे संज्ञातीरो-  
हिततयोः रामलक्ष्मणयोः प्रबोधनाय शक्तिनिर्भिन्नहृदयस्य  
सौमित्रेर्लक्ष्मणस्य च प्रतुलजीवनाय वारह्यभैवौषधिपर्वतं द्रोण-  
माजहार ।

—•—

## विविधज्ञातव्यविषयाः

—:~:—

### संख्याबोधकाः

एक—अन्द्रार्क-विघ्ने शरट-शुक्राक्षि-भू-ध्रुवाः ।

द्वयं—द्वन्द्वं युगं युगलं यमलं यामलं यमम् ॥

युगलं द्वितयं पक्षो नटीकूलं करः कुचः ।

जानुपादौ बाहुगुल्फौ जङ्घोष्ठौ राघवात्मजौ ॥

असिधाराकर्णहोराकपोलनयनस्त्रुवः ।

नितम्बायणपद्माणि हनूरुवड्ढवस्तनाः ॥

द्वयं—कालाग्नि-रुद्राक्षि-सन्ध्या-भुवन-पुष्करम् ।

ग्रीवारेखा-शूलशिखा नाडी रामो गुणः पुरः ॥

गायत्री वङ्गिचपणौ विष्णुपत्नी बलिस्तनुः ।  
 शक्तिसूर्तिर्भृङ्गिपादस्त्रिविक्रमपदार्पणम् ॥  
 चत्वारि—गोस्तन-ब्रह्ममुख-वर्णार्णवाश्रमाः ।  
 स्वर्हन्तिदन्तसेनाङ्ग-विष्णुबाहुयुगाः श्रुतिः ॥  
 पुरुषार्थोपाययामपशुमञ्चपदानि च ।  
 पञ्च—पाप-महाकाव्य-शिवासेन्द्रिय-पाण्डवाः ॥  
 विषयानिलवर्गाङ्गि-भूतस्त्रष्टुमहामखाः ।  
 पुराणलक्षण-प्राण-सारकश्लेशपल्लवम् ॥  
 षट्—वज्रकोणवेदाङ्ग-रस-तर्कारि-कारकम् ।  
 प्रयोग-प्रश्न-गायत्रीजठरं चक्रवर्त्तरपि ॥  
 शास्त्रशस्त्राङ्ग-कर्म्मचु भृङ्गपाद-गुहाननम् ।  
 सप्त—मातृ-द्वीप शैल-वारराज्याङ्गताण्डवाः ॥  
 सुनीस्वरनदीव्याध-वङ्गिजिह्वाश्वधातवः ।  
 अष्ट—दिक्पालेशमूर्ति-सिद्धि-सिद्धान्त-कुञ्जराः ॥  
 वसु-लक्ष्मी-गन्ध-मदब्रह्म-श्रोत्राहिमङ्गलम् ।  
 गया-योगाङ्ग नृत्यङ्ग-महिषी-कूलपर्वताः ॥  
 नव—रत्नं निधिर्गोप्यखण्डधान्य-ग्रहास्तथा ।  
 धेनुरन्ध्रशीला-भक्ति-वीरव्याघ्रीस्तनाम्बुदाः ॥  
 विन्ध्यर्धकाः शून्यपूर्णकान्तामध्यास्त्रखानि च ।  
 दश—ज्ञानस्थानुबाहु-रावणानन-चुम्बनम् ॥  
 क्षणावतार-दिग्हस्ताङ्गुल्यवस्थेन्दु-वाजिनः ।  
 धर्मपत्नीधूपपङ्क्तिनिघण्टु-सुतरूपकम् ॥

एकादश—स्यात् करणं कुरुसेना-वृषध्वजः ।  
 द्वादश—अर्का-मास-राशि-संक्रान्ति-गुहबाहवः ॥  
 शारिकोष्ठकसेनानी-नेत्रभूपतिमण्डलाः ।  
 त्रयोदश—सुर्वीथ्यङ्ग-विश्वकश्यपकामिनी ॥  
 सामगाचार्य-ताम्बुलगुणप्रतिमुखाङ्गकम् ।  
 चतुर्दश—मनुर्विद्यायमेन्द्राभिनया मृगः ॥  
 पञ्चदश—तिथिः सामिधेनी कान्ता कलापि च  
 षोडश—इन्दुकला गौरी नाट्यचेष्टोपकारकम् ॥  
 संस्कारः, सप्तदश—तु प्राजापत्यपशुर्धतः ।  
 अष्टादश—धृतिः पौठं पर्जन्योपहीपभारतम् ॥  
 एकोनविंशति—हैववादमप्यथ विंशतिः—  
 अङ्गुलीरावणभुजकपोलाक्षिकरभन्धुवः ॥  
 एकविंशति—संख्यायां मूर्च्छनानुसृतिः समित् ।  
 द्वाविंशति—ओपसर्ग—अतुर्विंशति-वाचकाः ॥  
 वाक्यदोषन्यायगुण-गायत्रीजिनकेशवाः ।  
 शतं—त्रायुःकञ्चदल-शक्रयज्ञादियोजनाः ॥  
 सहस्रं—जाङ्गवीवक्ता शेषशोषाब्जुजच्छ्रदाः  
 रविबाणार्जुनकरा-वेदशाखेन्द्रदृष्टयः ।  
 एतेषामपि पर्ययास्तत्तत्संख्याविबोधकाः ॥

## संख्यावाचकशब्दाः

|                           |                     |
|---------------------------|---------------------|
| १। एकः                    | २१। एकविंशतिः       |
| २। ( द्वि ) द्वौ          | २२। द्वाविंशतिः     |
| ३। ( त्रि ) त्रयः         | २३। त्रयोविंशतिः    |
| ४। ( चत्वार ) चत्वारः     | २४। चतुर्विंशतिः    |
| ५। ( पञ्चन ) पञ्च         | २५। पञ्चविंशतिः     |
| ६। ( षष् ) षट्            | २६। षड्विंशतिः      |
| ७। ( सप्तन् ) सप्त        | २७। सप्तविंशतिः     |
| ८। ( अष्टन् ) अष्ट, अष्टौ | २८। अष्टाविंशतिः    |
| ९। ( नवन् ) नव            | २९। जनत्रिंशत्      |
| १०। ( दशन् ) दश           | ३०। त्रिंशत्        |
| ११। ( एकादशन् ) एकादश     | ३१। एकत्रिंशत्      |
| १२। ( द्वादशन् ) द्वादश   | ३२। द्वात्रिंशत्    |
| १३। ( त्रयोदशन् ) त्रयोदश | ३३। त्रयस्त्रिंशत्  |
| १४। ( चतुर्दशन् ) चतुर्दश | ३४। चतुस्त्रिंशत्   |
| १५। ( पञ्चदशन् ) पञ्चदश   | ३५। पञ्चत्रिंशत्    |
| १६। ( षोडशन् ) षोडश       | ३६। षट्त्रिंशत्     |
| १७। ( सप्तदशन् ) सप्तदश   | ३७। सप्तत्रिंशत्    |
| १८। ( अष्टादशन् ) अष्टादश | ३८। अष्टत्रिंशत्    |
| १९। जनविंशतिः             | ३९। एकोनचत्वारिंशत् |
| २०। विंशतिः               | ४०। चत्वारिंशत्     |

४१ । एकचत्वारिंशत्  
 ४२ । द्विचत्वारिंशत्  
 ४३ । त्रिचत्वारिंशत्  
 ४४ । चतुश्चत्वारिंशत्  
 ४५ । पञ्चचत्वारिंशत्  
 ४६ । षट्चत्वारिंशत्  
 ४७ । सप्तचत्वारिंशत्  
 ४८ । अष्टचत्वारिंशत्  
 ४९ । जनपञ्चाशत्  
 ५० । पञ्चाशत्  
 ५१ । एकपञ्चाशत्  
 ५२ । द्वि (द्वा) पञ्चाशत्  
 ५३ । त्रि (त्रेयः) पञ्चाशत्  
 ५४ । चतुःपञ्चाशत्  
 ५५ । पञ्चपञ्चाशत्  
 ५६ । षट्पञ्चाशत्  
 ५७ । सप्तपञ्चाशत्  
 ५८ । अष्टपञ्चाशत्  
 ५९ । जनषष्टिः  
 ६० । षष्टिः  
 ६१ । एकषष्टिः  
 ६२ । द्वि (द्वा) षष्टिः

६३ । त्रि (त्रयः) षष्टिः  
 ६४ । चतुःषष्टिः  
 ६५ । पञ्चषष्टिः  
 ६६ । षट्षष्टिः  
 ६७ । सप्तषष्टिः  
 ६८ । अष्ट (अष्टा) षष्टिः  
 ६९ । जनसप्ततिः  
 ७० । सप्ततिः  
 ७१ । एकसप्ततिः  
 ७२ । द्वि (द्वा) सप्ततिः  
 ७३ । त्रि (त्रयः) सप्ततिः  
 ७४ । चतुःसप्ततिः  
 ७५ । पञ्चसप्ततिः  
 ७६ । षट्सप्ततिः  
 ७७ । सप्तसप्ततिः  
 ७८ । अष्ट (अष्टा) सप्ततिः  
 ७९ । जनाशीतिः  
 ८० । अशीतिः  
 ८१ । एकाशीतिः  
 ८२ । द्वाशीतिः  
 ८३ । त्र्यशीतिः  
 ८४ । चतुरशीतिः



|                         |                         |
|-------------------------|-------------------------|
| ८५ । पञ्चाशीतिः         | ८७ । सप्तनवतिः          |
| ८६ । षड्शीतिः           | ८८ । अष्ट (अष्टा) नवतिः |
| ८७ । सप्ताशीतिः         | ८९ नवनवतिः, वा जनशतम्   |
| ८८ । अष्टाशीतिः         | १०० । एकशतं, वा शतम्    |
| ८९ । जननवतिः            | १०१ । एकाधिकशतम्        |
| ९० । नवतिः              | १०२ । द्वाधिकशतमित्यादि |
| ९१ । एकनवतिः            | १,००० । सहस्रम्         |
| ९२ । द्वि (द्वा) नवतिः  | १०,००० । अयुतम्         |
| ९३ । त्रि (त्रयः) नवतिः | १००,००० । लक्षम्        |
| ९४ । चतुर्नवतिः         | १,०००,००० । निर्युतम्   |
| ९५ । पञ्चनवतिः          | १०,०००,००० । कोटिः      |
| ९६ । षष्ठनवतिः          | इत्यादि उक्तञ्च—        |

यथोत्तरं दशगुणं भवेदेको दशामुतः ।

शतं सहस्रमयुतं लक्ष-प्रयुत-कोटयः ॥

अर्बुदमलं खर्व्वञ्च निखर्व्वञ्च महाभुजम् ।

शङ्खो वार्द्धिरन्तरं मध्वं पराद्धर्द्धञ्चेति नामतः ॥ \*

\* एक, दशन् (पुं) दश दशेशत (स्त्री) दश शते सहस्र (स्त्री), दश सहस्रे अयुत (स्त्री), दश अयुते लक्ष (स्त्री), दशलक्षे कोटि (स्त्री), दश कोटिते अर्बुद (स्त्री), दश अर्बुदे पञ्च (स्त्री), दशपञ्चे खर्व्व (स्त्री), दश खर्व्वे निखर्व्व (स्त्री), दश निखर्व्वे महापञ्च (स्त्री), दश महापञ्चे शङ्ख (पुं),

दश शङ्खे सागर (पु'), दश सागरे अन्तर (क्षी), दश अन्तरे मध्या (क्षी), दश मध्ये परार्ध (क्षी) ।

## संख्यावाचकशब्दाणां व्यवहारविधिः

एकशब्दादारभ्य 'अष्टादशन्' शब्दपर्यन्तसंख्यावाचकशब्दाः विशेषणानि—

एकः—एको वृक्षः, एका लता, एकं फलं ।

द्वि—द्वौ हस्तौ, द्वे बालिके, द्वे फले ।

त्रि—त्रयो मानवाः, तिस्रः कन्याः, त्रीणि भूवनानि ।

चत्वार—चत्वारो वेदाः, चतुस्रो युवतयः, चत्वारि कुसुमानि ।

पञ्चन्—पञ्च नराः, पञ्च नार्यः, पञ्च भूतानि ।

षष्—षट् ऋतवः । सप्त समुद्राः । अष्टौ वसवः । नव ग्रहाः ।

दश दिशः । एकादश रुद्राः । द्वादश आदित्याः इत्यादि ।

विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः ।

संख्यार्थे द्विवृत्तेस्तस्मात् चानचते स्त्रियः ॥

विंशतिप्रभृतयः संख्यावाचकशब्दाः स्त्रीलिङ्गैकवचनरूपाः ।

ता हि संख्येयाः (विशेषणानि) संख्याः (विशेष्याणि) च भवन्ति ॥

शत-सहस्रप्रभृतयः शब्दाः स्त्रीवलिङ्गाति, कोटिशब्दस्तु स्त्रीलिङ्गम् ।

विशेष्याणि यथा—विंशतिश्चात्राः पठन्ति । त्रिंशत् स्त्रियः गच्छन्ति । चत्वारिंशत् फलानि वृक्षात् पतितानि । शतम् आश्वः । सहस्रं मुद्राः । विंशत्या अश्वैः ।



|             |            |            |
|-------------|------------|------------|
| षोडशन्      | षोडशः      | षोडशी      |
| सप्तदशन्    | सप्तदशः    | सप्तदशी    |
| अष्टादशन्   | अष्टादशः   | अष्टादशी   |
| ऊनविंशति    | ऊनविंशः    | ऊनविंशो    |
| विंशति      | विंशः      | विंशी      |
| एकविंशति    | एकविंशः    | एकविंशती   |
| त्रिंशत्    | त्रिंशः    | त्रिंशी    |
| चत्वारिंशत् | चत्वारिंशः | चत्वारिंशी |
| पञ्चाशत्    | पञ्चाशः    | पञ्चाशी    |

इत्यादि ।

विंशतिप्रभृतिशब्दानां पूरणार्थे<sup>१</sup> तमप्रत्ययोऽपि स्यात् ।  
 यथाः—विंशतितमः, त्रिंशत्तमः, चत्वारिंशत्तमः, पञ्चाशत्तमः,  
 षष्ठितमः, सप्ततितमः, अशीतितमः, नवतितमः, शततमः,  
 सहस्रतमः इत्यादि ।

सकृत् (अव्यय) एकवारम्, द्विः, द्विवारम् । त्रिः, त्रिवारम् ।  
 चतुः, चतुर्वारम् । पञ्चकृत्वः, षट्कृत्वः, इत्यादि । एवं एकधा,  
 द्विधा, त्रिधा, चतुर्धा, पञ्चधा, षोड्धा, सप्तधा, इत्यादि ।

द्वयस्, द्रष्टृप्रत्ययेन च कतिशब्दानां रूपाणि

द्वयस्

द्वष्ट

प्रशस्य श्रेयान् ज्ञायान्,

श्रेष्ठः जेष्ठः

वृद्ध, ज्ञायान् वर्षीयान्,

ज्येष्ठः वर्ण्यः

आन्तिक, नेदीयान् .  
 वाङ्, माधीयान्  
 स्थूल, स्थवीयान्  
 दूर, दवीयान्  
 युवन, यवीयान्, कनियान्,  
 ऋस्व, ऋस्वीयान्  
 निप्र, क्षेपोयान्  
 क्षुद्र, क्षेदीन्  
 प्रिग्र, प्रेयान्  
 स्थिर, स्थेयान्  
 उरु, वरीयान्  
 बहुल, वंहीयान्  
 गुरु, गरीयान्  
 तृप, तृपीयान्  
 दीर्घ, द्राघीयान्  
 वृन्दारक, वृन्दीयान्  
 बहु, भूयान्  
 अल्प, कनीयान्, अल्पीयान्  
 दृढ, द्रढीयान्  
 क्षम, क्षमीयान्  
 पृथु, प्रथीयान्

नेदिष्ठः  
 साविष्ठः  
 स्थविष्ठः  
 दविष्ठः  
 यविष्ठः, कनिष्ठः  
 हसिष्ठः  
 क्षेपिष्ठः  
 क्षोदिष्ठः  
 प्रेष्ठः  
 स्थेष्ठः  
 वरीष्ठः  
 वंहिष्ठः  
 गविष्ठः  
 तृपिष्ठः  
 द्राविष्ठः  
 वृन्दिष्ठः  
 भूयिष्ठः  
 कनिष्ठः, अल्पिष्ठः  
 द्रढिष्ठः  
 क्षशिष्ठः  
 प्रथिष्ठः

इत्यादि

## उपमानोपमेयव्यवस्था

‘विभक्तिः पुनरेकस्यादुपमानोपमेययोः ।’

येन सह तुल्यति तदुपमानम् । यस्य च तुलना स उपमेयः ।  
उपमानोपमेययोः एका विभक्तिः । लिङ्गवचनयोर्नास्ति तन्त्रत  
यथा—चन्द्र इव मनोरमं शिशुमुखम् । अत्र ‘चन्द्रः’ उपमान  
‘शिशुमुख’ उपमेयः । अत्र समाना विभक्तिः, किन्तु ‘मुख’ क्लीब  
लिङ्गं ‘चन्द्र’सु पुलिङ्गशब्दः । मेघ इव श्यामः । लतया इव  
कीमलेन हस्तेन । पितुरिव शिञ्जकात् उपदेश लभते इत्यादि

## रचनानिबन्धनोपक्रमः

( शिञ्जार्थिनामुपदेशाय प्रसङ्गत इदानीं काव्यस्वरूपाणि तेषा-  
भेदाश्च निरूप्यन्ते । ) तत्रादौ काव्यमाह—

काव्यं हि यशसेऽर्थाय शिवेतरनिवृत्तये ।

कान्तावदुपदेशाय परनिवृत्तये क्षणात् ॥

## काव्यस्य भेदाः—

सालङ्कारगुणौ काव्यं शब्दाद्यौ दोषवर्जितौ ।

तथा कवीनां समयानुरोधेन निबन्धितम् ॥

ईदृशं द्विविधं काव्यं आव्यदृश्यावभेदतः ।

आव्यन्तु त्रिविधं ज्ञेयं गद्यपद्योभयात्मना ॥

आपादः पदसंघातो गद्यः, पद्यं चतुष्पदम् ।

गद्यपद्यात्मकं काव्यं चम्पूरित्युभयोर्धनम् ॥

दृश्यकाव्यानां दशभेदा यथा हि :—

दृश्यन्तु दशधा प्रोक्तं नाटकादिविभेदतः ।  
 सर्व्वध्वनिगुनीभूतव्यङ्ग्यं चित्रमिति त्रिधा ॥  
 वाच्यातिशायि व्यङ्ग्यं यत् काव्यं ध्वनिरितीर्य्यते ।  
 काव्यन्तु कथितं व्यङ्ग्ये वाच्यादनतिशायिनि ॥  
 गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति स्याद्व्यङ्ग्यस्याप्रधानतः ।  
 अव्यङ्ग्यमपि यच्चारु तत् काव्यं चित्रमिष्यते ॥

शब्दार्थादिभेदेन चित्रकाव्यं त्रिविधं यथा :—

शब्दचित्र चार्थचित्रमुभयं चेति तत् त्रिधा ॥  
 शरीरं तस्य शब्दार्थौ जीवितं व्यङ्ग्यवैभवम् ।  
 हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥  
 शौर्यादय इव प्रोक्ताः श्लेषकान्तगादयो गुणाः ।  
 आत्मोत्कर्षावहास्तत्र स्वभावा इव रीतयः ॥  
 शोभामाहार्य्यकौ प्राप्ता वृत्तयो वृत्तयो यथा ।  
 पदानुगुण्यविश्रान्तिः शय्या शय्येव संमता ॥  
 रसास्वादप्रभेदाः स्युः पाकाः पाका इव स्थिताः ।  
 प्रख्याता लोकवदियं सामग्री काव्यसंस्पदः ॥

महाकाव्योपकाव्यभेदेन तद्विविधमाह—

महाकाव्यं चोपकाव्यमिति तद्विविधं पुनः ॥  
 नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।  
 मन्त्रद्रुतप्रयाणादिनयाकाव्युदयैरपि ॥

एतैरुपनिबद्धं यत् तन्महाकाव्यमिष्यते ।  
 एषामष्टादशानां यैः कैश्चिन्नूपनमपीष्यते ॥  
 सर्गबन्धो महाकाव्यमिति केचित् प्रचक्षते ।  
 असर्गबन्धमपि च महाकाव्यमितीष्यते ॥

### उपकाव्यम्

गीततालानुबद्धं यदुपकाव्यमितीर्यते ।  
 उपकाव्यन्तु बहुधा वक्ष्ये तानि च कानिचित् ॥

### तत्ताख्यायिकाः—

कविचारित्रसहितं नरपालकथान्वितम् ।  
 विचित्रवर्णरचनासमासैस्तु मनोहरम् ॥  
 उच्छ्वासान्ते वक्तव्यतं रचितापरवक्तव्यम् ।  
 उच्छ्वासादौ सपर्याङ्गमिदमाख्यायिकाभिदम् ॥

### कथा :—

श्लोकैः स्ववंशं संखेपात् कविर्यत्र प्रशंसति ।  
 मुख्यार्थस्यावताराय भवेत्तत्र कथान्तरम् ॥  
 परिच्छेदे न यत्र स्याद् भवेत् त्वालम्भकः कश्चित् ।  
 सा कथा नाम तदुगर्भे निवध्नीयाच्चतुष्पदीम् ॥

### उदाहरणम्

येन केनापि तालेन गद्यपद्यसमन्वितम् ।  
 जयेतुप्रक्रमं मालिन्यादिप्रासविचित्रितम् ।  
 तदुदाहरणं नाम्ना विभक्ताष्टाङ्गसंयुतम् ॥



चक्रवालकम्—

संबोधनविभक्त्या यत्प्रचरं गद्यपूर्वकम् ।

विमुक्तं पुनराक्षुष्टशब्दं स्याच्चक्रवालकम् ॥

भोगावली :—

आद्यन्नपद्यमंयुक्ता संस्कृतप्राकृतात्मिका ।

अष्टभिर्वा चतुर्भिर्वा वाक्यैः स्कन्धसमन्विता ।

प्रतिस्कन्दं भिन्नवाक्यरीतिर्हेव नृपोचिता ।

सर्वतो देवशब्दादिरेष भोगावली मता ॥

विरुदावली :—

वर्ण्यमानाङ्गविरुदवर्णनप्रचुरेज्ज्वला ।

वाक्याङ्गम्बरसंयुक्ता कथिता विरुदावली ॥

तारावली :—

ताराणां संख्यया पदैर्युक्ता तारावली मता ॥

विश्वावली :—

विश्लेषां संख्यया पदैर्युक्तो विश्वोदयो मतः ॥

रत्नावली :—

रत्नानां संख्यया पदैर्युक्ता रत्नावली मता ॥

पञ्चाननावली :—

पदैश्च पञ्चभिर्युक्ता प्रोक्ता पञ्चाननावली ॥

### रचनामपेक्षानामालम्ब्याह :—

आख्यायिकायां शृङ्गारिऽपुङ्गवता रचना मता ।  
कथायां नाटकादौ च न रौद्रेऽप्यधिकोद्धताः ॥  
अनेषु च प्रभेदेषु रचना स्यादयश्चोचितम् ॥

### रचनासु वर्णनीयविषयाः—

नेतारमधिकृत्याह—

अथात्र वर्णप्रवर्णानि प्रबन्धेषु ब्रुवे स्फुटम् ।  
वर्णो मुख्यतया नेता लोकोत्तरगुणोत्तरः ॥  
तेन कर्तुः प्रबन्धस्य प्रतिष्ठा महती भवेत् ।  
कुलाचारयशः शौर्यत्यागशीलादिवर्णनम् ॥  
क्रियते नायकमैत्रव यत् तदेवातिसम्मतम् ।  
अथ वा तद्विरुद्धस्य वर्णयित्वा बहून् गुणान् ॥  
तज्जयान्नयकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित् ।  
घटते नेतरि द्वेधा स्वतःसिद्धेन कल्पिते ॥

### नृपवर्णनीयविषयाः—

नृपे कीर्त्तिप्रजारामप्रतापाज्ञानयक्षमाः ।  
विवेकारिपुरीदाहधर्मसंग्रामपूर्वकाः ॥

अन्यच्च कविकल्पप्रतायाम्—

नृपे कीर्त्तिप्रतापाज्ञा दुष्टशस्तिविवेकिताः ।  
धर्मप्रदान-संग्राम-गणनाभ्यामनयक्षमा ॥

प्रजारागोऽरिशैलादिवासोऽरिपुरशून्यता ।

औदार्यधैर्यगाम्भीर्यैश्वर्यशौर्योद्यमादयः ॥ क ॥

कुमारवर्णने :—

कुमारे खुरलीशस्त्रवलशास्त्रकलादयः ॥

कविकल्पलनायामिऽतोधिकविषयो यथा:—

कुमारे शस्त्रशास्त्रश्री-कला-वल-गुणीच्छयाः ।

ब्राह्मलो खरलो राजभक्तिः सुभगतोदयः ॥ ख ॥

राजसहिषीवर्णने :—

सहिष्यां रूपलावण्यत्रपाशृङ्गारमन्मथाः ।

चातुर्यप्रेमदाक्षिण्यशीलमानसुखादयः ॥ ग ॥

अन्यत्र च—

देव्यां सौभाग्य-लावण्य-शील-शृङ्गार-मन्मथाः ।

त्रपा-चातुर्य-दाक्षिण्य-प्रेम-मान-व्रतादयः ॥

वेणीधम्मिल्ल-सौमन्त-भाल-श्रवण नासिकाः ।

कर्प लाधार-नेत्र-भ्रू-कटाक्ष-रद-कन्धराः ॥

गण्डवाहु-करोरोज-नाभि-मध्य-वलित्रयम् ।

रोमाणि श्रोणि-जङ्घोर्-पादयुग्मनखक्रमाः ॥ घ ॥

( क ) अरोणा शत्रूणां शैला, पर्वतरूपगिरयः, तेषु वासः, पराक्रमेण ताना-  
नीत्य स्वाग्रत्त्वोक्त्य च तत्र खललानाञ्चावग्यानम् ।

( ख ) ब्राह्मणो हयाधारो हणपाटव, खुरली शराभ्यासः ।

( ग ) शृङ्गार श्रनङ्गारादिना कृतवेशः ।

( घ ) धम्मिल्ल मयतकेशपात्र “स्त्रीपात्र” इति भाषा । रदा दन्ता कन्धर-  
पीवा उरमि वक्षे चात उगीज स्तनः ।

### मन्त्रिवर्णने :—

मन्त्री भक्तः स्वदेशीयोऽनुद्धतो बुद्धिः, जमी ।  
आन्वीक्षिकादिकुशलः परिच्छेदो रुदेशजः ॥ ड ॥

### सेनापतिवर्णने :—

सेनापतिर्जितायामः स्वामिभक्तः सुधोरभौः ।  
अभ्यासो वाहने शस्त्रे शास्त्रे च विजयी रणे ॥

### पुरीवर्णने :—

पुर्व्यां प्रसादपरिखातोरणाध्वप्रपाधुजाः ॥  
वमाऽऽसुराम-कुलटा-वेश्या-वापी-सती-त्वरी ॥ च ॥

### देशवर्णने :—

देशे रत्नचुनि-द्रव्य-पण्य-धान्याकरोद्भवाः ।  
दुर्ग-ग्राम जनाधिक्य-नदीमातृकतादयः ॥ छ ॥

( ड ) आन्वीक्षिकी अनु वेदव्यवधानन्तरगीता परीक्षणमन्त्रिणा सा प्रयोजन-  
मया इति डीप्, तर्काध्यात्मविद्या । तथाहामर —“आन्वीक्षिकी दण्डीतिरुक्त-  
विद्यार्थशास्त्रयो.” इति । परिच्छेदो विशेषरूपेण्यत्ताकरणिक ।

( च ) वप्रं दुर्गनगरादीनां परिखायां चतुर्तमस्तिकात्पू., अथवा प्राचीरः । अष्ट  
प्रसादस्योपरिगृहम् । प्राचीरोपरि गृहस्थसैन्यगृहं वा, तत्र स्थिता नरा अन्यान्  
हीनतया नाद्रियन्ते, तस्मिन् सति च अन्योत्कर्षेणादरः अष्ट इति । आरामः प्रौढार्थ-  
वनम्, कुलटा असती, इत्वरी अभिसारिका कुलटोत्तर्यः ।

( छ ) नदी मातेव पोषिकासेति नदीजलसम्पन्नरीहिपाण्डितो देशः । नदी-  
मातृकः आदिशब्देन धनिश्रीवियनृपदेवानां परिग्रहः, एतै रन्वितो देशः प्रशस्त्यै चाण-  
कीन तथा हि—“धनिनः श्रीवियो राजा नदी दैव्यस्तु पञ्चकः । एते यत्र न विद्यन्ते  
तत्र वास न कारयेत् ॥” इति ।

ग्रामवर्णने :—

ग्रामे धान्य-लता-वृक्ष-सरसौ-पशुपुष्टयः ।

क्षेत्रारघट-केदार-ग्रामेयी-सुखविचित्रमाः ॥ ज ॥

सरोवर्णने :—

सरस्यभोलहृदयम्भो गजाद्यस्व ज-पट्पदाः ।

हंसचक्रादयस्तीरोद्यान-स्त्रौपास्यकेलयः ॥

अद्विवर्णने :—

अद्वौ होपाद्रि-रत्नोन्मि-पोत-यादोजलप्लावाः ।

विणुः कुल्यागमश्चन्द्राद्वृद्धिरौर्वाऽन्दपूरणम् ॥ झ ॥

नदीवर्णने :—

सवित्यस्व धियायित्वं वीच्यो जलगजादयः ।

पद्मानि षट्पदा हंसचक्राद्याः कूलशाखिनः ॥ ज ॥

( ज ) पशूना प्रधानतो गवाश्चादीना पुष्टिः परिपोषण येषु ते पशुपुष्टयः कृषीवला इत्यर्थः । 'अरघट' अर शीघ्रं चक्यते चाख्यते असौ इति कूपोपरि जलोत्तलनकाष्ठं यन्म वा । ग्रामेयी ग्रामवासी, ग्रामलक्षणमाह—“विप्राश्च विप्रभृत्याश्च यव चैव वसन्ति हि । स तु ग्राम इति प्रोक्त यद्वाणा वास एव वा ॥” अग्नि च—“तथा यद्भजनप्राया सुसम्पदकृषोवला, क्षेत्रोपयोगभूमर्ष्य वसति ग्रामसंज्ञिका ॥” किञ्च—“यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽस्यैकौभूता वसन्ति हि ॥” इति ।

( झ ) जले प्रवते भाषते इति जलप्रवः भेला नान तरणीविशेषः । विणुः—“यस्मात् विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः । तस्मादेवोच्यते विणुर्विश्वधातो प्रवेशनात् ॥” इत्युक्तलक्षणवतौ विणो शेषाद्विशयनलम् । कुल्यागमः कुल्या तटिनी तस्या आगमः समुद्रोपस्थितिः । चन्द्रात् हृदिः चन्द्रसम्पर्केण पर्वणि जलोच्छ्रासः । और्वौ वाडवानलः “और्वौ संवर्तकोऽद्भ्यग्निरौर्वो वाडवामुखः” इति हैमः । आपः जलानि ददातीति अन्दाः मेघाः तेषा पूरणम् ।

( ज ) अल धिं समुद्रं याति गच्छतीति अन्व धियायी तस्य भवः अन्व धि-

उद्यानवर्णने: —

उद्याने फल-पुष्पद्रु-लता क्रीडा-सरोऽद्वयः ।

पिकालिकेति हरिणहंसचक्रध्वजादयः ॥

पर्वतवर्णने :—

पर्वतेऽन्नीषयौशुद्ध-वन-किंनर-निर्जम्बराः ।

धातु-वंश-गुह्यारत्नाधित्यकोऽपत्यकादयः ॥ ट ॥

वनवर्णने :—

वने सपे-वराहेभोलूकभिल्लदवादयः ।

शुक-काको वायोताद्यास्तत्र सिंहादयो द्रुमाः ॥ ठ ॥

आश्रमवर्णने :—

आश्रमेऽतिथिपूजैणविज्ञासो हिंस्त्रशान्तता ।

यन्नधूमो मुनिसुता द्रुसेको वल्कलद्रुमाः ॥ ड ॥

याधितम् । कुलशास्त्रिन कुलहृत्वा प्रसिद्धस्तटान्तर्वर्त्तिभन्नातकादयो महीरुहा ।

( ट ) धातुः पर्वतोद्भव. इत्यर्थ, तथाहि—“सुवर्णरूप्यतामाणि हरिताल मन शिना । गैरिकाञ्जनकाम्रीससीसलीला सद्भिर्दुला । गन्धकाशकनित्याद्या धातवो गिरिसम्भवा ॥” इति । अधित्यका पर्वतोपरिस्थभूमि । तत् सन्निहितोद्भूमिर्वा । तथाहि भद्रो—“समुद्रोपत्यजा हैमो पर्वताधित्यका पुरी” इति । उपत्यका पर्वत-कासन्ना भूमि ।

( उ ) इम हस्ती । उलूक पेचक, तथाहि भावने, “—उलूक कौशिक, पेच काजमरुनिशाचर.” इति । भिल्ल, स्त्रेच्छजातिभेद । द्रु वनवर्जि, यदाह कात्या-यन —“द्रुो वनगतो वल्लिर्द्वावय वनमुच्यते” इति ।

( ड ) एण हरिण, ‘एण, कुण्डयोऽरिण्य स्यादृग्यारुणोचने’ इति विकारऽगोप । तस्य विश्वास आश्रमिजने प्रत्यय । हिंस्त्रशान्तता द्विसन्नन्ता शान्तता रावणव्यनम् ।

मन्त्रवर्णने :—

मन्त्रे स्थैर्योपायमिच्छिषड्गुणोदयचिन्तनम् ।  
पञ्चाङ्गशक्तिसौन्दर्यनिर्जनस्थानपूर्वकाः ॥ ठ ॥

द्रुतवर्णने :—

द्रुतेऽदाक्षिण्यभीरुत्वं शत्रुक्षोभकारी क्रिया ।  
स्वस्त्राभिविक्रमौन्नत्यवाक्यघाष्टादयो मताः ॥

रणावर्णने :—

रणे खड्गग्रजस्तूर्य-शरवृष्टि-पलाद्रयः ।  
छिन्नच्छत्र-ध्वजा रक्तनदी-कीलाहलादयः ॥

कविकल्पशतायां किञ्चिद्विशेषो यथा—

युद्धे तु वर्त्मवलचार-रजांसि,  
तूर्य-निखाननादशरमण्डप रक्तनद्यः ।  
छिन्नातपत्ररथचामरकेतुकुम्भिसुक्ताः,  
सुराहतभटाः सुरपुष्पवृष्टिः ॥ ए ॥

( ठ ) सन्धादयो राशः षड्गुणाः तदुदयानां तदभुगदयानं चिन्तनं परि-  
भाषन 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः प्रभावीत्-  
साहसजजा' इत्यामर । उक्तञ्च कानदत्तायि—'स्त्रास्यमाता खराष्ट्रश्च दुर्ग कोषो  
वज्र सुहृत् । परस्परौपकारित्वात् सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोशो-  
दण्डश्च पञ्चम । एता प्रकृत्यस्तजज्ञैर्विजिगीषोरुदाहृता ॥ एता पञ्च तथा मित्रं  
सप्तमं प्रविशोपति । सप्तप्रकृतिका राज्यमित्युवाच ब्रह्मस्यतिः ॥' इति तिस्रः शक्तयः  
तदुक्तम्—'विक्रमवलसुत्साहशक्तिः' । इति ।

( ए ) तूर्यनिखान तूर्यनादः । नाद शब्दः । शरमण्डपः शरैः बाणैः  
निर्मितमण्डपः । केतु पताका । कुम्भो गज । रूपके रक्तनदीपदे कुम्भो नक्रः ।  
छिन्नातपत्रादयः सुक्ताः रक्तनदी विचरणशोला इत्यर्थः । सुराहतभटा सुरैः वतीयः सै  
आहताः आच्छादिता आक्रान्ता भटा योद्धार, "भटा योधासो योद्धार" इत्यामर ।

प्रयाणवर्णने :—

प्रयाणे मेरिनिखान-भूकम्प-वलधूलयः ।  
करभोक्षध्वजच्छत्र-वणिक-शकटवेशराः ॥

अश्ववर्णने :—

अश्वे वेगित्वसौमन्यं तेजः सज्जक्षणस्थितिः ।  
सुरोत्खातरजोरूपं जातिर्गतिविचित्रता ॥

गजवर्णने :—

गजे तु कर्णचापल्यमुच्चैर् वृहभेदिता ।  
सिन्दूरचित्रयोधित्वकुम्भमुक्ताफलादयः ॥

मृगयावर्णने :—

मृगयायां श्वसश्चारो वागुरा नीलवेशता ।  
भट्टढक्ता मृगलाभः सिंहयुद्धं त्वरागतिः ॥ त ॥

सुरापाने :—

सुरापाने गतिवचःस्खलनं नयश्मसः ।  
लज्जामानच्युतिश्चित्तभ्रमरक्ताक्षतादयः ॥

सूर्योद्दिव्यवर्णने :—

सूर्योत्थिता रविमणिचक्राभ्वजपथिकलोचनप्रौतिः ।  
तारेन्दुदोषकौप्रधि-द्रुक्कतमश्वैरकुसुदकुलटात्तिः ॥ अ ॥

(त) वागुरा मृगनन्धनजालं “वागुरा मृगवन्धनो” इत्यमरः । (घ) द्रुक् द्रुक् पथिकः ।



## चन्द्रोदयवर्णनेः—

चन्द्रोदये तु विरहि-चक्राङ्ग-कुत्तटाचयः ।

अङ्घ्रि-दम्पति-चन्द्राक्ष-चकोरप्रीतिपूर्वकाः ॥ ८ ॥

## वसन्तवर्णनेः—

वसन्ते पिकगानाभ्रमञ्जरोमन्दमातृताः ।

पुष्पानि द्रुदलोद्भूत-पद्माश्रमप्ररादयः ॥

## ग्रीष्मवर्णनेः—

पाटल-मल्ली-तापसरः पथिकश्रेष्ठाश्चक्रलभाकाः ।

मृगतृष्णाख्यतमीरः कान्ता पानीयशालिका मुख्याः ॥

## वर्षावर्णनेः—

वर्षासु मेघ-हलि-केतक निम्नगानां

भञ्जानिलस्य शिखि-जाति-कदम्बकानाम् ।

प्रीतिश्च हंसगमनं नलिनीलतानां

पत्रोद्भवोऽर्कलतिकाटलपातनादयः ॥

## शरद्वर्णनेः—

शरदि सूर्य-सुधाकर-पाटवं विमलाश्रयि हंस-वृष-स्मयाः ।

कमल-शरद-सेकतविस्तृतिः सुशिखिपक्ष्मदापगमादयः ॥ ९ ॥

(८) चक्रः वाक नाम पक्षिविशेषः । स तु रात्रौ दधिता विहाय सरसन्तीरान्तरे अन्यत्र वा निवसतीति प्रसिद्धिः ।

(९) अयः गर्वः तथा हि हैमे—“दयोऽभिमानो समता मानश्चितीव्रति अयः” इति ऋसव्याया अयः यथेच्छनर्दं न कुद् नमित्यर्थः ।

### हेमन्तवर्णने :—

हेमन्ते रजनादैर्घ्यं नलिनौकुसुमचतिः ।

दिनाल्पत्वं हिमप्रोद्धि-शकानन्द्यवोद्भवाः ॥

### शिशिरवर्णने :—

शिशिरे वैशुकुन्दाजटाहः शिखिरतोत्सवाः ॥

कविकल्पयतायामन्यरूपं यथा—

शिशिरे करौषधूम कुन्दाम्बुजटाहशिखिरतोत्कर्षाः ॥न॥

### स्वयम्बरवर्णने :—

स्वयम्बरे सतोपूजा-वायघोष-नृपागमाः ।

राजपुत्रा नृपाकारान्वयचैष्टाप्रकाशनम् ॥

### विवाहवर्णने :—

विवाहे मङ्गलस्नानं शूषणं कामिनीरवः ।

वेदीसङ्गीततारैश्चालाजा होमद्विजादयः ॥

### विरहवर्णने :—

विरहे जागरश्वास निशादैर्घ्यक्षशाङ्गता ।

सन्तापचिन्तामालिन्यमौनरक्ताक्षतादयः ॥

अन्यत्र—अलशय्या निशादैर्घ्यं जागरः शिशिरोष्मता ॥ इति

### सुरतवर्णने : —

सुरते खेदकणिका सीत रो रूषणचुप्रतिः ।

मञ्जौर-कङ्कणाराव-नख-द-तच्छतादयः ॥

कविकल्पलतायान्तु सारिका भावाः

कुटुमलाक्षता चेत्यधिकोक्तम् ॥ प ॥

### वनकेलिवर्णने : —

वनकेलौ च कुसुमावचयः कुसुमार्पणम् ।

दयिते गोत्रविभ्रान्तिसपक्षेर्षोक्ति पूर्वकाः ॥

### जलकेलिवर्णने : —

जलकेलौ जलक्षोभचक्रहंसापसर्पणम् ।

पद्मग्लानिःपयोविन्दुदृग्ग्रागो शूषणचुप्रतिः ॥ फ ॥

### वर्णवर्णनीयाः : —

### तत्वादौ श्वेता : —

श्वेतास्तैरावतः शम्भुः कीर्त्तिश्चन्द्रः शरद्वनः ।

प्रासाद-सौध-नगर-मन्दारद्वहिमादयः ॥

सूर्येन्दुकान्त-कर्पूर-सुधांशु-करका हिमम् ।

पिण्डौरोच्चैःश्रवो जोत्न्साशु-रम्भा-भस्म-चन्दनम् ॥

( प ) सीतकारः स्त्रीणां रतिकाले अनु रोगोन्मथव्यतिशयः । सारिकाभावाः शृङ्गारादिवसानुगुणभावभेदाः । कुटुमलाक्षता—कुटुमलं पद्मं तदेव नयनसङ्कोचः ।

फ—दृश्यो रागः दिग्ग्रागः चक्षुषोबोहिलम् ।

निर्मोक्त-हारोर्णनाभ-तत्त्व-सत्त्वास्थि-शर्कराः ।

शेषाश्रक-सुधा-गङ्गा-गजदन्ताम्बु-चामरम् ॥

रत्नागर्भः पुण्डरीक-नृणाल सिकता-बकाः ।

हंस-सिंह-ध्वज-च्छल-केतकीगर्भ-निर्भराः ।

लोभ्र-सुक्ता-पुष्प-तार-चूर्ण-शुक्तिक-दर्पिकाः ॥

कौलाम-काश-कार्पास-हास-हास्योशनः-कृतम् ।

नादः पारदः पुष्प-वसन-स्फटिकादयः ॥ ब ॥

श्यामाः — श्यामास्तु-द्रि-द्रु-कान्तो-वन-भैरव-राक्षसाः ।

शिवकण्ठः शनिः रामः कलि-चन्द्रक-राक्षसः ॥

बादरायण विन्ध्याहि-द्रौपदी कज्जलाङ्गुनाः ।

कान्तो-कोल-यमाः केश-कस्तूरी-यमुना-गजाः ॥

ब—सूर्यं न्दु कान्तेति—सूर्यकान्त-चन्द्रकान्तनखिवर्णनीये, सूर्यसम्पर्कात् यत्राग्नि-  
सम्भव स सूर्यकान्तः । चन्द्रसम्पर्केण चन्द्रकान्तस्य जलक्षवात् तत्कान्तत्वम् । करका  
वर्णोपलः मिलेति भाषा “वर्णोपले तु करका करकोऽपि च दृश्यते” इति रुद्र ।  
पिण्डीर दाडिन’, तथा हि रमसे—“दाडिन्सारपिण्डीरखदन्तशुक्लवल्गुभा” इति ।  
निर्मोक्तः सर्पकञ्चुकः खोलस इति भाषा । ऊर्ध्वेव सूत्र नामौ गर्भे यस्य स ऊर्ण-  
नाभ, लूतातन्तु रित्यर्थः । तस्य भावः, तत्त्व “तत्त्व ब्रह्मणि याथाार्थं” इति कोषः ।  
सत्त्व’ सत्त्वगुणः । शेषः सर्पराजः अनन्त, अश्वक अश्व \*खनिजद्रव्यविशेष । “अश्वक  
स्वच्छपत्रं खमेघाख्यं गिरिजालके” इति हेनः । रत्नागर्भं रत्नायाः कदलगाः गर्भं  
कुचिर्गन्धर्व्यखलमित्यर्थः । केतकीगर्भः केतकीपुष्पमध्यस्थलमित्यर्थः । चूर्णं, ताम्बु-  
चूर्णोपयोगिद्रव्यम् । शुक्तिकः मुक्तोत्पन्नमृमिः क्षिणुक इति भाषा । दर्पिका काम  
वधूः । उशना दैत्यगुरुः । कृत सत्ययुगम् ।

विषाऽकाश-कुहू-पाप-रस-विष्णु-तमोनिशाः ।

मषो-पङ्क-मदाशोधि-ताल-तापिच्छ-कोकिलाः ॥

गोलाङ्गूलास्थ-गुञ्जास्थ-धूम-शृङ्गारवल्लयः ।

केकि-तेजन-बर्हालि-खलचित्त-कनीनिकाः ॥

तिलेन्दोवर-दुष्कीर्त्ति-मुस्ता-नीलौभयानकाः ।

भिन्नच्छाया मृगोनेत्रं शास्त्रं कान्तादृगादयः ॥ भ ॥

नीला :—नीलाः स्रगः श्राद-शैवाल-दूर्वा-वंशाङ्कुराः शुकः ।

बोभत्स-सूर्यतुरगाः वर्णं भरकतादयः ॥ म ॥

भ—द्रुः वृद्धः । कालोयः कालसम्बन्धोयः कृष्णसम्बन्धोयः इत्यर्थः । चन्द्रकः मयूरपुच्छं “समौ चन्द्रकमेवकौ” इत्यमरः । वादरायणः वेदव्यासः । कोलः चरुपं भेला इति ख्यातम् । अथवा कोलः शूकरः “पोविप्रवकयोः कोलः कोलन्तः वदरौफलम्” इति शाश्वतः । कुहूः अमावस्या । तनः तमोगुणः । निशा अन्धकारः । मदः गर्वः । तापिच्छः—तमालः । गोलाङ्गूलं पुच्छं आस्रं सुखम् ।

केकी मयूरः । तेजनः वज्रः शरो वा “विश्वमस्तरतेजनाः । गुन्द्रस्तेजनकः शरः” इति चामरः । वर्हः मयूरपिच्छम् । अलिः भ्रमरः । कनीनिकाः चक्षुषः तारकाः कनीनिका तारकाच्च स्रगत् इति मेदिनी । मुस्ता मुथा इति ख्यातदण्डमूलम् । नीलौ नीलद्रव्यम् । भोन्नच्छायालोभद्रुमानामातपः । कान्तेति कान्ताया स्त्रियः दृक् दर्शनमादिर्येषाम्, आदिशब्देन जम्बुफलस्य तथा खञ्जनकाककृत्याङ्गारादीनां परिग्रहः, अनेकत्र प्रयोगदर्शनात् ।

मृग-शादः पङ्कः । शैवालः जलदण्डं शैवा इति ख्यातः “नील्यां शैवाल-शैवले” इति हेमः



धूसराणि : — धूसराः करुणो धूलि-लूता-काकस्वरादयः ।

सृदङ्गपुट-शाणास्यारघट्टुटिकादयः ॥

अल्पवृत्तास्तथा रङ्ग-गृहगोधिका-कच्छपाः ।

आलवास-महो-कंस-नख-चर्मादयो मताः ।

त्रिकोणा वज्र-शृङ्गाट-शकटा वङ्गिमण्डलम् ॥ ल ॥

कोकः चक्रकोकः । मर्कटः बानर । कर्णिकार सोन्दाइय इति भाषा “द्रुमीत्-पलः कर्णिकारे” इति हेनः । शालिः कलमधान्यम् ।

ल—मरणः कर्णरसः, स च शोकोरवारकः, उक्तञ्च साहित्यदर्पणे—‘इष्ट-नाशनापायविवक्षनाङ्गैः । शापकोशोपतापायैर्ज्वायने कर्णोरसः ॥’ इति । लूता कर्णनाभः साकरसा इति भाषा । सृदङ्गपुटं सृदङ्गस्य पुटमिति षष्ठोऽसमासः । उपर्येधोभवापन्नदृष्टादिकनाशइयेन निर्दिष्टं पात्र पुटम् । शाणं कञ्जपात्राणमथवा यन्त्रादौ ना निकर्षणेन लोच्योत्तरणयत्नं तच्च आलं सुवम् । अरवटं महात्पं तदुपरि निवृज्जतोत्तीर्णयत्नम् । पुटिका चरणयन्त्रि गुन्त्र इति यावत् । असङ्गता—उत्त-कर्तरि क्तः जात इत्यर्थः । अस्या इच्छाः वृत्ताः, तयाहि—गुरुपूजा वृणा शोचं सयमिन्द्रियनिग्रहः । प्रवर्त्तनं हितानाञ्च तत्सर्वं हव-सुच्यते ॥” इति । रङ्ग सोसकः । गृहगोधिका-जेडी ‘कोठा स्त्री कुडानत्वा-च्चात् गृहगोधा गृहालिका” इति साहसङ्गः । आलवासं आलः हरिताश्च एव वासं वज्रम् “आल-पोतन-वालानि” इति हेनः । कंस. श्रीकृष्णमातुङ्ग, अथवा तादृशविशेषजनिततैजसद्रव्यम् । त्रिकोणा त्रिकोटियुक्तं द्रव्यम् अथवा ज्योतिर्भोक्तं जगत् नवम-पञ्चमस्थानम् “त्रिकोणगान् गुरु. पञ्चन” इति ज्योति-षम् । वज्रः अशनिः । शृङ्गाटः उत्तरस्थपर्वतमेदः, अथवा चतुष्पथम् । “तुल्य-शृङ्गाटक-चतुष्पथे” इत्यमरः ।

वक्राः — किंशुक-भाल-स्र-विदुत्-कुहाल-चन्द्रकाः ।

भग्नकङ्कण-बालेन्दु-शुकास्येन्द्रधनुः-फणाः ॥

कटाक्ष-टात्रेभदन्त-पुरोधः करकादयः ॥ व ॥

तौक्ष्णानि :—दुर्वचोवह्नि-कटाक्ष-नखरादयः ।

गुरवः सन्मनः श्रोणि-कपाट-स्तन-बुद्धयः ॥ श ॥

सुखदाः—सुस्रहालक्षिविद्युत्प्रियसङ्गमः ।

दाहस्वातन्त्र्य-पुत्राप्ति-विद्या-सन्तोषसूक्तयः ॥

दुःखदाः—पारतन्त्र्याधि-व्याधि-मानच्युति-हिषः ।

कुभार्याश्लेष-कुग्रामवास-कुस्वामिसेवनम् ॥

कन्यावहुतं वार्द्धक्यं निवासः परवेश्मनि ॥

स्थिराः—स्थिराण्यौ भटः साध्वी धर्माधर्मी सतां मनः ॥

अस्थिराः—अस्थिराः कामिनो-राजप्रसाद-स्वप्न-दुर्जनम् ।

मन्दगाय शनि-ज्ञानि-कान्ता-मातङ्ग-माहिषाः ॥ ष ॥

व—कुहालं भूमिखननसाधनास्त्रम्, कोदाल इति भाषा । चन्द्रक मयूरस्य पचयितवन्दाहतिपदार्थः । “सनी चन्द्रकमेचकौ” इत्यमरः । दातुं छेदसाध्यास्त्रं । इभदन्तः इभ हन्ती तस्य दन्तः । पुरोधः आद्ययज्ञादिकर्मकारयिता । करका वयोपलं गिल इति भाषा ।

श—सन्मनः—मता मनः सन्मनः । श्रोणि नितम्बदेशः ।

५—राजप्रसादः राज्ञः अनुग्रहः । मन्दगा मृदुगमनशीला, बहुवचननिर्देशेन हपहसादीना ग्रहणम्, कविकल्पजताया तेषां ग्रहणात् । कान्ता स्त्री । मातङ्गो गजः ।



क्रूरस्वराः—क्रूरस्वराः काक-वृक-वराहोद्ग्राह्य गद्गद्भाः ॥

वलिष्ठाः—वलिष्ठाः विष्णु-गरुड-सत्प्रतिज्ञा यमादयः ॥ स ॥

सुरुपाः—कृष्ण-नकुल-नलकुवर-मन्गायाः ॥

दुःसहाः—सामतापादि-प्रतापा दुःखचक्षपः ॥

मधुराः—गुर्विद्वद्योक्ति-ज्ञान्तावर-प्रयित्विषः ॥

काव्यरचनायां कवीनां समयनिरूपणम्—

सतोऽपि चानिबन्धः स्यादसतोऽपि निबन्धनम् ।

नियमेन निबन्धश्च विकल्पेन निबन्धनम् ।

एवं कवीनां समयश्चतुर्धा परिकीर्तितः ॥

वस्तुनः सतोऽप्यनिबन्धनं यथा—

प्रयत्ने चन्द्रिकासम्पत् पञ्चगोः शुक्लज्जगद्विषयः ।

वसन्ते मालतोपुष्पं कामिदन्तेषु रक्तता ॥

फलपुष्पे चन्दने च फलज्ज्ञाशोकपादपे ।

दिवा विज्ञातः कुसुमे वर्षाकाले च मल्लिका ॥

न वर्णयेत् सतोऽप्येतां प्रपञ्चेषु कदाचन ॥

असतो वस्तुनो निबन्धनम्—

हंसे कीर्त्तौ च शुभ्रजं दाढ्यं दुःखोर्त्तिपापयोः ।

अञ्जलिग्राह्यता कुम्भपूर्व्यत्वं शशिदीपितेः ॥

न—यमादय इत्यादिशब्देन सप्तमद्विज-सप्तवराह-शरभ-पृथु-हलि-वालि-  
दलि-भीम-प्रभृतीनां परिग्रहः, कविराज्यज्ञताशमेनेवा विनिर्दिष्टात् ।

रत्नानि यत्र तत्ताद्री कमलानि नदीष्वपि ।  
मन्दकिन्धां जलेभादिहंसाः सर्वजलाशये ॥  
ज्योत्स्नापानं चक्षुरागं प्रतापे रत्नतोष्यते ।  
ध्वान्तस्य पुष्टिर्गह्वरं लेपनं सूचिभेद्यता ॥  
विशेषः कोकयो रात्रां रत्नत्वं क्रोधरागयोः ।  
कान्तामध्येऽप्यदृश्यत्वं सलुघ्राणां चतुर्थता ॥

नियमेन निबन्धनम्—

बहुकालस्थितस्यापि शिवचन्द्रस्य बालता ।  
मनुष्या मौलितो वर्णा देवाश्चरणतस्तथा ॥  
भूर्जत्वग्द्विमवत्वेव मलयव्वेव चन्दनम् ।  
रत्नत्वं रत्न-बन्धूदा-विश्वभोज-विवस्वताम् ॥  
क्षणात्वं केय-काशालि-पिवा-क्ताक-पयोसुचाम् ।  
सामान्यशोभां छत्राश्वः पताकापुष्पवाससाम् ॥  
वसन्ते एव वर्णं स्यात् परपुष्टस्य कूजितम् ।  
वर्षाष्वेव मयूराणां रतं नृत्वञ्च वर्णयेत् ॥  
लज्जाकोपायशोनाशरोषाक्रान्दाख्यक्षणाः ।  
रागपाण्डुरता-दैन्य-विषपान-तपोजपाः ॥  
दुःखहोपाधिचार्ग्यज्ञानह्रलोदुग्रीविकाटयः ।  
वर्णनोया जितसैरते पराभवसमुद्भवाः ॥

विकल्पेन निबन्धनम्—

क्षणात्वं हरितत्वं वा कमलासम्पदोर्मितम् ।  
पीतत्वं रक्तता वाग्नी परागे स्वर्णविदुरतोः ॥

दानवासुरदेत्यानामैक्यमेवातिसम्मतम् ।  
 कटाक्षे शौक्ल्यकृष्णत्वे लोभे लोहितपाटलौ ॥  
 चन्द्रे शशमृगौ कामध्वजे मकररोहितौ ।  
 एवं कवीनां समयो दिङ्मात्रं परिकीर्तितः ॥

### दर्पणोक्तकविव्यवहारः —

मालिन्यं व्योम्नि प्रापे यशसि धवलता वर्षप्रते हासकीर्तयः  
 रक्तौ च क्रोधरागौ सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्द्रीवरादि ।  
 तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो  
 ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥  
 पादाघातादशोकं विकशति बकुलं योषितामास्यमदै-  
 र्यूनामङ्गेषु हाराः स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।  
 गौर्वी रोलम्बमाला धनुरथविशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो  
 भिन्नं स्यादस्य वाणे युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥  
 अङ्गभोजं निशायां विकशति कुमुदं चन्द्रिका शृङ्गपक्षे  
 मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।  
 न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-  
 मित्यादुर्नयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥

## सर्वाङ्गवर्णनम्

प्रपदाङ्गुलिगुल्फपाणिं जङ्घाजानूरुवङ्गक्षणम् ।

कटित्विकानितस्वस्फिक्-प्रस्तुपस्थककुन्दरम् ॥ इ ॥

जघनं जठरं नाभि-वन्तिवक्षोजचूचुकम् ।

क्रोडोरोजतु पृष्ठांसकक्षदोः पार्श्वमध्यमम् ॥ छ ॥

प्रगण्डः कूर्परोहस्ताः प्रकोष्ठो मणिवन्धनम् ।

अङ्गुल्यङ्गुष्ठकरभ-नखपर्वचपेटकम् ॥ = ॥

कण्ठः शिरोधरा श्मश्रु-मुखोष्ठचिवुकं हनुः ।

सृक्कतालुरदा जिह्वा नासास्त्रूगण्डलोचनम् ॥ † ॥

इ—प्रपद पादम्यायभागः । अङ्गुलि, चरणम् । गुल्फ पादग्रन्थिः । पाणिं पादग्रन्थिगुल्फस्याधोभागः । जङ्घा गुल्फजान्वोरन्तरालावयव । जानु-उरुवङ्गयो-अध्यभागः । वङ्गक्षणं करुसन्धिः, कुचकी इति भाषा । कटित्विका काञ्ची । नितस्व श्लोका पद्यात् कटितटम् । स्फिक्-कटिदेशस्य नासपिण्डविशेषः “न्निघा स्फिचौ कटिप्रौढौ” इत्यमरः । वन्ति. नामेरधोभागः । मूवाधारो वा । उपस्थ स्त्रीपुंसोर्जन-नेन्द्रियः । ककुन्दरं पृष्ठवशाधस्थगताकारं कृपकः ।

क्ष—वलिः उदरावयवः तथा हि कुमारैः—“वलित्रयं चात्र बभार बाले” इति । वक्षोजः स्तनम् । चूचुकं कुचायम् । क्रोडं अङ्गुलम् । उरु वक्षस्थलम् । जतु—कण्ठस्थोभयपार्श्वस्थिद्वयम् । पृष्ठं पश्चादभागः । अंस—स्तनदेशः । कक्ष—बाहुमूलम् । दोः—वायुः । मध्य—कटिदेशः । प्रगण्डः—कूर्परोपरिकल्पपथ्यन्त-भागः । कूर्परः जानुः । प्रकोष्ठः—आमणिवन्ध कफोषेरधःप्रकोष्ठः । मणिवन्धन—प्रकोष्ठपार्श्वोर्मध्यस्थकारग्रन्थिः ।

=—करभः—मणिवन्धात् कनिष्ठापथ्यन्तं करस्य बाह्यदेशः इत्यर्थः । शिरोधरा—केशः । चिवुकं—ओष्ठाधोभागम् । हनु—कपोजद्वयोपरिस्थमुखभागः ।

†—सृक्क ओष्ठप्रान्तभागम् । रदा. दन्ता ।

अपाङ्गतारकाकर्णभालमस्तकमूर्धजाः ।

यथासम्भवमेतेषु वर्णैः स्त्रीषु संयोर्बुधैः ॥ ३ ॥

### साधारणगुणवर्णनम्

श्रीदार्य-धैर्य-गाम्भीर्य-शीर्य-सौन्दर्य-शक्तयः ।

माधुर्य-स्वर्य-चातुर्य-मर्यादा-क्रौर्य-कीर्तयः ॥

तेजस्वारुण-प्राङ्गुण-सौलक्षण्यरणाशताः ।

ब्रह्मण-दान-दाक्षिण-शील-शौच-सुविशताः ॥

सत्यौन्नत्य-कलाबन्धु-मान्य-भक्ति-कृतज्ञताः ।

दृढप्रतिज्ञता प्रज्ञा श्रद्धा मेघोद्यमः क्षमा ।

दयानयाज्जवाचार-सन्तोषमितभाषिताः ।

विद्या-विवेक-विनयारोग्य-सौभाग्य-वक्तृताः ॥

उत्साहित्व-कुलौनत्य-निर्दोषत्वमहेच्छताः ।

स्वावाधित्वोपकारित्वाभयास्तिक्याविशङ्कताः ॥

प्रसाद-प्रतिभा-धृष्ट्याधिगमप्रत्व-सहायताः ।

श्रीर्माहात्म्यमहारम्भ-निर्दोषत्वादभौषताः ॥

बहुश्रु-स्व-सौजन्य-परिच्छेदाप्रमादिताः ।

जितेन्द्रियत्वागर्वत्व-स्रग्भैकथनादयः ॥

१-अपाङ्गः-चक्षुषः प्राक्तभागः । तारका-नेत्रमध्यस्थकनीनिका, कर्णवर्ण-  
गोलकचिह्नमित्यर्थः । भालं ललाटकम् ।

## येन सह यस्य सादृश्यम्

स्त्रियः उपमानम्—

वेण्याः सर्पामिभृङ्गाख्यः, केशपाशस्य चामरः ॥ अ ॥

नीलकण्ठकलापोऽपि, धम्मिलस्य विधुन्तुदः ॥ आ ॥

सौमन्तस्यापि चाध्वा स्यात्, नलाटस्याष्टमीविधुः ॥ इ ॥

फलकश्च, कपोलस्य चन्द्रमा मुकुरस्यली ॥ ई ॥

भ्रु, वीः खड्गधनुयष्टिरेखापल्लववलयः ॥ उ ॥

दृशोश्चकोरहरिणमदिराखञ्जनोऽम्बुजम् ॥ ज ॥

कुमुदं नीलमभोजं, य ते गृध्रध्वनिग्रहः ॥ ऋ ॥

अ—भृङ्गाख्यः भ्रमरपङ्क्तयः ।

आ—नीलकण्ठः मयूरः, तस्य कलापः पुष्पम् । धम्मिलसः सञ्जतकेशस्य ।  
विधुन्तुदः राहुः ।

इ—सौमन्तस्य केशवीयाः, अध्वा मार्गः, मार्गवक्त्रलं वर्णनीयमित्यर्थः ।  
अष्टमीविधुः अष्टचन्द्रः ।

ई—फलकं चर्ममयान्नप्रतिधातनिवारकम् 'टाल' इति भाषा । मुकुरः दर्पणम् ।

उ—खड्गः कलापः, धनुयष्टिः चापः, रेखा विन्दूपञ्चकृताकाराचिह्नविशेषः ।  
पल्लवः नवीनपत्रम्, वलिः लता, इति इन्द्रः ।

ज—चकोरः प्रसिद्धपक्षिविशेषः । हरिणः मृगः । माद्यते अनया इति  
मदिरा मदालमनयनमित्यर्थः । मृगाकविप्रशब्देषु 'मदिराशतलीवने' इति भूरि-  
प्रयोगदर्शनात् । अथवा मत्तखञ्जनो मदिरा, न चात्र तदर्थं मृगस्य  
मदिराशश्चानन्तरमेव खञ्जनशब्दोपादानात् । खञ्जनः पक्षिविशेषः, तस्य सातिशय-  
चञ्चलत्वादतोपादानम् । अम्बुजं पद्मम् ।

ऋ—गृध्रः खगविशेषः, तस्य ध्वनिग्रहः कर्णः तद्वदित्यर्थः ।

नासावंशस्य वंशाधो सुखतूणीरचञ्चरः ॥ ऋ ॥  
 तिलप्रसूनदण्डौ च, अधरस्य नवपल्लवः—  
 विम्बफलं प्रवालञ्च, दन्तानां मौक्तिकावलिः ॥ लृ ॥  
 कुन्ददाडिम्बवोजानिं हीरकाश्च, ।स्यतस्य तु—  
 ज्योत्स्ना पुष्पाणि पीयूषं, श्यामस्याम्बोजसौरभम् ॥  
 जिह्वायास्त्वञ्चलो दोला वेश्या भृङ्गी पिकीरवः ॥ ए ॥  
 सुधा मधु च वक्तॄन्स्य शशी पङ्कजदर्पणौ ॥  
 कण्ठस्य कम्बुग्रीवांसकुम्भौ, बाह्वोश्च वल्लरी ॥ ऐ ॥  
 मृणाललहरोशाखापाशाः, पाणिपद्मस्य तु—  
 पल्लवोऽम्बुजमङ्गुल्याः पङ्कजो, नखपद्मतेः—

ऋ—वंशाधः ‘वांश’ इति प्रसिद्धवृणजातीयोद्भिदस्य अधः निम्नदेशस्थितस्य  
 वंशङ्कुरस्य तोद्वागवत् सातिमग्नौज्ज्वल्यनीत्रयञ्चेति । एतदनन्तरं तूणीर-  
 सुखोपादानात् तत् सादृश्या एव वंशाङ्कुर इति प्रतीतिश्च । सुखतूणीरं तूणीरस्य  
 सुखमिवेति पूर्वनिपातम् । चञ्चुः खगलुखम् ।

लृ—तिलप्रसूनदण्डौ तिलस्य प्रसूनं पुष्पं तस्य दण्डः अधोदेशः तौ ।  
 प्रवालं रक्तवर्णमणिविशेषः । नवपल्लवार्थोऽस्य न बोद्धव्यः, अन्यवहितपूर्व एव  
 पल्लवपदोपादानात् ।

ए—कुन्दं कुन्दपुष्पम् “कुन्दं वा ना स्मृतं माघ्ये दलकोषो दलाव्यकः”  
 इति व्याडि । अञ्जनं वसनप्रान्तः । दोला उद्यानादिषु क्रोडार्थं तरुशाखोपवृत्ता  
 काठादिमग्नौ दीज्जोतिरस्यता “दोला प्रेङ्ख पुमान् प्रेङ्को निशेषिस्तधिरोद्दिशी”  
 इति रत्नकोषः । भृङ्गी भ्रमरो । पिकीरवः कोकिलवधुश्चन्दः ।

ऐ—कम्बुः शङ्खः तस्य ग्रीवासः गजदेशः । “कम्बुः शङ्खे स्त्रिया पुं सि

रत्नतागप्रसूनानि, स्तनयोः कुड्मलौ घटौ ॥ श्री ॥  
 कुम्भिकुम्भौ गिरी चक्रौ विल्वे, मध्यस्य वेदिका— ॥ श्री ॥  
 सिंहमन्त्राच्च, रोमाञ्चा रेखाश्चैवालवल्लयः ॥  
 नाभिरन्ध्रोजमावत्त'रुदौ विवरकूपकौ ।  
 त्रिवल्या वीचि-सोपान-निःश्रेण्यो, जघनस्य तु—  
 पुलिनं पोठफलको, नितम्बस्य स्थलं पुनः ।  
 ऊर्ध्वो कदलिका-स्तम्भौ मकरः करभस्तथा ॥  
 जङ्घायुगस्य तु स्तम्भौ, गतेर्हंसमतङ्गजौ ।  
 इमान्यन्यान्यपि स्त्रीणामुपमानं यथोचितम् ॥ अ' ॥

शम्भू के बलये गर्ज" इति मेदिनी । वल्लरी लता "वल्लिस्तु व्रतती लता" इत्यमरः ।  
 - श्री - चणाल पद्महन्तम्, लहरी तरङ्गः, शाखाः हञ्जलताः तासां पाशा  
 समृन्ता, 'केशपाश' कर्णपाश' इत्यादिवत् । विकाशोन्मुखपुष्पकलिका कुड्मल  
 तौ "कोरकोऽस्त्री - कुड्मलेऽपि" इति मेदिनी ।

श्री - कुम्भिकुम्भौ कुम्भिनः गजस्य कुम्भः शिरस्थमासपिण्डः तौ "कुम्भर-कुम्भि-  
 पीलवः" इति हेमः । गिरी पर्वतौ । चक्रौ चक्रवाकसदृशौ । वेदिका ऊमरुकाकार-  
 पिण्डिकावती पशुबन्धनार्थं होमोयद्रन्यासादनार्थं या कृतसंस्कारां परिष्कृतां चतुर-  
 खादिरूपा भूमिः । कविव्यवहारो यथा कुमारि - "मध्येन सा वेदिविलयमध्यां" इति ।

अ - रोमावल्याः रोमावल्याः रीच, आवली श्रेणी तस्या । आवत्त'  
 जलपूरः धूर्णीति भाषा । रुद अगाधजलाशय' तौ । विवर डिट', कुबलि  
 मण्डुका अस्मिन्निति कृपक् सञ्जाया कन्, स्वप्रसिद्धजलाधार तौ । त्रिवल्या  
 उदगावयवस्य यथाहि कुमारि - "बलोवय चारु वभार वाला" इति । निश्रेण्या  
 निगता श्रेणी पङ्क्तिरिव, वशनिर्मितसोपानम् ता । जघनस्य रवीणा  
 शोणपुगेभागसा तयाहि - "पीनस्तनजवनाया" इति । पुलिन तोषादुत्थित-



पुंस उपमानम्—

स्कन्धस्य वृषरक्तोक्षस्कन्धा, वाहोरहीश्वरः—

हस्तिहस्तपरिस्तम्भार्गलदण्डाश्च, वक्षसः—

शिलाकपाटौ, यानस्य प्रमत्तोच्चगतिः पुनः ॥ अः ॥

एकैकेनापि धर्मैर्णोपमानं बहुधा भवेत् ।

धर्मा वर्णक्रियाकाराधेया इत्यादयोमताः ॥

अभ्यासः स्याद् विभक्तौनामुपमानोपमेययः ।

उपमावाचकनाञ्च धर्माणाञ्च विपर्ययात् ॥

—(२)—

अथ पद्यादिवन्धाः

मज्जवन्धो यथा :—

राजाभास्या भासमानस्वर्णकर्णस्वपिस्वरा ।

सरापाला पातु लोला सा पिकस्वनमासरा ॥

तटस्थानम् इत्यर्थः । पोटकञ्जके पोटमासनं 'पोट्टे' इति भाषा । फनकं 'डाल' इति  
ख्यातम् । नितम्बस्य स्त्रीणां पथात् कटितटस्थ । जर्वीः जानूपरिभागयोः ।  
मकरः जलजन्तुमेदः । करभः करिशावकः । अङ्गायुगस्य गुल्फजावोरन्तराला-  
वयवस्य । सतङ्गजः हस्तौ ।

अः—वृषः वृषभः, रक्तोक्षा रक्तयुक्तविहायनी वृषः, तयोः स्कन्ध इव स्कन्ध-  
वेशमिति बहुब्रीहिः । रक्तोक्षेयनेन उक्त्वा सातिशयरक्ताधिक्यात् तत्स्कन्धस्य स्थूला-  
तिशयं सूचितम् । रक्तवर्णचोपस्थापनेन तत्पदसा स्वयंकृतानुपपत्तेः । अहीश्वर  
सर्वराज वासुकिः । हस्तिहस्तः करिगुह्यम् । अङ्गदण्डः कपाटावरोधककण्ट-  
दण्डभेदाः । प्रमत्तः सातिशयमदयुक्तः उच्चा युववयः लस्य गतिः ।

कृतबन्धो यथा :—

सालजालवलद्वती भूरिभूते दृगादिते ।

स्रर राज रमा चारुचा मारजरारसा ॥

चामरबन्धो यथा :—

मारसारतरस्कारस्फातिभारं परं सुखरम् ।

सीतानेत्रचकोरेन्द्रु विम्बं वन्दे रमेश्वरम् ।

ओड़शदलपद्म बन्धो यथा :—

क्षतस्नान्तततध्वान्तधूत भूतहितव्रत ।

दान्तशान्तजितप्रेते श्रौतगीतसुतसुत ॥

मईलबन्धो यथा :—

मारसापरसापारामापारापरसापसा ।

मवरापवरामायामामायापवरावरा ॥

रथबन्धो यथा :—

पदाहितगुणा मान्ति यस्य चित्ते कलावतः ।

महिलानन्ददं कान्तं तं भजे सततं हरिम् ।

गोमूत्रिकाबन्धो यथा :—

भजे बाधावरं कुञ्जमुखं भक्तचित्रतम् ।

व्रजे बाधाहरं कुञ्जमुखं व्यक्तशुचिस्मितम् ॥

ससन्धप्राय सर्वसुखदं सुभगास्त्रिकायाः

पादं परत्न शरणं परमेशपीठे ।

श्रीरेवतीद्विजवरो बहुकृच्छ्रसाध्यम्

ग्रन्थं तनोमप्रभिनवं सुकुमारहस्तैः ॥

वेदाग्निरामविधुसंख्यकवङ्गवर्षे

सिंहास्यगे करिणि गौष्मतिधिष्ठिताहे ।

जन्माष्टमीशुभमहोत्सवमध्ययामि

शेषं नयामग्रहमिमं गुरुर्यत्नतश्च ॥

सम्पूर्णां प्रबन्ध-कल्पलतिका ।

